बापू के कदमों में

देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

नया टोला :: पटना

फाल्गुन कृष्ण ११, संवत् २००६

१२ फरवरी, गांधी-श्राद्ध-तिथि, १९५० ई०

मुद्रक
श्रीमणिशंकर लाल
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना

निवेदन

देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसादजी ने 'आत्म-कथा' के बाद यह दूसरी बड़ी पुस्तक लिखी है। इसमें पूज्य बापू के सम्बन्ध मे उनके अपने ससमरण है। संस्मरणों के सिलसिले में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख प्रसंगों का भी वर्णन यथास्थान आता गया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि पूज्य बापू से उन्होंने कब और कहाँ क्या सीखा; भारत और संसार को बापू के प्रयोगमय जीवन से कौन अमर संदेश मिला; देश के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, आर्थिक, व्यावसायिक, नैतिक, आध्यात्मिक और शिक्षा-सम्बन्धी विकास एवं अभ्युदय के लिए बापू ने क्या किया; इन सब बातों का दिग्दर्शन इसमे कराया गया है।

'आत्मकथा' में राष्ट्रीय जागरण की जो बाते सकेत-रूप मे ही लिखी जा सकी थी वे इसमें पल्लवित हो गई है। जिस समय 'आत्मकथा' लिखी गई थी उस समय देश स्वतंत्र नही हुआ था, पर शीघ्र होने ही वाला था। उसके बाद से आजतक की विशिष्ट राजनीतिक बातो का इसमे पूर्ण समावेश हो गया है। इस तरह, केन्द्रीय शासन में देशरत्न के जाने के समय से लेकर उनके राष्ट्रपति होने तक की जितनी उल्लेखनीय घटनाएँ है, सबका इसमें रोचक विवरण मिलेगा। एक प्रकार से यह स्वतंत्र भारत के निर्माणकाल की, और विकासक्रम की भी, सच्ची कहानी है।

देशरत्न की अनूठी-मीठी भाषा जग-जाहिर है। उनकी 'आत्मकथा' की शैली को समस्त हिन्दी-संसार के भाषा-पारखियो ने मुक्त कठ से सराहा था। इस पुस्तक की सुबोध-मधुर भाषा भी सहृदय पाठकों के हृदयङ्गम करने ही योग्य है। इसमे उनकी सहज स्वाभाविक शैली अपने प्रकृत, मौलिक एव अविकल रूप मे ही पाठकों के सामने उपस्थित की जा रही है। चूँकि बापू के सच्चे अनुयायियों मे उनका प्रधान स्थान सर्वमान्य है, इसलिए बापू के जीवन से मिलनेवाले उपदेशों और संदेशों को हम प्रामाणिक और प्रेरणात्मक रूप मे उन्ही से पा सकते है। इस पुस्तक ने उसी अमूल्य और अलभ्य प्राप्य को सुलभ कर दिया है।

पूज्य बापू के सत्य-अहिसा-मार्ग पर सतत आगे बढ़ते हुए अपने जीवन को देशरत्न ने अपनी ही अमर लेखनी से हिन्दी-पाठकों के समक्ष प्रत्यक्ष किया है। कितने सौभाग्य की बात है कि हिन्दी मे एक ऐसी नवजीवन-दायिनी पुस्तक के प्रकाशन का सुअवसर हमें प्राप्त हुआ। हमे आशा तथा पूर्ण विश्वास है कि बापू के अमिट पद-चिह्नों का, जिन्हें देशरत्न की समर्थ लेखनी ने इसमे अङ्कित किया है, अनुसरण कर हमारे देशवासी अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे।

इस पुस्तक को शुद्धता और सुन्दरता से प्रकाशित करने मे राजेन्द्र-कॉलेज (छपरा) के प्रोफेसर शिवपूजन सहाय ने जो सहायता दी तथा जिस परिश्रम और लगन से कापी और प्रूफ का सम्पादन-संशोधन किया, जिससे यह पुस्तक एक पखवारे मे ही इतने स्वच्छ रूप में छप सकी, उसके लिए हम उनको धन्यवाद देते है।

प्रकाशक

राजेन्द्र प्रसाद
२६-७-५०

प्रस्तावना

गंगा की पवित्र धारा अपने प्रवाह से बहती चली जाती है। बीच-बीच में श्रद्धालु लोग उसमें से अपने हित के लिए कुछ-न कुछ जल निकाल लेते हैं। जिसकी जितनी शक्ति होती है वह उतना जल ले सकता है। कोई तो हरिद्वार के पास ही नहर खोदकर के सैकड़ों कोसों तक जल-प्रवाह अलग करके करोड़ों बीघा जमीन को पटाता हुआ जनता-जनार्दन की सेवा में उसे लगाता है। कोई किनारे पर रहता हुआ भी अभागा उसी गंगा के जल से स्नानादि करके अपने को पावन नहीं बना सकता। छोटे-मोटे लोग अपनी शक्ति के अनुसार बड़े घड़े में अथवा छोटी लुटिया में ही उस पवित्र जल को ले सकते हैं। पर गंगा बहती ही चली जाती है और जहाँ-जहाँ उसका प्रवाह पहुँच जाता है वहाँ की धरती उर्वरा और उपजाऊ हो जाती है। महात्मा गांधी-रूपी पावन गंगा में से जिसकी जितनी शक्ति और जिसका जितना पुण्य रहा उसने उतना लिया। यदि मुझे कुछ पाने का बड़ा सौभाग्य नहीं हुआ तो यह मेरा ही दुर्भाग्य है। इन पृष्ठों में अपनी समझ में जो कुछ उनका महत्त्व आया उसे यहाँ दे देने का प्रयत्न किया है।

इसे लिखने का सारा काम बाल्मीकि चौधरी ने बहुत परिश्रम करके किया। इसके लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

नई दिल्ली
२८-१-५०

'बापू के कदमों में'
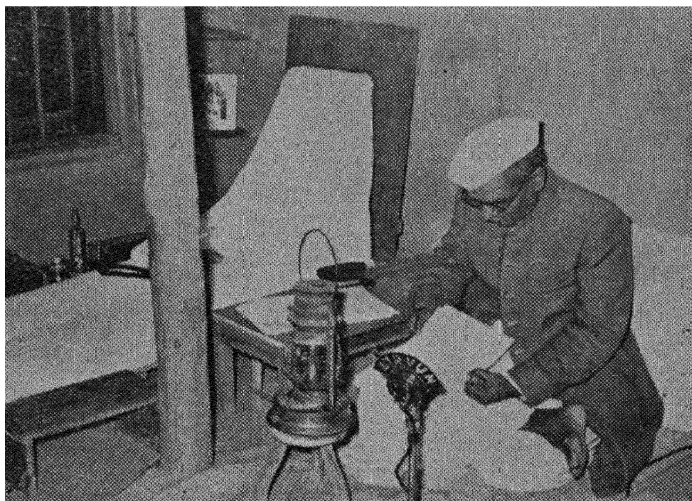
२४ दिसम्बर (१९४९) को, सेवाग्राम में, विश्वशान्ति-परिषद् का उद्घाटन करते समय देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद संसार के लिए शान्ति की अपील कर रहे हैं।

पहला अध्याय

मुझे पहला मौका महात्मा गांधी को देखने का कलकत्ता में मिला। जब वह दक्षिण अफ्रिका से लौटकर हिन्दुस्तान के मख्य-मुख्य स्थानों का दौरा कर रहे थे, कलकत्ता में उनके स्वागत के लिए एक सभा हुई थी, जिसमें मैं भी कुतूहल-वश गया था। उन दिनों उनको लोग 'कर्मवीर गांधी' कहा करते थे। वह सफेद बन्दवाला अचकन, धोती और सफेद काठियावाड़ी पगड़ी पहना करते थे। पैरों में जूते नहीं पहनते थे, मगर कन्धे पर एक चादर रखा करते थे। मैंने अखबारों में उनके दक्षिण अफ्रिका के कामों की कहानी कुछ पढ़ी थी और इसलिए जब उनके स्वागत की सभा हुई तो मैं भी वहाँ गया। यह शायद १९१५ की बात होगी। दूर से ही सभा में उन्हें देखा और वहाँ उन्होंने क्या कहा, इसका कुछ स्मरण नहीं है। यह भी नहीं याद है कि उन्होंने कुछ कहा या नहीं; क्योंकि पीछे मैंने सुना कि स्वर्गीय गोखलेजी ने उनसे वचन ले लिया था कि हिन्दुस्तान की हालत वह जा-कर देखें; पर एक बरस तक किसी प्रकार के आन्दोलन में भाग न लें, और न व्याख्यान ही दिया करें। यह समारोह उस एक बरस के भीतर ही हुआ था। इसलिए शायद उन्होंने कुछ कहा ही नहीं; पर मुझे आज कुछ स्मरण नहीं है। हाँ, इतना याद है कि उस समय मैं कलकत्ता में ही रहता था और उस सभा में गया था।

१९१६ के दिसम्बर में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। मैं पटना-हाइकोर्ट के खलने पर, १९१६ के मार्च से, पटना चला आया और वही वकालत करने लगा। पटना से ही लखनऊ-कांग्रेस में गया। वहाँ महात्मा गांधी भी आये थे। चम्पारन के किसानों के कुछ नेता, जिनमें मुख्य श्रीराजकुमार शुक्ल और पीर मुहम्मद मूनिस थे, कांग्रेस में अपना दुखड़ा सुनाने गये थे। मैं वकालत के कारण राजकुमार शुक्ल को जानता था और चम्पारन के रैयतों की बुरी हालत से भी कुछ परिचित था, पर वह परिचय बहुत ही अधूरा और आंशिक था। अगर यों कहा जाय कि वह नहीं के बराबर था, तो अत्युक्ति नहीं होगी। बिहार के युवकों के नेता स्वर्गीय व्रजकिशोरप्रसादजी थे। वह वहाँ की शिकायतों से काफी परिचित थे, क्योंकि उन दिनों की लेजिस्लेटिव कौन्सिल के वह मेम्बर थे और वहाँ इस समस्या पर उन्होंने कई बार प्रश्न पूछे थे तथा दूसरे प्रकार से भी इस

बात की चर्चा कौन्सिल में की थी। श्रीराजकुमार शुक्ल आदि महात्मा गांधी से मिले, और चम्पारन का दुखड़ा सुनाया। बाबू व्रजकिशोरप्रसाद भी शायद उन लोगों के साथ गांधीजी से मिले। सबने गांधीजी से अनुरोध किया कि चम्पारन-सम्बन्धी एक प्रस्ताव कांग्रेस में पास कराना चाहिए और वह स्वयं यदि उसे उपस्थित करें तो बहुत अच्छा होगा। गांधीजी ने प्रस्ताव उपस्थित करने से इनकार कर दिया था। उनका कहना था कि जबतक मैं खुद देख-सुनकर सब बातों की पूरी जानकारी हासिल न कर लूँ, प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकता। हाँ, जाँच के लिए चम्पारन जाऊँगा और देखूँगा कि जो तुम लोग कहते हो वह कहाँ तक ठीक है। प्रस्ताव बाबू व्रजकिशोर ने पेश किया और श्रीराज-कुमार शुक्ल ने उसका समर्थन किया और वह सर्वसम्मति से पास भी हो गया। यह शायद पहला ही मौका था जब एक देहाती अनपढ़ किसान कांँग्रेस के मंच से किसी प्रस्ताव के समर्थन में बोला हो। गांधीजी के साथ मेरे सम्पर्क का सूत्र-पात मात्र यहाँ हुआ—यद्यपि वास्तविक सम्पर्क लखनऊ में नहीं हुआ।

काँग्रेस के बाद सब लोग अपने-अपने स्थान को चले गये; पर राजकुमार शुक्ल ने गांधीजी से वचन ले लिया कि जब वह कभी बिहार की ओर से गुजरेंगे तो चम्पारन भी जायँगे और वहाँ की हालत देखेंगे। मार्च १९१७ में गांधीजी को एक बार कलकत्ता की ओर जाना पड़ा और उन्होंने राजकुमार शुक्ल को पत्र लिखा कि उनसे वह कलकत्ते में मिलें तथा वहाँ से उनको अपने साथ चम्पारन ले जायँ; पर दुर्भाग्यवश यह पत्र राजकुमार शुक्ल को देर करके मिला और तबतक गांधीजी कलकत्ता से वापस चले जा चुके थे। बिहार के देहातों में डाकिया सप्ताह में एक या दो बार से अधिक डाक लेकर नहीं जाता और राजकुमार शुक्ल तो चम्पारन में, जो एक पिछड़ा हुआ जिला समझा जाता था, रहा करते थे, और चम्पारन-जिले के भी सबसे अधिक पिछड़े हुए भाग में! इसलिए पत्र का समय पर न मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

अप्रैल १९१७ में अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक कलकत्ता में, ईस्टर की छुट्टियों में, होनेवाली थी। गांधीजी उसमें शरीक होने कलकत्ता गये और इस बात की सूचना उन्होंने राजकुमार शुक्ल को दे दी। वह इस बार समय से पत्र पाकर कलकत्ता पहुँच गये और श्रीभूपेन्द्रनाथ वसु के मकान पर, जहाँ गांधीजी ठहरे थे, जाकर उनसे मिले। मैं अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी का एक सदस्य था और उस जल्से में शरीक था। इत्तिफाक से जल्से में मै गांधीजी के बहुत नजदीक ही बैठा था, पर वह मुझे जानते नहीं थे और न मैं यह जानता था कि वह कलकत्ता से ही सीधे बिहार जानेवाले हैं। राज-कुमार शुक्ल उनके साथ सभा तक गये थे; पर बाहर ही ठहर गये थे, इसलिए मेरी मुला-कात उनसे भी नहीं हुई। सभा समाप्त होने पर मैं जगन्नाथपुरी चला गया और इधर गांधीजी राजकुमार शुक्ल के साथ पटना चले आये। एक-दूसरे के साथ परिचय न होने के कारण, नजदीक बैठे रहने पर भी, हम एक-दूसरे के कार्यक्रम को न जान सके, नहीं तो मैं शायद उनके साथ ही बिहार चला आता। उधर मैं पुरी पहुँचा और इधर गांधीजी मेरे घर पर पटना पहुँचे!

मै कलकत्ता में वकालत किया करता था और जब १९१६ के मार्च में पटना में बिहार के लिए अलग हाइकोर्ट खुला तो मै पटना चला आया तथा वही वकालत करने लगा। एक मकान भाड़े पर लेकर रहता था। घर के लोग कोई साथ नही रहते थे। वे लोग भाई के साथ छपरा या गाँव 'जीरादेई' रहा करते थे, इसलिए पटना में नौकर ही साथ रहते थे। कलकत्ता बिहार से बहुत दूर पड़ता था और बिहारियों के लिए एक अजनबी जगह। इसलिए जब कोई मामूली आदमी वहाँ हाइकोर्ट में किसी मुकदमे के लिए जाता, तो वह बहुत करके किसी वकील या मुख्तार के यहाँ ठहरता। एक तो कोई दूसरी ऐसी जगह उसको नहीं मिलती जहाँ वह ठहर सकता और दूसरे उन दिनों होटलों का न तो इतना प्रचार था और न बिहार के गाँव का रहनेवाला कोई आदमी होटल में रहकर वहाँ खाना पसन्द करता; इसलिए बिहारी वकीलों का घर भी मवक्किलों के लिए एक धर्मशाला-जैसा होता। कोई-कोई तो मवक्किलों को पैसे लेकर खिलाते! मै ऐसा नही करता था। जो कोई मेरे यहाँ ठहर जाता था उसको मै बिना दाम लिये ही खिलाता और ठहराता। यही प्रथा जब हमलोग कलकत्ता से पटना आये तो अपने साथ लेते आये। इसलिए जब-तब पटना में भी मवक्किल आकर हमारे साथ ठहर जाया करते थे। उनके लिए एक कमरा भी रख छोड़ा था और नौकर भी जानते कि मवक्किलो को कहाँ ठहराना तथा उनके साथ क्या बर्ताव करना चाहिए। जब मै कलकत्ता अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक के लिए गया और वहाँ से 'पुरी' चला गया तो पटना के नौकर, जो मेरे साथ नही गये, छुट्टी में अपने-अपने घर चले गये—केवल एक नौकर मकान की देखभाल करने के लिए रह गया, जो निरा देहाती था।

पटना में पहुँचकर राजकुमार शुक्ल गांधीजी को मेरे घर ले गये। वह किसी दूसरे को नही जानते थे जिनके यहाँ वह गांधीजी को ठहराते। दुर्भाग्यवश मै तो था नहीं। नौकर ने गांधीजी को एक देहाती मवक्किल समझ लिया! इसमें उस बिचारे का कोई दोष नही था। राजकुमार शुक्ल तो एक देहाती मवक्किल थे ही। देहाती बोली बोलने और रहन-सहन मे भी चम्पारन के ही थे। गांधीजी का रूप-भेष भी कुछ वैसा ही था। मैने ऊपर बतलाया है कि सभा इत्यादि में गांधीजी धोती, अचकन और काठियावाड़ी पगड़ी पहना करते थे। इसी भेष में मैने उनको कलकत्ता की स्वागत-सभा तथा अखिलभारतीय काँग्रेस-कमिटी के जल्से में देखा था; पर मामूली तौर से वह एक धोती-कुर्त्ता तथा वैसी टोपी पहना करते थे जैसी पीछे 'गांधी-टोपी' के नाम से मशहूर हुई। इस काट की टोपी बिहार में और संयुक्त प्रदेश में बहुतेरे पहना करते थे, पर गांधी-टोपी और उन टोपियों में बहुत बड़ा फर्क यह था कि गांधी-टोपी हमेशा खादी की हुआ करती थी। गांधीजी की वेश-भूषा देखने से उस नौकर को यह पता न चला कि वह कोई महान पुरुष हैं। मवक्किल समझकर उसने उनको मवक्किल की तरह ही ठहराया और उनके साथ मवक्किल-जैसा ही बर्ताव भी किया! यहाँ तक कि उस पाखाने का भी इस्तेमाल नहीं करने दिया जो खास घर के मालिक के इस्तेमाल में रहा करता था! गांधीजी ने नित्य-क्रिया स्नानादि नहीं किया और सोच ही रहे थे कि अब क्या किया जाय कि इतने में

मजहरुलहक साहब को खबर लग गई कि गांधीजी पटना आये हुए हैं और मेरे यहाँ ठहरे हैं। मजहरुलहक साहब गांधीजी के दक्खिन अफ्रिका के काम से तो पूरी तरह वाकिफ थे ही, वह उनको बहुत पहले से भी जानते थे; क्योंकि दोनों साथ ही एक ही जहाज पर बैरिस्टरी पास करके इंगलैंड से लौटे थे। गांधीजी को वह अपने यहाँ ले गये और हमारे घर से हटाकर अपने साथ ही ठहराया। गांधीजी चम्पारन पहुँचने के लिए उत्सुक थे, पर संध्या के पहले वहाँ के लिए कोई गाड़ी नही थी। इसलिए संध्या की गाड़ी से ही जाने का निश्चय किया और रवाना भी हो गये। मुजफ्फरपुर रास्ते में पड़ता है और तिर-हुत-डिवीजन का कमिश्नर वहीं रहता है। नीलवरों की संस्था 'बिहार-प्लैण्टर्स एसोसिएशन' (Bihar Planters Association) का दफ्तर वहीं था और उसका मंत्री वहीं रहा करता था। इसलिए उन्होंने सोचा कि चम्पारन पहुँचने के पहले इन दोनों से मिल लेना अच्छा होगा। बस मुजफ्फरपुर में ठहर जाने का निश्चय कर लिया।

जो अनुभव उनको मेरे घर पर पटना में हुआ था उसके बाद उन्होंने राजकुमार शुक्ल पर अपने ठहरने-ठहराने का भार न छोड़कर स्वयं ही उसका प्रबन्ध कर लिया। आचार्य कृपा-लानी उन दिनों मुजफ्फरपुर-कालेज में प्रोफेसर थे। गांधीजी के साथ उनकी मुलाकात नहीं थी, पर उनसे पत्र-व्यवहार हुआ था। इसलिए वह उनको जानते थे और पटना से चलने के पहले उन्होंने कृपालानीजी के पास तार भेज दिया था। कृपालानीजी कुछ छात्रों के साथ स्टेशन पर उनसे मिलने आये। गाड़ी आधी रात के समय पहुँचती थी। कृपालानीजी भी गांधीजी की रहन-सहन से बहुत परिचित नहीं थे। इसलिए स्टेशन पर सब लोग उनको ऊँचे दर्जों के डब्बों में तलाश करने लगे। पर गांधीजी अपनी छोटी गठरी लिये हुए, राजकुमार शुक्ल के साथ, तीसरे दर्जे के डब्बे से उतर चुके थे और प्लेटफार्म से बाहर जाने के लिए फाटक की तरफ जा रहे थे। जब कृपालानीजी और उनके छात्रों को गांधीजी ऊँचे दर्जों के डब्बों में नहीं मिले, तो वे लोग प्लेटफार्म पर उनकी तलाश में इधर-उधर दौड़-धूप करने लगे। राजकुमार शुक्ल ने उनकी दौड़-धूप से समझ लिया कि ये लोग गांधीजी की ही तलाश में हैं और उनमे से एक से पूछा कि आप किसकी तलाश कर रहे हैं। उसने उनको एक निरा देहाती समझकर उत्तर तक नहीं दिया! तब राजकुमार शुक्ल ने कहा, आप कर्मवीर गांधी की तलाश कर रहे हैं तो वह मेरे साथ यह है। यह बात सुनते ही सब लोग जुट गये। गांधीजी धोती, कुर्ता और टोपी पहने थे। बगल में एक छोटी गठरी थी जिसमें बिछाने के लिए बिस्तर इत्यादि और पहनने के लिए कपड़े थे जिससे वह सोने के समय तकिया का काम लिया करते थे! दूसरे हाथ में एक टिन का डब्बा था जिसमें खाने के लिए खजूर या मूँगफली थी। राजकुमार शुक्ल अपना सामान और लोटा अपने हाथ में लिये हुए थे।

गांधीजी को पाकर सब निहाल हो गये। कृपालानीजी, जो कालेज के होस्टल के प्रधान थे, उनको अपने साथ होस्टल में ले गये और वहीं ठहराया। कालेज सोलह आने गवर्नमेंट-कालेज नहीं था, पर गवर्नमेंट से उसको पैसे की काफी मदद मिलती थी; इसलिए उसपर गवर्नमेंट का एक प्रकार से पूरा अधिकार था। कालेज का प्रिंसपल उन

दिनों सरकारी नौकरी वाला, 'आइ० ई० एस०' (इंडियन एजुकेशन सर्विस) का, कोई अंग्रेज ही हुआ करता था—यद्यपि मुझे आज स्मरण नहीं है कि उस वक्त कौन प्रिंसिपल था। कृपालानीजी ने गांधीजी को अपने यहाँ होस्टल में ठहरा तो लिया, पर वहाँ रख न सके; दूसरे ही दिन गांधीजी एक वकील के घर जाकर ठहर गये। थोड़े ही दिनों मे कृपालानीजी को भी इसी अपराध के कारण कालेज की नौकरी से इस्तिफा देना पड़ा और वहाँ से छुट्टी पाकर वह चम्पारन में गांधीजी के साथ रहकर काम करने लगें।

गांधीजी कमिश्नर और नीलवरो के मंत्री से मिले तथा अपना उद्देश्य बताया। उनलोगों ने उनको चम्पारन जाने से मना किया और कहा—"रैयतों की शिकायतों की जाँच गवर्नमेंट करा रही है। चम्पारन में सर्वे-सेटलमेंट के अफसर काम कर रहे हैं और जो कुछ भी शिकायत होगी उसपर विचार करके गवर्नमेंट मुनासिब कार्रवाई करेगी। रैयत आपके जाने से उत्तेजित होंगे और लड़ाई के जमाने में गड़बड़ी मचा सकते हैं जो किसी तरह वांछनीय नहीं है।" उस समय जर्मनों का फ्रान्स पर धावा था और बहुत जोरों से लड़ाई चल रही थी। उन्होने यह भी कहा—"बहुतेरे नीलवर लड़ाई में चले गये। उनकी गैरहाजिरी में कोई बड़ा आन्दोलन खड़ा करना ठीक न होगा।" इस तरह की बातें कहकर उन्होंने गांधीजी को वहाँ जाने से रोका तथा रैयतों की शिकायतों को अतिरंजित और गलत बताया। महात्माजी ने तार देकर बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद को दरभंगा से बुला लिया था; क्योंकि वही उस विषय के विशेषज्ञ थे। गांधीजी का कहना था कि वे लोग जितना ही जोर देकर उनको रोकना चाहते थे उतना ही उनका संदेह बढ़ता ही जाता था और यह विचार दृढ होता जाता था कि दाल मे कुछ काला जरूर है। उन्होंने अन्त में दो-तीन मुलाकातो के बाद चम्पारन जाने का निश्चय कर लिया।

इसका एक कारण यह भी था कि चम्पारन के बहुतेरे रैयत यह सुनकर कि गांधीजी उनकी मदद के लिए मुजफ्फरपुर तक आ गये हैं, चम्पारन से उनके पास चले आये—अपना-अपना दुखड़ा सुनाया, जिससे राजकुमार शुक्ल की कही हुई बातों की पुष्टि हुई। चम्पारन के रैयत इतने अरसे से सताये गये थे कि वे लोग डरपोक हो गये थे और उनकी हिम्मत नीलवरों के खिलाफ कुछ कहने की भी नहीं होती थी। नीलवरों का गवर्नमेंट के अधिकारियों पर बहुत प्रभाव था और उनके मित्र तथा सहायक स्थानीय अफसरों से लेकर विलायत तक में थे। उनके जुल्म की खबर स्थानीय अफसरों को मिला करती थी; पर वे भी रैयतो की कोई विशेष मदद नही कर सकते थे। हाँ, जो सच्चे और नेकनीयत होते वे गवर्नमेंट के पास गुप्त रिपोर्ट भेज दिया करते तथा जब मामला बहुत बिगड़ जाता तो गवर्नमेंट भी कुछ नाम-निहादी कार्रवाई कर दिया करती, जिसका कोई विशेष फल नहीं होता। कभी-कभी रैयत भी बिगड़ जाते और बलवा-फसाद कर देते। एकाध नीलवर को दो-एक बार मार भी डाला था और उनकी दो-एक कोठियों को जला भी दिया था; पर इस प्रकार के बलवा-फसाद का नतीजा यह होता कि वे और भी पीसे जाते। कचहरियों द्वारा फाँसी और कैद की सजा के अलावा दूसरे प्रकार की भी सजाएँ उनको मिलतीं। उनके खेत और घर सब लूट लिये जाते, माल-मवेशी भगा दिये जाते,

घरों में आग लगा दी जाती और वे खुद भी पीटे जाते तथा बहुतेरों की तो बहू-बेटी की इज्जत भी बरबाद की जाती। फसाद के बाद उनको नीलवर तथा सरकारी कर्मचारी इतना दबाते कि बहुत दिनों तक जिला-भर में मौत की-सी शान्ति विराजती! जिस इलाके में फसाद होता वहाँ अतिरिक्त पुलिस बैठा दी जाती, जहाँ उसका यह काम होता कि रैयतों को लूटे-खसोटें। इसके अलावा, पुलिस का सारा खर्च भी गवर्नमेंट उनसे ही वसूल करती। दो-एक बार गवर्नमेंट ने जाँच करने के लिए विशेष अफसरों को भेजा और उनकी रिपोर्ट कुछ हद तक रैयतों के पक्ष में हुई; पर कौंसिल में बहुत चर्चा होने पर भी वह प्रकाशित नही की गई। रैयत इतना डर गये थे कि किसी नीलवर या उसके कर्मचारी के विरुद्ध किसी किस्म की शिकायतें लेकर किसी अदालत या कचहरी में नही जाते थे। जब उनकी शिकायते कौंसिल में पेश की जाती तो गवर्नमेंट का उत्तर यही होता कि उनकी कोई शिकायत अगर होती तो वे खुद ही अदालत मे पेश करते, पर वे ऐसा कुछ करते नही, इसलिए यह तो बाहर के कुछ आन्दोलन करनेवालों की ही शरारत है कि नीलवरों की इतनी शिकायत करते है! ऐसा भी देखा गया था कि कोई रैयत अगर हिम्मत करके अदालत मे नालिश करने के लिए पहुँचता भी, तो नीलवरों के आदमी वहाँ लगे रहते और उसे मजिस्ट्रेट के सामने ही इजलास पर से घसीट लाकर खूब पीटते! इसलिए इतनी शिकायतों के रहते भी डर के मारे रैयत कचहरी तक नहीं पहुँच पाते थे।

गांधीजी के सम्बन्ध में, सिवा दो-चार आदमियों के—जिन्होंने कही कुछ सुन लिया था या अखबारों में पढ़ लिया था—रैयतो में से शायद ही कोई कुछ जानता होगा। मै ऊपर कह चुका हूँ कि मुझ-जैसा एक तथाकथित शिक्षित और सार्वजनिक विषयो मे कुछ दिलचस्पी रखनेवाला आदमी भी उनके बारे में बहुत थोड़ा ही जानता था, तो बेचारे निरीह अशिक्षित रैयतों को क्या पता होता, जो चम्पारन-जैसे पिछडे जिले के गाँव के रहनेवाले और नीलवरों द्वारा सताये हुए भयभीत थे। पर उन्होंने इतना सुन लिया था कि उनकी मदद करनेवाला कोई पास के जिला मुजफ्फरपुर तक आ गया है। और, न मालूम उनके दिल में यह विश्वास कैसे आ गया कि वह उनका उद्धारक है। न मालूम वह डर, जो उनको हमेशा सताया करता था, कहाँ चला गया और उनमे से सैकड़ों मुजफ्फरपुर तक आ गये तथा गांधीजी से मिले।

गांधीजी ने चम्पारन जाने का निश्चय कर लिया और तिथि तथा गाड़ी का समय भी ठीक कर लिया। मोतीहारी के प्रसिद्ध वकील बाबू गोरखप्रसाद, जो रैयतों की कुछ मदद किया करते थे, मुजफ्फरपुर आ गये। उन्होंने अपने घर पर ठहरने के लिए गांधीजी को आमंत्रित किया।

गांधीजी को एक दिक्कत थी। वह वहाँ की ग्रामीण भोजपुरी बोली समझ नहीं सकते थे और यद्यपि वह हिन्दी कुछ जानते थे तो भी इतनी नहीं कि अपना सब काम हिन्दी में कर सकें। रैयत भी ठीक तरह से अपनी बोली के सिवा दूसरा कुछ—विशेष करके गांधीजी की बोली—नहीं समझ पाते। इसलिए ऐसे आदमियों की जरूरत थी जो

के अनुसार, हुक्म दिया कि आप पहली रेलगाड़ी से चम्पारन से चले जाइए ! वह हुक्म गांधीजी को मोतीहारी से गाँव के लिए रवाना होने के समय तक नहीं मिला। वह बाबू धरणीधर और बाबू रामनौमी प्रसाद के साथ रवाना हो गये थे। पीछे से पुलिस-सब-इन्स्पेक्टर, जिला-मजिस्ट्रेट का पत्र लेकर, कुछ मीलों की दूरी पर, गांधीजी से मिला, और कहा कि जिला-मजिस्ट्रेट आपसे मिलना चाहते हैं। गांधीजी उस पुलिस-अफसर के साथ, उसी की सवारी पर, मजिस्ट्रेट से मिलने वापस चले आये। पर उन्होंने अपने साथियों को यह आदेश दिया कि वे उस गाँव तक जाकर, वहाँ का सब हाल देखकर, सन्ध्या या रात तक वापस आ जायँ। मोतीहारी लौटने पर मजिस्ट्रेट ने पहले उनको वापस जाने को कहा; पर जब उन्होंने उसकी यह बात न मानी तो बाजाब्ता हुक्म दे दिया। गांधीजी ने भी बाजाब्ता जवाब दे दिया कि वह हुक्म को नहीं मानेंगे, मजिस्ट्रेट जो चाहे, करे। इसपर मजिस्ट्रेट ने कहा कि बाजाब्ता उदूलहुक्मी का मुकदमा आप पर चलाया जायगा। साथ ही, यह भी अनुरोध किया कि जबतक बाजाब्ता कार्यवाही नहीं होती, आप देहातों में न जायँ। गांधीजी ने इस अनुरोध को मान लिया और बाजाब्ता कार्यवाही का इन्तजार करने लगे। इसके लिए बहुत देर तक ठहरना न पड़ा; क्योंकि उसी दिन सम्मन आया और उसके दूसरे ही दिन मुकदमे की पेशी की तारीख पड़ गई।

गांधीजी ने उस रात को बहुत परिश्रम किया। पहले तो उन्होंने अपने सभी मित्रों तथा सहकर्मियों को तार द्वारा मुकदमे की खबर दी। मेरे नाम से भी एक तार पटना भेजा, जिसमें लिखा था कि 'मजिस्ट्रेट ने मुझे चम्पारन छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी है; मैंने उसकी अवहेलना की और मुकदमा होनेवाला है जिसका इन्तजार कर रहा हूँ।' एक तार उन्होंने अपने दक्षिण-अफ्रिका के सहकर्मी और मित्र मि० पोलक के नाम से प्रयाग भेजा, जहाँ वह ठहरे हुए थे। उन दिनों लार्ड चेम्सफोर्ड वाइसराय थे। गांधीजी से प्रवासी-हिन्दुस्तानी-प्रश्न के सम्बन्ध में उनकी अच्छी मुलाकात थी। महात्माजी ने उनके नाम एक पत्र भेजा, जिसमें सारी घटना के साथ ही ब्रिटिश गवर्नमेंट से अपना पुराना सम्बन्ध भी बतलाया और अन्त में यह लिखा कि इसी गवर्नमेंट ने उनको सार्वजनिक सेवाओं के लिए सोने का 'केसरहिन्द' पदक दिया है जिसकी वह काफी कदर करते हैं; मगर जब गवर्नमेंट का उनमें विश्वास नहीं रहा और यह सार्वजनिक काम भी उन्हें नहीं करने देना चाहती, तो यह उनके लिए अयोग्य है कि उस पदक को वह रखें, और इसलिए उन्होंने जिन लोगों के पास वह पदक रखा है उन लोगों को लिख भेजा है कि वे उसे आपके पास भेज दें। उन्होंने तार के अलावा बहुत मित्रों के पास पत्र भी लिखा, जिसमें उस वक्त तक का पूरा वृत्तान्त लिख भेजा। इसके अलावा, मुकदमे की पेशी के लिए अपना एक बयान तैयार किया जिसको उन्होंने दूसरे दिन पेशी के समय पढ़ा।

यह सब करते रात का अधिकांश बीत गया। इतने तार, चिट्ठियों और बयान को सिर्फ लिखा ही नहीं, प्रायः सबकी नकल भी अपने पास कर रखी। आधी रात के बाद बाबू धरणीधर और रामनौमी बाबू उस गाँव से, जहाँ उनको गांधीजी ने तहकीकात करने को भेजा था, लौटे। उसी समय गांधीजी ने उनसे वहाँ का हाल सुन लिया और जो कुछ

जब मुझे तार मिला तो मैं सोचने लगा कि क्या करना चाहिए। बाबू व्रजकिशोर को, जो हमलोगों के गुरु थे, जो उस समय कलकत्ता गये हुए थे, मैंने सब बातें तार द्वारा जना दीं और लिखा कि आप कल बहुत सवेरे तक पहुँच जाइए। महात्माजी से मैंने तार द्वारा पूछा कि मुझसे क्या सेवा हो सकती है। मैंने समझा कि शायद मुकदमे की पैरवी में वकालत करनी पड़े, और कुछ पुस्तकें भी उलट-पुलट कर देखने लगा कि इस सिलसिले का हुक्म उस धारा के अनुसार दिया जा सकता है या नहीं। मैं मजहरुलहक साहब से भी मिला और सब बातें कह सुनाईं। तार का उत्तर मिल चुका था कि मित्रों के साथ आ जाओ। उधर मि० पोलक का भी तार पटना पहुँच गया कि वह पटना आ रहे हैं और गांधीजी की बुलाहट पर सीधे चम्पारन चले जायँगे। हमने निश्चय कर लिया कि स्वर्गीय शम्भूशरण तथा श्रीअनुग्रहनारायणसिंहजी को अपने साथ लेकर दूसरे दिन सवेरे की गाड़ी से चम्पारन चले जायँगे। मजहरुलहक साहब ने जाने का निश्चय किया। मि० पोलक तो जानेवाले थे ही। बहुत सवेरे बाबू व्रजकिशोर पहुँच गये और हम लोग चम्पारन के लिए रवाना हो गये। वह गाड़ी मोतीहारी तीन बजे दिन में पहुँचा करती थी। मि० पोलक ने रास्ते मे गांधीजी का तरीका विस्तार-पूर्वक बताया और यह कहा कि वह तुम्हारी वकालत की मदद वहाँ नहीं चाहेंगे, बल्कि तुम लोगों को किसी दूसरी तरह से उस काम में लगा देंगे जो वह वहाँ करना चाहते हैं। हम लोग रास्ते में बातें करते जा रहे थे और उधर मुकदमे की पेशी हो रही थी। दूसरे दिन सवेरे ही तैयार होकर गांधीजी, अपने दोनों साथियों के साथ, एक घोड़ा-गाड़ी पर सवार होकर कचहरी के लिए रवाना हुए। वे दोनों, जो रात को विचार करते रहे थे, उसी में अबतक लगे थे। पर अब उनसे रहा नहीं गया और उन्होंने गांधीजी से कहा—"अगरचे हमने पहले इस बारे में कभी सोचा तो नहीं था, पर जब आप कहीं दूर से आकर इन गरीबों के लिए जेलखाने जा रहे हैं, तो यहाँ के रहनेवाले हम लोग कैसे आपको अकेला छोड़ देना बर्दाश्त कर सकेंगे। इसलिए अब हमने भी सोचा है कि आप जब जेल चले जायँ तो हम लोग काम जारी रखेंगे और जरूरत पड़ेगी तो हम लोग भी जेल जायँगे।" यह सुनते ही गांधीजी का चेहरा खिल उठा और वह सहसा कह उठे, तब तो फतह है! वह कुछ दक्षिण अफ्रिका की बातें बताने लगे। तब-तक सब कचहरी पहुँच गये।

कचहरी में आज एक नई समा थी। गांधीजी के मुकदमे की खबर फैल चुकी थी और रैयतों की एक भीड़ वहाँ जुट गई थी। वे लोग अपने उद्धारक का दर्शन करने तथा मुकदमे में क्या होता है—यह देखने गाँव-गाँव से आ गये थे। वे लोग वही रैयत थे जो डर के मारे कभी कचहरी के नजदीक नीलवरों के खिलाफ नालिश करने नहीं आते थे; पर आज गवर्नमेंट के हुक्म की अवज्ञा करनेवाले के मुकदमे की पेशी देखने वहाँ हजारों की तादाद में आ जुटे और जब मजिस्ट्रेट के पहुँचने पर मुकदम की पेशी हुई तो कमरे के अन्दर घुसने में इतना कोलाहल और धक्कमधक्का हुआ कि किवाड़ों के शीशे भी टूट गये और पुलिस हक्का-बक्का ताकती रही। न मालूम वह डर कहाँ चला गया और जोश और हिम्मत कहाँ से आ गई।

सिर्फ हमने ही यह सोचने की गलती नहीं की थी कि गांधीजी के मुकदमे की पैरवी हमें करनी पड़ेगी। सरकारी वकील ने भी सोचा कि मुकदमे की पैरवी के लिए गांधीजी की ओर से बड़े-बड़े वकील-बैरिस्टर आयँगे। गांधीजी खुद बैरिस्टर हैं, इसलिए वह भी कानून की किताबें उलट-पुलट कर तैयार होकर कचहरी आयँगे। यह एक कानूनी सवाल उस मुकदमे में जरूर उठता था कि वह हुक्म कानून के अनुसार ठीक था या नहीं। और, अगर वह ठीक नहीं था तो उसकी अवज्ञा के लिए सजा नहीं हो सकती थी। मैंने जो थोड़ा-सा विचार किया था तो उस समय इस नतीजे पर पहुँचा था कि जिला-मजिस्ट्रेट का हुक्म कानूनन गलत है और इसलिए उसकी उदूल-हुक्मी के लिए सजा नहीं हो सकती। शायद सरकारी वकील ने भी सोचा था कि इस तरह की बहस की जायगी और उसका उत्तर देने के लिए उन्होंने मसाला तैयार कर लिया था। पर जब मुकदमा पेश हुआ तो यह सारा पुस्तकी परिश्रम व्यर्थ और अनावश्यक साबित हो गया। मुकदमा पेश होते ही सरकारी वकील ने गवाह पेश किया और उससे इस तरह के सवाल पूछने लगे जिनके उत्तर से यह साबित हो कि गांधीजी पर वह हुक्मनामा बाजाब्ता तामील हुआ था, जिसकी अवज्ञा के लिए मुकदमा चल रहा था। गांधीजी ने हाकिम से कहा—"यह गवाही अनावश्यक है। इसमें क्यों आपका और हमारा समय लगाया जाय। मैं कबूल करता हूँ कि यह हुक्म मुझको मिला था और मैंने उसको मानने से इनकार कर दिया है। अगर आप इजाजत दें तो मुझे जो बयान करना है और जो मैं लिखकर लाया हूँ, उसे पढ़ दूँ।"

मजिस्ट्रेट और सरकारी वकील दोनों के लिए, और दूसरे जितने लोग कचहरी में मौजूद थे, सबके लिए, मुकदमे की पैरवी का यह एक बिल्कुल नया तरीका था और सब अचम्भे में पड़ गये कि अब देखें, क्या होता है। मजिस्ट्रेट ने बयान पढ़ने की इजाजत दे दी। गांधीजी ने उसे पढ़ सुनाया—

"अदालत की आज्ञा से मैं संक्षेप में यह बतलाना चाहता हूँ कि नोटिस द्वारा मुझे जो आज्ञा दी गई उसकी अवज्ञा मैंने क्यों की। मेरी समझ में यह मेरे और स्थानीय अधिकारियों के बीच मतभेद का प्रश्न है। मैं इस देश में राष्ट्र-सेवा तथा मानव-सेवा करने के विचार से आया हूँ। यहाँ आकर उन रैयतों की सहायता करने के लिए, जिनके साथ कहा जाता है कि नीलवर साहब लोग अच्छा व्यवहार नहीं करते, मुझसे बहुत आग्रह किया गया था। पर जबतक मैं सब बातें अच्छी तरह न जान लेता, तबतक रैयतों की कोई सहायता नहीं कर सकता था। इसलिए मैं, यदि हो सके तो, अधिकारियों और नीलवरों की सहायता से, सब बातें जानने के लिए आया हुँ। मैं किसी दूसरे उद्देश्य से यहाँ नहीं आया हूँ। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि मेरे यहाँ आने से किसी प्रकार शान्तिभंग या प्राणहानि हो सकती है। मैं कह सकता हूँ कि ऐसी बातों का मुझे बहुत-कुछ अनुभव है। अधिकारियों को जो कठिनाइयाँ होती हैं उनको मैं समझता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि उन्हें जो सूचना मिलती है, केवल उसीके अनुसार वे काम कर सकते हैं। कानून माननेवाले व्यक्ति की तरह मेरी प्रवृत्ति यही होनी चाहिए थी और ऐसी प्रवृत्ति हुई भी कि मैं इस आज्ञा का पालन करूँ। पर मैं उन लोगों के प्रति, जिनके

कारण मैं यहाँ आया हूँ, अपने कर्तव्य का उल्लंघन नहीं कर सकता था। मैं समझता हूँ कि उन लोगों के बीच रहकर ही मैं उनकी भलाई कर सकता हूँ। इस कारण, मैं स्वेच्छा से इस स्थान से नहीं जा सकता था। दो कर्तव्यों के परस्पर विरोध की दशा में मैं केवल यही कर सकता था कि अपने-आपको हटाने की सारी जिम्मेवारी शासकों पर छोड दूँ। मैं भली भाँति जानता हूँ कि भारत के सार्वजनिक जीवन मे मुझ-जैसी स्थिति के लोगों को आदर्श उपस्थित करने में बहुत ही सचेत रहना पड़ता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस स्थिति में मै हूँ उस स्थिति में प्रत्येक प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए वही काम करना सबसे अच्छा है जिसे करने का इस समय मैने निश्चय किया है, और वह यह है कि बिना किसी प्रकार का विरोध किये आज्ञा न मानने का दण्ड सहने के लिए तैयार हो जाऊँ। मैंने जो बयान दिया है वह इसलिए नही कि जो दंड मुझे मिलनेवाला है वह कम किया जाय, बल्कि यह दिखलाने के लिए कि मैंने सरकारी आज्ञा की अवज्ञा इस कारण नहीं की है कि मुझे सरकार के प्रति श्रद्धा नही है, वरन् इस कारण की है कि मैंने उससे भी उच्चतर आज्ञा—अपनी विवेकबुद्धि की आज्ञा—का पालन करना उचित समझा है।"

बयान सुनते ही सब लोग स्तब्ध हो गये। इस तरह का बयान शायद इसके पहले हिन्दुस्तान की किसी ब्रिटिश कचहरी में किसी ने न दिया था और न किसी ने सुना था। मजिस्ट्रेट भी हक्का-बक्का हो रहा। उसने तो सोचा था कि और मुकदमों की तरह इसमें भी गवाही होगी और उसके बाद बहस होगी और इन सबमें काफी समय लगेगा। इस बीच वह जिला-मजिस्ट्रेट से भी सलाह कर सकेगा कि उसे क्या फैसला सुनाना चाहिए और कितनी सजा देनी चाहिए इत्यादि। पर इस बयान के बाद न तो गवाही की जरूरत रही और न बहस की। केवल एक ही बात बाकी रह गई और वह यह कि क्या और कितनी सजा दी जाय। वह इसके लिए अभी तैयार नही था। उसने फिर कहा—आपने बयान तो पढ़ दिया; पर जो कुछ आपने अबतक कहा है उसमें आपने साफ नहीं कहा है कि आप कसूरवार है या नही। गांधीजी ने कहा, मुझे जो कहना था, कह दिया है। इस पर उसने सोचा कि फिर समय मिलने का मौका है और कहा कि तब तो मुझे गवाही भी लेनी पड़ेगी और बहस भी सुननी पड़ेगी। गांधीजी कब चूकनेवाले थे। उन्होंने तुरत कहा, अगर ऐसा है तो लीजिए, मै कबूल करता हूँ कि मै कसूरवार हूँ। अब उसके लिए फिर कोई भी रास्ता समय निकालने का नही रह गया। उसने कहा, मै कुछ घटों के बाद हुक्म सुना दूँगा; इस बीच में आप जमानत देकर जा सकते है। गांधीजी ने जवाब दिया कि मेरे पास कोई जमानत देनेवाला नही है; मै जमानत नही दूँगा। तब, उसके लिए फिर एक जटिल समस्या सामने आ गई कि इस बीच गांधीजी पुलिस-हवालात में रखे जायँ या क्या किया जाय। उसने कहा, अगर जमानत नहीं दे सकें, तो जाती मुचलका ही दे दीजिए। गांधीजी ने उत्तर दिया कि मैं यह भी नहीं कर सकता। तब उसने कहा, अच्छा, मैं तीन बजे हुक्म सुनाऊँगा, उस वक्त आप हाजिर हो जाइए। गांधीजी ने कहा—हाँ, समय पर जरूर हाजिर हो जाऊँगा।

मजिस्ट्रेट इजलास से उठकर चला गया। गांधीजी कहीं दूसरी जगह जा रहे थे कि

जिले के पुलिस-सुपरिण्टेण्डेंट की तरफ से उनके पास सन्देश आया कि वह उनसे मिलना चाहता है। पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट अंग्रेज था; पर वह शायद दक्षिण अफ्रिका का रहनेवाला था या दूसरे प्रकार का कोई सम्बन्ध दक्षिण अफ्रिका के साथ रखता था। उनसे वह कुछ देर तक बातें करता रहा, जिनमें शायद दक्षिण अफ्रिका की भी कुछ बातें थीं। जब तीन बजे का समय नजदीक आया तो मजिस्ट्रेट ने गांधीजी को कहला भेजा कि वह उस दिन हुक्म नहीं सुनाएगा और उसके लिए कोई दूसरा दिन, पाँच-सात दिनों के बाद का, मुकर्रर कर दिया। यह सुनकर गांधीजी निवास-स्थान पर वापस आ गये। वहाँ भी रैयतों की भीड़ जुटी थी।

इधर प्रायः इसी समय हम लोगों की गाड़ी पहुँची और हम लोग सीधे गांधीजी के निवास-स्थान पर पहुँचे। वह भी थोड़ी ही देर पहले कचहरी से वापस आये थे। हम लोगों को देखकर—विशेष कर मजहरुलहक साहब तथा मि० पोलक को देखकर—विशेष प्रसन्न हुए। हम लोगों का एक-एक करके परिचय कराया गया। जब मेरी बारी आई तो मुझे देखकर वह मुस्कुराये और बोले—"आप भी आ गये ? मैं तो आपके घर गया था !" ये पहले ही शब्द थे जो उन्होंने मुझसे खास तौर से कहा हो और मैंने उनसे जो सुना हो। मैं शरमाया; क्योंकि जो बर्ताव उनके साथ मेरे डेरे पर हुआ था वह मैंने सुन लिया था। उन्होंने समझ लिया कि मैं कुछ अप्रतिभ हो रहा हूँ। बस तुरत यह बात वहीं छोड़कर मुकदमे की बात हमलोगों से कहने लगे। उस वक्त तक जो कुछ हुआ था, संक्षेप में सब बता दिया और अन्त में कहा कि आपलोगों के जो दो साथी हैं, उनसे विस्तार-पूर्वक सब सुन लीजिए; तबतक मैं मि० पोलक से बातें करता हूँ। निवास-स्थान में एक बरामदा था, जहाँ पर एक चौकी रखी थी; उसी पर गांधीजी बैठे थे। वह इतनी बड़ी नहीं थी कि सब बैठ सकें। इसलिए कुछ बैठे और कुछ खड़े ही सब बातें सुनते रहे। अन्त में हमलोग कमरे के अन्दर चले गये और वहाँ सब बातें विस्तार-पूर्वक अपने मित्रों से सुन लीं। उन लोगों का जेल जाने का निश्चय भी हमलोगों ने सुन लिया, और वही प्रश्न हम लोगों के सामने भी आ गया। उन दोनों के निश्चय के बाद हम लोग दूसरा कर ही क्या सकते थे। हमने भी वही निश्चय किया।

गांधीजी जब मि० पोलक से बातें कर चुके और हमलोगों के नजदीक आये तो पूछा, सब बातें मालूम हो गईं ? हमारे 'हाँ' कहने के बाद उन्होंने एकबारगी जेल का सवाल भी पूछ ही दिया। हमलोगों ने उस सवाल का भी, जैसा सोचा था वैसा, जवाब दे ही दिया। वह बहुत प्रसन्न हुए। पर इतने पर ही वह बात छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने कागज-पेन्सिल हाथ मे लेकर कहा कि हमारे जेल चले जाने के बाद आपलोग दो-दो आदमी की टोली में जाँच का काम जारी रखेंगे, और जब गवर्नमेंट एक टोली को जेल भेज दे तो दूसरी टोली आ जाय, और इस तरह आप काम चलाते जाइए; अगर कोई दूसरे भी आपकी तरह तैयार हो जायें तो वह भी ऐसा ही करें। यह कह उन्होंने वहाँ उपस्थित लोगों की तीन टोलियाँ बना दीं। जिनमें मजहरुलहक साहब और बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद को तथा मुझे नेता बना दिया और सबके नाम भी लिख डाले। हमलोगों में से कोई

इसके लिए तैयार गया नहीं था। यह फैसला अचानक करना पड़ा था। हमने यह सोचा कि यह अच्छा हुआ कि पांच-सात दिनों का समय मिल गया। इस बीच हम सब अपना निजी कारबार समेट लेंगे। मजहरुलहक साहब के हाथ में एक सेशन (दौरे) का मुकदमा था जिसकी पेशी इसी बीच होनेवाली थी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि उसको इस बीच खतम करके उस दिन तक, जिस दिन मजिस्ट्रेट हुक्म सुनानेवाला था, वह वापस आ जायँगे, ताकि गांधीजी के जेल जाने के बाद चम्पारन का नेतृत्व सँभाल लें। बाबू ब्रजकिशोर भी इसी तरह कुछ काम पूरा करके उस दिन तक वापस आ जायँगे; यह निश्चय करके वे दोनों दूसरे दिन सवेरे चले गये; हमलोग रह गये।

गांधीजी को जिला-मजिस्ट्रेट का खत आया जिसमें उसने लिखा कि सारी बातें उसने गवर्नमेंट को लिख भेजी हैं और अनुरोध किया है कि जबतक मुकदमे का फैसला न हो जाय, गांधीजी गाँव में न जायँ। गांधीजी ने इस बात को मान लिया और हमलोग वहीं पर उस दिन का इन्तजार करने लगे। किन्तु इस पत्र के पहुँचने पर गांधीजी को कुछ ऐसा आभास हो गया कि अब शायद गवर्नमेंट इस चीज को आगे नहीं बढ़ायेगी और जेल जाने की बात न होगी। तो भी यह तो अनिश्चित था ही। उन्होंने उस दिन तक जो कुछ हुआ था उसकी सूचना भी मित्रों के पास और मुख्य-मुख्य पत्रों के सम्पादकों के पास लिख भेजी। सम्पादकों को सब बातों की जानकारी के लिए उन्होंने खबर दे दी; पर उनकी तरफ से कुछ छापने के लिए नहीं। अखबारों में जो कुछ छपा, वह संवाददाताओं का दिया समाचार था, गांधीजी का दिया हुआ नहीं।

दूसरा अध्याय

गांधीजी से यह मेरी पहली मुलाकात थी जिसमें उनसे मेरी रूबरू बातें हुईं। मैं यह नहीं कह सकता कि उस समय मुझे यह अनुभव हुआ हो कि मेरे दिल पर कोई बहुत बड़ा असर पड़ा अथवा साथ ही, सारी जिन्दगी का रुख इस मुलाकात के होते ही फिर गया। यह कैसे हुआ ? स्वर्गीय गोखले से मेरी मुलाकात कई वर्ष पहले हुई थी। उन्होंने मुझे बुलाया था और भारत-सेवक-समिति में शरीक होन को कहा था। कुछ देर तक बातें हुई थीं। दिल पर असर पड़ा था और मैंने सोचा था कि जैसा वह कहते हैं, वैसा करना चाहिए। कई दिनों तक इस पर विचार भी करता रहा। पर वैसा कर नहीं सका। इस बार क्यों और कैसे यह निश्चय हो गया, मैं नहीं कह सकता। केवल जेल जाने की ही बात उस समय हमारे सामने आई; सारे जीवन को देश-सेवा में लगा देने की बात दरपेश नहीं थी। पर इस प्रकार अपनी खुशी से जेल जाने का तरीका भी तो केवल मेरे ही लिए नहीं, सारे देश के लिए नया था। उस समय तक हमलोग जेल जाने योग्य काम करते हुए भी अपने को जेल से बचाने में ही बुद्धिमत्ता और कौशल समझते थे। अगर राजद्रोह की बात हम करना चाहते थे तो करते थे, पर ऐसी बातें करने के समय हमेशा पिनलकोड की १२४-ए-धारा को सामने रखकर इस तरीके से करते थे कि जिससे उसके जाल में हम न फँसें। हम साँप मारना चाहते थे और साथ ही लाठी को भी बचा लेना चाहते थे। और, जो इस तरह जितनी सफलता से बातें कर सकता था, वह उतना ही चतुर समझा जाता था। क्रान्तिकारी लोग अपनी जान हथेली पर लेकर काम करते थे। पर साथ ही जहाँ तक हो सकता था, अपने को बचा रखने का भी रास्ता खुला रखते थे; जान-बूझ कर आग में कोई कूदना नहीं चाहता था। अगर मुकदमा चलता था तो बचाव के लिए वकीलों की मदद ली जाती थी, और जो कुछ भी बचने के लिए मुकदमे की पैरवी में जरूरी समझा जाता था, किया जाता था। शायद ही कोई अपना कसूर कबूल करता। हम तो इसी रीति को उस समय तक जानते थे और उस समय तक हमने इस तरह का कोई खतरा अपने ऊपर नहीं लिया था। विचारों से और मिजाज से नरम दल का ही आदमी मैं अपने को मानता था और आज भी मानता हूँ। क्यों और कैसे अचानक ऐसा

निश्चय कर लिया, जो केवल वैयक्तिक जीवन के लिए ही एक नया रास्ता नहीं बताता था, बल्कि देश के सार्वजनिक जीवन के लिए भी एक नया दरवाजा खोल देता था। हाँ, हमारे सामने अपने दो मित्रों का, जो वहाँ पहले से ही गांधीजी के साथ आये थे, निश्चय था। पर हमारे साथ आये हुए मजहरुलहक साहब और ब्रजकिशोर बाबू—दोनों ही उनसे बड़े समझे जाते थे। तो क्या बाबू धरणीधर और बाबू रामनौमी के निश्चय का उनलोगों ने भी बिना सोचे ही अनुसरण कर लिया और हमने भी इनका वैसे ही अनुसरण कर लिया ? क्या यह केवल एक भेड़-धसान था ? यह सब विचार-विश्लेषण कुछ क्षण के बाद किया जा सकता है। पर उस क्षण में—मुझे जहाँ तक स्मरण है—मैंने कोई विशेष विचार नही किया। और, मे जैसा ऊपर कह आया हूँ, पहली मुलाकात का मेरे जानते कोई इतना बड़ा असर नही हुआ था कि स्वर्गीय गोखले की मुलाकात अपने गहरे असर के बावजूद जो नहो कर सकी थी, वह यह कर देती। तो भी ऐसा हुआ। हो सकता है कि बापू की आकर्षण-शक्ति ने परोक्ष में काम किया और हमको उनके असर का पता भी न लगने दिया।

मैंने मुलाकात के पहले की बातो का इतना विस्तार-पूर्वक इसलिए वर्णन किया है कि पाठक पूरी तरह से सही बातों से परिचित हो जायें; क्योंकि जो कुछ उन चन्द दिनों में गांधीजी ने चम्पारन में किया उसी का विस्तार असहयोग-आन्दोलन द्वारा सारे देश में भी किया। वहाँ पर उन्होंने पीपल का वह बीज रोप दिया जिसको किसी ने देखा भी नही, और समय पाकर वही अंकुरित हो विशाल वृक्ष हो गया जिसके साये में देश ने विदेशी राज्य से मुक्ति पाई और जिसके साये मे हम सच्चे अर्थ का स्वराज्य पाने की आशा रखते है।

थोड़ा और इस पर विचार करके देखे। गरीब जनता की दुख-भरी कहानी ने उनको आकर्षित किया; पर जबतक वह सब बातो की पूरी तरह जॉच न कर लें और उनका यह अपना विश्वास पक्का न हो जाय कि जिन शिकायतों को वह दूर करना चाहते है वे सच्ची है, वह कुछ करना नही चाहते। यहाँ तक कि बहुत अनुरोध करने पर भी वह कॉग्रेस मे एक ऐसे ढीले-ढाले प्रस्ताव पर बोलने को राजी न हुए जिसमे गवर्नमेंट से केवल इतना ही अनुरोध किया गया था कि वह शिकायतों की जॉच करावे। साथ ही, अवसर पाते ही, उन्होंने जानकारी के लिए जॉच करने का जो वादा किया था उसको पूरा किया। मुजफ्फरपुर पहुँच कर उन्होंने पहला काम यह किया कि वह जो करना चाहते थे उसकी सूचना उन्होंने विरोधियो को दी और उनकी सहायता भी मांगी। दो विरोधी थे—पहले तो थे नीलवर लोग जिनके अत्याचारों के सम्बन्ध मे वह जॉच करने आये थे, और दूसरे थे—सरकारी कर्मचारी जो इन अत्याचारो से प्रजा की रक्षा नही कर सकते थे और जिनके खिलाफ यह शिकायत थी कि वे नीलवरों का पक्ष लेते है तथा गरीबो को सताने मे मदद देते है। इन दोनों विरोधियो के प्रतिनिधियों से उन्होंने मुलाकात की। नीलवरो की सभा के मंत्री और तिरहुत-डिवीजन के कमिश्नर से भी सब बाते कही ओर अपना उद्देश्य बताया तथा उसकी पूर्ति के लिए उनसे मदद माँगी। मदद न मिलने पर भी, और उनके मना करने पर भी, अपना उद्देश्य नही छोड़ा ओर अपने कर्तव्य में लगे रहे। चम्पारन की गरीबी का हाल वह सुन चुके

थे, पर वहाँ पहुँचने के पहले ही मुजफ्फरपुर में ही गाँवों की गरीबी और दुर्दशा का कुछ नमूना देख लिया और यह भी कह दिया कि जबतक इन गाँवों की दशा न सुधरेगी, देश उन्नत नहीं हो सकता।

मोतीहारी पहुँचकर उन्होंने एक मिनट का भी समय नहीं खोया। कमिश्नर से बातचीत के बाद ही शायद उनको आभास मिल गया था कि गवर्नमेंट उनको चम्पारन में जाँच नहीं करने देगी। इसलिए वह जल्द से जल्द वहाँ पहुँचना चाहते थे और गवर्नमेंट की कार्रवाई के पहले जहाँ तक जो कुछ हो सकता था उसे देख लेना चाहते थे। सुनने का काम तो लखनऊ में आरम्भ हुआ, मुजफ्फरपुर और मोतीहारी में जारी रहा। पर देखने का काम मुजफ्फरपुर से ही आरम्भ हो गया और मोतीहारी पहुँचकर तो गहराई में जाने का निश्चय हो गया। केवल निश्चय ही नहीं हुआ, इस निश्चय के अनुसार कार्य भी आरम्भ हो गया। आरम्भ में ही गवर्नमेंट की ओर से विघ्न भी पड़ा। १४४ की नोटिस की अवहेलना का निश्चय भी उसी तेजी के साथ किया गया जिस तेजी के साथ और सब काम किये जा रहे थे। मुकदमा चलने पर अपना बचाव न करके उन सभी बातों को कबूल कर लिया जिनको उन्होंने किया था। उसके लिए जो भी दंड हो उसे दृढ़ता-पूर्वक बर्दाश्त करने का निश्चय भी मजिस्ट्रेट को बतला दिया। यह एक नई चीज थी। उस समय जो बयान उन्होंने दिया था उसमें एक प्रकार से उनके उसी बयान की प्रतिध्वनि मिलती थी, जो उन्होंने १९२२ में अपने ऊपर राजद्रोह का मुकदमा चलने पर अहमदाबाद के सेशन-जज के सामने दिया था। वह बयान यहाँ नीचे दिया गया है। परिश्रम और दत्तचित्तता का नमूना हमलोगों के लिए तो क्या था, पर उनके जीवन का एक अङ्ग बन गया था। सादगी तथा संयम भी हमारे लिए नये थे, पर उनके जीवन के तो वे भी पहले से ही अङ्ग बन गये थे, जो दिन-दिन और भी वैसे ही बढ़ते गये जैसे-जैसे कार्यक्षेत्र बढ़ता गया।

अहमदाबाद का बयान*

"मेरे सार्वजनिक जीवन का आरम्भ १८९३ में, दक्षिण अफ्रिका में, विषम परिस्थिति में हुआ। उस देश के ब्रिटिश अधिकारियों के साथ मेरा पहला समागम कुछ अच्छा न रहा। मुझे पता लगा कि एक मनुष्य और एक हिन्दुस्तानी के नाते वहाँ मेरा कोई अधिकार नहीं है। मैंने यह भी पता लगा लिया कि मनुष्य के नाते मेरा कोई अधिकार इसलिए नहीं है कि मैं हिन्दुस्तानी हूँ!

"पर मैंने हिम्मत न हारी। मैंने समझा था कि भारतीयों के साथ किये जानवाले दुर्व्यवहार का दोष एक अच्छी खासी शासन-व्यवस्था में यों ही आकर घुस गया है। मैंने खुद ही सरकार के साथ दिल से सहयोग किया। जब कभी मैंने सरकार में कोई दोष पाया तो मैंने उसकी खूब आलोचना की, पर मैंने उसके विनाश की इच्छा कभी नहीं की।

"जब १८९० में बोअरों की चुनौती ने सारे ब्रिटिश-साम्राज्य को महान विपद में डाल

---

* यह मुकदमा, अहमदाबाद के दौरा-जज के इजलास में, सन् १९२२ में १८ मार्च से शुरू हुआ था।

दिया, तब मैंने उस अवसर पर अपनी सेवाएँ भेंट कीं—घायलों के लिए एक स्वयंसेवक-दल बनाया और 'लेडी-स्मिथ' की रक्षा के लिए लड़ी गई लड़ाइयों में काम किया। इसी प्रकार, जब १९०६ में जूलू लोगों ने विद्रोह किया तो मैंने स्ट्रेचर पर घायलों को ले जानेवाला दल संगठित किया, और जबतक विद्रोह दब न गया, बराबर काम करता रहा। इन दोनों अवसरों पर मुझे पदक मिले और खरीतों तक में मेरा जिक्र किया गया। दक्षिण अफ्रिका में मैंने जो काम किया उसके लिए लार्ड हार्डिञ्ज ने मुझे 'कैसर-ए-हिन्द'-पदक दिया। जब १९१४ में इङ्गलैंड और जर्मनी में युद्ध छिड़ गया तो मैंने लंदन में हिन्दुस्तानियों का एक स्वयंसेवक-दल बनाया। उस दल में मुख्यतः विद्यार्थी थे। अधिकारियों ने उस दल के काम की सराहना की। जब १९१७ में लार्ड चेम्सफोर्ड ने दिल्ली की युद्ध-परिषद् में खास तौर से अपील की, तो मैंने 'खेड़ा' में रँगरूट भरती करते हुए अपने स्वास्थ्य तक को जोखिम में डाल दिया। मुझे इसमें सफलता मिल ही रही थी कि युद्ध बन्द हो गया, बस आज्ञा हुई कि अब और रँगरूट नहीं चाहिए। इन सारे सेवा-कार्यों में मेरा एकमात्र विश्वास यही रहा कि इस प्रकार मैं साम्राज्य में अपने देशवासियों के लिए बराबरी का दर्जा हासिल कर सकूँगा।

"पहला धक्का मुझे रौलट-ऐक्ट ने दिया। यह कानून जनता की वास्तविक स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिए बनाया गया था। मुझे एसा महसूस हुआ कि इस कानून के खिलाफ मुझे जोर का आन्दोलन करना चाहिए। इसके बाद पंजाब के भीषण कांड का नम्बर आया। इसका आरम्भ हुआ जलियाँवाला-बाग के कत्ले-आम से। इसका अन्त हुआ पेट के बल रेंगाने, खुले आम बेंत लगाने और बयान से बाहर दूसरे अपमानजनक कारनामों के साथ। मुझे यह भी पता लग गया कि प्रधान मन्त्री ने भारत के मुसलमानों को जो आश्वासन दिया कि तुर्की और इस्लाम के तीर्थ-स्थानों की पवित्रता बदस्तूर रक्खी जायगी वह कोरा आश्वासन ही रहेगा।

"वैसे १९१९ की अमृतसर-कांग्रेस में अनेक मित्रों ने मुझे सावधान किया और मेरी नीति की सतर्कता में संदेह प्रकट किया; पर फिर भी मैं इस विश्वास पर अड़ा रहा कि भारतीय मुसलमानों के साथ प्रधान मन्त्री ने जो वादा किया है वह पूरा किया जायगा, पंजाब के जख्म भरे जायँगे और नये मिले हुए 'सुधार' लाख ना-काफी तथा असंतोषजनक होने पर भी भारत के जीवन में एक नई आशा को जन्म देंगे। फलतः मैं सहयोग और मांटेगु-चेम्सफोर्ड सुधारों को सफल बनाने की बात पर अड़ा रहा।

"पर मेरी सारी आशाएँ धूल में मिल गईं। खिलाफत-सम्बन्धी वचन पूरा किया जानेवाला नहीं था। पंजाब-सम्बन्धी अपराध पर लीपापोती कर दी गई थी। इधर अधपेट भूखे रहनेवाले भारतवासी धीरे-धीरे निर्जीव होते जा रहे हैं। वे यह नहीं समझते कि उन्हें जो थोड़ा-सा सुख-ऐश्वर्य मिल जाता है वह विदेशी शोषक की दलाली करने के कारण है और सारा नफा तथा सारी दलाली जनता के खून से निकाली जाती है। वे यह नहीं जानते कि ब्रिटिश भारत में जो सरकार कानूनन कायम है वह इसी जनता के धन-शोषण के लिए चलाई जाती है। चाहे जितने झूठे-सच्चे तर्कों से काम लिया जाय,

में अपनी अप्रीति के कारणों का दिग्दर्शन करा दिया है। किसी शासक के प्रति मेरे मन में किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं है। स्वयं सम्राट के व्यक्तित्व के प्रति तो मुझमें अप्रीति का भाव बिल्कुल नही। परन्तु जिस शासन-व्यवस्था ने इस देश को अन्य सारी शासन-व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचाई है उसके प्रति अप्रीति के भाव रखना मैं सद्‌गुण समझता हूँ। अँगरेजों की अमलदारी में हिन्दुस्तान में पुरुषत्व का, अन्य अमलदारियों की अपेक्षा, अधिक अभाव हो गया है। जब मेरी ऐसी धारणा है तो इस शासन-व्यवस्था के प्रति प्रेम के भाव रखना मैं पाप समझता हूँ। इसलिए, मैंने अपने इन लेखों में, जो मेरे खिलाफ प्रमाण के तौर पर पेश किये हैं, जो कुछ लिखा है उसे लिख पाना अपना परम सौभाग्य समझता हूँ।

"वास्तव में मेरा विश्वास तो यह है कि इङ्गलैंड और भारत जिस अप्राकृतिक रूप से रह रहे हैं, उससे असहयोग द्वारा उद्धार पाने का मार्ग बताकर मैंने दोनों की एक सेवा की है। मेरी विनम्र सम्मति में, जिस प्रकार अच्छाई से सहयोग करना कर्तव्य है उसी प्रकार बुराई से असहयोग करना भी कर्तव्य ही है। इससे पहले, बुराई करनेवाले को क्षति पहुँचाने के लिए हिंसात्मक ढंग से असहयोग प्रकट किया जाता रहा है। पर मैं अपने देशवासियों को यह बताने की चेष्टा कर रहा हूँ कि हिंसा बुराई को कायम रखती है, अतः बुराई की जड़ काटने के लिए यह आवश्यक है कि हिंसा से वे बिल्कुल अलग रहें। अहिंसा का मतलब यह है कि बुराई से असहयोग करने के लिए जो कुछ भी दंड मिले उसे स्वीकार कर लें। अतः मैं यहाँ उस कार्य के लिए, जो कानून की निगाह में जानबूझ कर किया गया अपराध है और जो मेरी निगाह में किसी नागरिक का सबसे बड़ा कर्तव्य है, सबसे बड़ा दंड चाहता हूँ और सहर्ष उसे ग्रहण करने को तैयार हूँ। आपके जज और असेसरों के सामने सिर्फ दो ही मार्ग हैं। यदि आप लोग हृदय से समझते है कि जिस कानून का प्रयोग करने के लिए आपसे कहा गया है वह बुरा है और मैं निर्दोष हूँ, तो आप लोग अपने-अपने पद से इस्तिफा दे दें और बुराई से अपना सम्बन्ध तोड़ लें। अथवा, यदि आपका विश्वास हो कि जिस कानून का प्रयोग करने में आप सहायता दे रहे हैं वह वास्तव में इस देश की जनता के मंगल के लिए है और मेरा आचरण लोगों के अहित के लिए है, तो मुझे बड़े से बड़ा दण्ड दें।"

चम्पारन में पहुँचते ही उनको अनायास कुछ काम करनेवाले भी मिल गये जिन्होंने, हो सकता है, बिना जाने-बूझ और बिना सोचे-बिचारे, उनका अनुकरण किया। चम्पारन का छोटा क्षेत्र था, इसलिए थोड़े ही लोगों के थोड़े दिनों तक काम करने की जरूरत थी। जब देश-व्यापी विदेशी राज्य से मुक्ति प्राप्त करने का और स्वराज्य स्थापित करने का महान कार्य उन्होंने अपने हाथ में लिया तो क्या देश के लाखों-लाख स्त्री-पुरुषों ने ठीक वैसा ही उनका अनुकरण नहीं किया जैसा चम्पारन में चन्द लोगों ने किया था? क्या देश ने वह त्याग करके नहीं दिखलाया जिसकी केवल तैयारी ही करना चम्पारन के काम के लिए काफी साबित हो गया? अन्त में चम्पारन में सफलता मिली और पूरी सफलता मिली; क्योंकि नीलवरों का जुल्म, जिसको दूर करने वह गये थे, खत्म हो गया। साथ ही, गवर्न-

मेंट और नीलवरों के साथ उनका सम्बन्ध अच्छा रहा। बहुतेरे अनुभव मधुर साबित हुए, और यह तब जब ऐसा मालूम होता था कि गांधीजी की कार्रवाइयों से उन दोनों का बहुत बड़ा नुकसान होगा, और उस समय शायद हुआ भी; पर अन्त में वे नीलवर अपनी कोठियों, जमीनों और दूसरे प्रकार के माल-मवेशियों को अच्छी कीमत पर बेच पैसे लेकर खुशी-खुशी घर गये। हिन्दुस्तान की स्वराज्यप्राप्ति का भी ठीक ऐसा ही फल अबतक हुआ है और जो बाकी है वह आगे वैसा ही मधुर होगा। देखने में तो अँगरेजों का साम्राज्य खतम हो गया, पर उसके खतम होने पर भी अँगरेजों और हिन्दुस्तानियों के बीच सद्-भावना बढ़ गई है और मेरा विश्वास है कि अन्त में अँगरेज हमारी स्वराज्य-प्राप्ति से नुकसान नहीं उठायेंगे—लाभान्वित होंगे। चम्पारन में भी एक जबरदस्त नीलवर था जो अन्त तक, सब कुछ हो जाने के बाद भी, विरोधी बना रहा। पर उसका कोई खास असर न तो चम्पारन के लोगों पर पड़ा और न दूसरे ही लोगों पर। क्या मि० चर्चिल की वही हालत नहीं हुई जो चम्पारन में मि० इर्विन की थी? इसलिए मैंने उस समय भी सोचा था और आज भी लिख रहा हूँ कि गांधीजी के स्वराज्य-आन्दोलन का बीज चम्पारन में ही बोया गया और उसी तरह वह फूला-फला जिस तरह हमने चम्पारन में उसको छोटे पैमाने पर फूलते-फलते देखा था। मैंने 'चम्पारन में महात्मा गांधी' नामक अपनी पुस्तक १९१९ में लिखी थी। उसकी भूमिका में मैंने निम्नलिखित प्रकार से लिखा था। उस समय असहयोग-आन्दोलन का अभी आरम्भ ही था—इसमें कितनी विघ्न-बाधाएँ आयँगी, कितनी मुश्किलों को हल करना होगा और उसका क्या नतीजा होगा, हम देख नहीं सकते थे। इसका भी अनुमान नहीं था कि इसमें कितना समय लगेगा, पर जैसा चम्पा-रन के अनुभव ने मुझे बतलाया था, मेरी आशा थी कि यह महान कार्य भी उसी प्रका सिद्ध होगा और हुआ भी है।

'चम्पारन में महात्मा गांधी' की भूमिका

"यह पुस्तक सन् १९१८ और १९१९ की दुर्गापूजा की छुट्टियों में लिखी गई थी, पर कई कारणों से आजतक पाठकों की सेवा में उपस्थित नहीं की जा सकी। इस पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को विदित हो जायगा कि सत्याग्रह और असहयोग के समबन्ध में जो कुछ महात्मा गांधी ने सन् १९२० से सन् १९२२ तक किया, उसका आभास चम्पारन के झगड़े में ही मिल चुका था। दक्षिण अफ्रिका से लौटकर महात्मा गांधी ने महत्त्व का जो पहला काम किया था वह चम्पारन में ही किया था। उस समय भारतवर्ष में 'होमरूल' का बड़ा शोर था। जब हम महात्माजी से कहते कि वह उस आन्दोलन में चम्पारन को भी लगा दें तब वह कहा करते थे कि जो काम चम्पारन में हो रहा है वही 'होमरूल' स्थापित कर सकेगा। उस समय देश शायद ही इस कार्यक्रम के महत्त्व को समझता रहा हो, और न हम ही ऐसा समझते थे। पर आज, जब हम उस समय की कार्यशैली पर विचार करते हैं और गत तीन-चार वर्षों के राष्ट्रीय इतिहास की ओर ध्यान देते है तब, जान पड़ता है कि यह महान आन्दोलन

जो आज जारी है, चम्पारन की घटना का ही एक अत्यन्त विस्तृत और विराट रूप है। यदि 'चम्पारन' और 'खेड़ा' के इतिहास इकट्ठे कर लिये जायँ तो जो कुछ असहयोग अथवा सत्याग्रह-आन्दोलन ने किया है, अथवा करने की इच्छा रखकर भी अभी तक नहीं कर पाया है, वह सब बातें उनमें वर्तमान पाई जायँगी। जिस प्रकार भारतवर्ष को अन्याय और दुराचार के भार से दबता हुआ देखकर महात्माजी ने असहयोग-आन्दोलन आरम्भ किया, उसी प्रकार चम्पारन की प्रजा को भी अन्याय और अत्याचार के बोझ से दबती हुई पाकर और उसका उद्धार करना अपना कर्तव्य समझकर उन्होंने वहाँ भी पदार्पण किया था। जिस प्रकार भारतवर्ष ने सभाओं तथा समाचारपत्रों और कौंसिलों में प्रस्तावों तथा प्रश्नों के द्वारा आन्दोलन कर कुछ सफलता प्राप्त न करने पर ही सत्याग्रह और असहयोग आरम्भ किया, उसी प्रकार चम्पारन में भी यह सब कुछ करके थक जाने पर ही वहाँ की जनता ने महात्मा गांधी को निमन्त्रित किया था। जिस प्रकार वर्तमान आन्दोलन में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को अपना अनन्य सिद्धान्त रखकर देश को उसे स्वीकार करने की शिक्षा दी है, उसी प्रकार उस समय भी चम्पारन की दरिद्र, अशिक्षित और भोलीभाली प्रजा को व्याख्यानों के द्वारा नहीं, बल्कि अपने कार्यों के द्वारा शिक्षा दी थी। और तो क्या, जिस प्रकार आज अपने ऊपर कष्ट उठाकर, जान-बूझकर अपने को मुसीबत में डालकर, देश का उद्धार करने का मनसूबा महात्माजी ने देशभर के के लोगों में पैदा कर दिया है, उसी प्रकार स्वयं जेल के लिए तैयार होकर, और सब प्रकार कष्टों को भुगतने केलिए प्रस्तुत होकर, उन्होंने वहाँ की प्रजा को भी वही सिद्धान्त सिखाया। जिस प्रकार वहाँ सरकारी अफसरों ने महात्माजी के उद्देश्य को और प्रजा के कष्टों को और उनके साथ किये गये अन्यायों को जानकर भी पहले महात्माजी को रोकना चाहा था और जेल भेजने तक का प्रबन्ध किया था, उसी प्रकार इस महान आन्दोलन में भी उन्होंने वही किया है। महात्माजी के चम्पारन जाने के पूर्व ही वहाँ प्रजा ने समय-समय पर घोर आन्दोलन किया था, कभी-कभी असहयोग करने की भी चेष्टा की थी; पर उस आन्दोलन और उस असहयोग की नींव अहिंसा पर नहीं थी। और, सरकार या नीलवर, जिनका विश्वास आजतक हिंसा में अटल बना हुआ है और जिनके पास उसके लिए सामग्री भी पूरी प्रस्तुत है, उनको हिंसात्मक आन्दोलन में बराबर दबाते और पराजित करते गये। इस आन्दोलन में भी जहाँ हम इस मौलिक सिद्धान्त से विचलित हुए हैं वहाँ अपनी हार की सामग्री स्वयं जुटाते गये हैं। यदि हम उसी सिद्धान्त को सामने रखकर इस आन्दोलन को बढ़ाते जायँगे तो इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार चम्पारन में सफलता प्राप्त हुई थी और जैसा आज पंजाब के अकाली एक नमूना भारतवर्ष के सामने रख रहे हैं, और अपनी कार्यसिद्धि में सफलता भी प्राप्त करते दीख रहे हैं, उसी प्रकार इस व्यापक आन्दोलन में भी सफलता अवश्यम्भावी है। चम्पारन में जिस प्रकार सरकार ने स्वयं उन बातों को स्वीकार कर लिया जिनको वहाँ की प्रजा प्रायः ६० वर्षों से—रो-रोकर और कभी-कभी झगड़-झगड़ कर—जताना चाहती थी, उसी प्रकार इसमें भी अन्त में सरकार और सरकारी अफसर—जो कुछ भारतवर्ष चाह रहा है उसे—स्वीकार करेंगे।"

उनकी सहायता करना, अत्याचारों को रोकने के लिए इंगलैंड में जनमत जाग्रत करना इत्यादि। इसी सिलसिले में गांधीजी से दक्षिण अफ्रिका में उनकी केवल मुलाकात ही नहीं हुई थी, घनिष्ठता भी हो गई थी। अंग्रेजों में भी उनका काफी आदर था और हिन्दुस्तान में वाइसराय तक पहुँच थी। वह इसी प्रकार के काम में फीजी जा रहे थे; और वहाँ जाने के पहले गांधीजी से सलाह-मशविरा कर लेने के लिए वह चम्पारन आये। ऐसे काम में वह हमेशा गांधीजी से राय-बात करके ही कदम उठाया करते थे।

एण्डरूज से हम लोगों की यह पहली मुलाकात थी। ऐसा अंग्रेज हमने कभी पहले देखा ही नहीं था। कपड़े तो अंग्रेजी काट के पहने हुए थे, पर बहुत ढीले-ढाले। सारी दुनिया में कई बार चक्कर लगा चुके थे, तो भी इतने सीधे-सादे कि समझ में नहीं आता था कि वह किस तरह इतना काम और इतना सफर कर सकते हैं। उनके आने की खबर शायद पहले नहीं मिली थी, इसलिए उनको लेने के लिए स्टेशन कोई नहीं गया। वह रेल से उतरकर एक इक्का भाड़ा करके स्टेशन से रवाना हुए। इक्का ऐसा था कि उसपर एक तरफ बगल में पैर लटका कर बैठना पड़ता था। इस तरह के इक्के की सवारी का उनको अनुभव नहीं था। पैर लटका कर जो बैठे तो इस तरह बैठे कि उसके पहिये से उनका एक पैर छू जाता था और पहिया जब घूमता तो उससे पैर घिसता था। पर इसकी खबर उनको न थी! निवास-स्थान तक पहुँचते-पहुँचते चमड़े के जूते का वह अंश, जो पहिये से लगता था, घिसते-घिसते कट गया! शायद पैर के चमड़े तक पहिया पहुँच चुका था, पर जब उतरे तब ही इसका पता उनको चाहे दूसरों को लगा।

गांधीजी उनको देखकर प्रसन्न हुए और अपने हाथों नीबू काट-निचोड़ शर्बत तैयार करके उनको दिया। यह पहला अवसर था जब हमने गांधीजी को एक पुराने मित्र की खातिरदारी करते और अपने हाथों उसकी सेवा करते देखा। चन्द दिनों के बाद से ही इस तरह के प्रेम का प्रदर्शन ही नहीं, बल्कि उसका अनुभव भी हम लोगों को नसीब हुआ—जब वह स्वयं अपने हाथों हम सबको खिलाने लगे। एण्डरूज वहाँ दो-तीन दिनों तक ठहर गये। जब उनके जाने की बात चलने लगी तो हम लोगों ने सोचा कि वह कुछ दिनों तक अगर रह जाते तो अच्छा होता। उनसे पहले हम लोगों ने अलग बातें की और ठहर जाने का अनुरोध किया। उन्होंने उत्तर दिया कि उनको फीजी जाना है, जिसके लिए जहाज पर जगह वगैरह का इन्तजाम हो चुका है और वहाँ काम भी है, तो भी हम लोगों का अनुरोध मानकर वह ठहर सकते हैं—अगर गांधीजी इस बात की इजाजत दें। उन्होंने हम लोगों की तरफ से यह बात गांधीजी के सामने पेश भी की। हम लोगों ने भी इस पर जोर दिया। गांधीजी राजी नहीं हुए। जब उनसे बहुत आग्रह किया गया तो उन्होंने यह जवाब दिया कि आप लोग जितना ही आग्रह कर रहे हैं उतना ही हमारा विचार दृढ़ होता जा रहा है कि एण्डरूज को चम्पारन में न रहकर फीजी जाना ही चाहिए। खुलकर उन्होंने कहा—"मैं समझ गया हूँ कि आप लोग क्यों इतना जिद कर रहे हैं। आप लोगों के दिल में जो बात है वह

भी मैंने जान ली है और जिस कारण से आप इनको रोकना चाहते हैं उसी कारण से मैं इनको जल्द-से-जल्द यहाँ से रवाना कर देना चाहता हूँ। आप समझते हैं कि यहाँ हमारा संघर्ष अंग्रेज नीलवरों से है। यहाँ के जिला-मजिस्ट्रेट तथा दूसरे बड़े अफसर भी अंग्रेज हैं। सूबे के गवर्नर और दूसरे ऊँचे अधिकारी तो अंग्रेज हैं ही। एण्डरूज भी अंग्रेज हैं। इनका प्रभाव अंग्रेजों में और गवर्नमेंट पर भी काफी है। गवर्नमेंट ने अगर सख्ती करना चाहा तो एण्डरूज-जैसे अंग्रेज का हम लोगों के बीच रहना अच्छा होगा और उससे हमको मदद मिलेगी। आपके दिल में डर है और एण्डरूज का आप सहारा चाहते हैं। मैं इस डर को आपके दिल से निकालना चाहता हूँ। नीलवरों से अगर संघर्ष हुआ तो उसमें हम किसी अंग्रेज की मदद से—चाहे वह एण्डरूज ही क्यों न हों—कहाँ तक सफलता प्राप्त कर सकेंगे ? हमको तो निडर हो अपनी शक्ति पर विश्वास रखकर काम करना होगा; तभी सफल हो सकेंगे। इसलिए यह हमारा निश्चय है कि एण्डरूज को यहाँ से जाना ही चाहिए। कल ही सवेरे की गाड़ी से वह रवाना हो जायँगे। फीजी का काम भी तो जरूरी है। वह भी छोड़ा नहीं जा सकता।"

हम लोगों से इतना कहकर उन्होंने एण्डरूज से कहा कि कल सवेरे चले जाने के लिए तैयार हो जाओ। उनको तैयार होना क्या था, वह तो तैयार थे ही। इससे हमलोगों को कुछ थोड़ी निराशा-सी हुई; पर हमने देखा कि हमारे दिल की बात को उन्होंने ठीक समझ लिया है, इसका असर हमलोगों के दिल पर बहुत पड़ा। निर्भयता का यह वस्तुपाठ हमलोगों को कार्यारम्भ में ही मिल गया। हमने देखा कि इससे हमको लाभ हुआ है। इस तरह दिन-दिन निर्भयता और हर प्रकार से स्वावलम्बन का पाठ हमको मिलने लगा। दूसरे दिन रवाना होने के पहले एण्डरूज, जो उतने ही दिनों के अन्दर जिला-मजिस्ट्रेट और दूसरे अधिकारियों तथा कुछ नीलवरों से भी मिल चुके थे, जिला-मजिस्ट्रेट से बिदा लेने गये। मुकदमे के फैसले की तारीख अभी एक-दो दिन के बाद थी। पर मजिस्ट्रेट के पास गवर्नमेंट का हुक्म उस दिन आ चुका था कि मुकदमा उठा लिया जाय और गांधीजी को जाँच करने दिया जाय। उसने एण्डरूज को यह बता दिया और कह दिया कि बाजाब्ता हुक्म कुछ देर में पहुँचेगा। एण्डरूज आये और रवाना होने के पहले यह खुशखबरी हमको सुना गये। यह खबर पाने के बाद उनका जाना हमलोगों को ज्यादा नहीं अखरा। गांधीजी ने भी कहा, मुझे कुछ अनुमान हो गया था कि यह तूफान शायद ऊपर ही ऊपर चला जायगा। कुछ देर के बाद बाजाब्ता हुक्म भी आ गया; मुकदमा उठा लिया गया। महात्माजी जिला-मजिस्ट्रेट से मिले। उसने कह दिया कि आप जाँच जारी रख सकते हैं; पर इसका खयाल रखिएगा कि अशान्ति और हलचल न होने पावे।

अब हमलोग रैयतों के बयान बाजाब्ता लिखने लगे। गांधीजी ने बहुत ताकीद करके हमलोगों से कहा कि हो सकता है, जो बयान आपको दिये जायँ उनम कुछ गलत भी हों या कुछ अत्युक्ति हो, आपलोग तो सब वकील हैं; खूब जिरह करके जहाँ तक

आपको सच मालूम हो वही लिखिएगा। इसी तरीके से हम बयान लिखने लगे। यह खबर तुरत जिले में फैल गई कि गांधीजी पर से मुकदमा उठा लिया गया और वह रैयतों का बयान सुन रहे हैं। बहुतेरे रैयत आने लगे। सवेरे से शाम तक हम लिखते रहते, तो भी सबका बयान हम नहीं लिख पाते थे।

अभी यह काम शुरू हुआ ही था कि हमको दूसरा वस्तुपाठ भी मिला। हम-लोगों को जाँच की इजाजत तो मिल गई, पर साथ ही पुलिस के अफसरों को भी हुक्म था कि सब चीजें देखते-सुनते रहें और सब बातों की खबर अधिकारियों को देते रहें। इसलिए सब-इन्स्पेक्टर प्रायः सारा दिन हमलोगों के इर्द-गिर्द में ही रहा करता था। एक दिन बाबू धरणीधर एक कमरे में चौकी पर बैठे थे। उनके चारों तरफ आठ-दस रैयत घेरे बैठे या खड़े थे। वह उन्हींका बयान लिख रहे थे। सब-इन्स्पेक्टर भी आकर पास ही बैठ गया। यह उनको अच्छा न लगा, पर कुछ बोले नहीं; वहाँ से उठकर दूसरी जगह जा बैठे और बयान लिखने लगे, तो सब-इन्स्पेक्टर वहाँ भी जाकर बैठ गया। वहाँ से उठकर वह फिर तीसरी जगह जा बैठे, सब-इन्स्पेक्टर वहाँ भी जा पहुँचा! तब उनसे यह बर्दाश्त न हो सका; उन्होंने उसे झिड़ककर कहा—"क्यों आप इस तरह हमारे सिर पर सवार रहते हैं? आपको जो कुछ देखना-सुनना हो, कुछ दूर से देखिए-सुनिए।" इस पर उसने वहाँ इतना ही कहा कि उसको तो ऐसा ही हुक्म है। पीछे उसने गांधीजी से जाकर शिकायत की। गांधीजी ने बाबू धरणीधर और हम सबको बुलाकर पूछा कि क्या हुआ है। बाबू धरणीधर ने सब बातें कह दीं। गांधीजी ने पूछा, आप अकेला थे या आपके पास और भी कोई था? उन्होंने उत्तर दिया, बहुत-से रैयत हमको घेरे हुए थे। तब गांधीजी ने पूछा, इनका वहाँ जाना आपको क्यों नापसंद हुआ? उन्होंने उत्तर दिया, इनकी वजह से हमारे काम में बाधा पड़ती थी। गांधीजी ने पूछा—"और रैयतों के रहने से आपके काम मे कोई बाधा नहीं पड़ी; पर इनके जाने से बाधा पड़ी, इसके मानी तो यह हैं कि यह चूँकि पुलिस के आदमी है, इसलिए बाधा पड़ी, इनमें और दूसरों में आपने क्यों विभेद किया, इनको भी रैयतों-जैसा ही क्यों न समझा? मालूम होता है कि पुलिस का डर अभी दिल मे है। इसको निकालना चाहिए। हम कुछ लुक-छिपकर कोई बुरा काम तो कर नहीं रहे हैं। तब, चाहे पुलिस या कोई भी वहाँ क्यों न रहे, डरने की कौन-सी बात है? रैयतों के दिल से भी यह डर निकाल देना चाहिए। उनको जो कुछ कहना है, पुलिस, मजिस्ट्रेट और नीलवरों के सामने भी निडर होकर साफ-साफ कहना चाहिए।"

बात उनकी ठीक थी। उस वक्त तक पुलिस का डर सबके दिल में कुछ-न-कुछ तो रहता ही था। और, यह भी हमेशा दिमाग के सामने रहा करता था कि हमारी बातें अगर पुलिस को मालूम हो जायँ तो न मालूम उसका क्या नतीजा निकलेगा; इसलिए केवल क्रान्तिकारी लोग ही नहीं, दूसरे लोग भी पुलिस से बचे रहना चाहते थे। इधर तो हम लोगों के दिल से पुलिस का डर निकला और उधर पुलिस का इन्सपेक्टर ऐसी बातें सुनकर अप्रतिभ हो गया। उसने सोचा था, गांधीजी से नालिश करके उनको डाँट खिलावेंगे

और एक तरफ से बुहारना शुरू कर दिया। यह देखकर हमलोग अवाक् रह गये। खैर, किसी तरह उनके हाथ से झाड़ू ले ली गई। जहाँ-तहाँ हमलोगों के भी बिस्तर पड़ गये। अन्त में हमलोगों ने यह कैफियत पेश करने की कोशिश की कि हमलोगों न सोचा था, आज रात न आकर अगर कल सवेरे इस मकान में आते तो इसमें कोई बात बिगड़ती नहीं; इस-लिए जब संध्या तक हम यहाँ नही आ सके तो हमने आज आने का इरादा छोड़ ही दिया था। इसपर उन्होंने फिर सब बातें समझाकर हमारे दिल पर इस बात को खूब जमा दिया कि जब एक बार कोई निश्चय कर लिया जाय तो उसे छोड़ना नही चाहिए। यह एक तीसरा वस्तुपाठ था। अपने हाथों अपनी गठरी उठाना, आते ही झाड़ू लगाना—हम सबके लिए बिल्कुल एक नई बात थी; क्योंकि हमारा जीवन उस दिन तक दूसरे ही प्रकार से कटा था। हमने, या हमारी श्रेणी के लोगों में किसी ने, कम-से-कम बिहार में, इस तरह के काम कभी नहीं किये थे। पर इस प्रकार के वस्तुपाठ तो दिन-प्रति-दिन और भी मिले।

हमारी दिनचर्या बहुत ही कड़ी और परिश्रम की रहती। महात्माजी सवेरे बहुत जल्द उठ जाते। उन दिनों सामूहिक प्रार्थना नहीं करते थे—शायद वह अकेले कर लिया करते थे। उनका भोजन, शुरू में कुछ दिनों तक, चिनियाँ-बादाम (मूँगफली) और खजूर था। जब आम मिलने लगा तब आम भी खाते थे। पर अभी कुछ दिनों तक अन्न उन्होंने नहीं खाया। अपना सब काम अपने ही हाथों कर लेते। स्नानादि के बाद अपने कपड़े भी साफ कर लेते। सवेरे से शाम तक लिखते-पढ़ते और रैयतों से मिलते-जुलते रहते थे। जब कभी जरूरत होती, सरकारी कर्मचारियों से मिलते; पर अभी नीलवरों से सीधा सम्पर्क नही हुआ था। हमलोग भी खूब सवेरे उठकर स्नानादि और कुछ जलपान करके, सूर्योदय होते-होते, अलग-अलग एक-एक चटाई और कलम-कागज-दावात लेकर, बैठ जाते और बयान लिखने लग जाते थे। इस तरह करीब ग्यारह-साढ़े-ग्यारह तक बयान लिखते और फिर भोजन इत्यादि करके थोड़ा आराम के बाद एक बजे से फिर बैठ जाते और सन्ध्या तक लिखते रहते। रैयतों की इतनी भीड़ होने लगी कि हम जितने थे, बयान लिखने का काम पूरा नहीं कर सकते थे। इसलिए चन्द दिनों के अन्दर ही दूसरे और कई मित्र आ गये और उसी तरह काम में जुट गये। मेरा अनुमान है कि हम दस-बारह आदमी इस तरह अपनी दूकान लगा लेते और दिन-भर लिखते-लिखते थक जाते, तो भी जितने रैयत आये रहते, सबका बयान पूरा नहीं हो पाता और उनको दूसरे दिन तक के लिए ठहरना पड़ जाता। शाम को उठने के पहले हमलोग बाकी रैयतों के नाम लिख लेते और दूसरे दिन उनके बयान लिख लेने के बाद ही नये आनेवालों के बयान लिखते। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता कि रैयतों को एक दिन से अधिक इन्तजार करना पड़ता।

'मोतीहारी' चम्पारन जिले के दक्षिणी हिस्से के बीच में है। जिले के आधे या उससे भी अधिक उत्तरी हिस्से के बीच में मुख्य स्थान 'बेतिया' है, जहाँ पर बेतिया-राज के महाराज का निवास-स्थान इत्यादि है। मोतीहारी में स्वभावतः दक्षिणी हिस्से के रैयत अधिक आये। उत्तरी हिस्सावाले, दूरी की वजह से, बहुत नहीं पहुँच सके। तो भी

जितने आये उतने के बयान से इतना तो मालूम हो गया कि वहाँ की हालत भी उतनी ही खराब है—और कुछ जगहों की तो दक्षिणी हिस्से से भी खराब है। इसलिए निश्चय किया गया कि रैयतों की सुविधा के लिए, और वहाँ की हालत स्वयं देखने के लिए, बेतिया भी जाना चाहिए था। राजकुमार शुक्ल बेतिया से भी और दूर उत्तर के हिस्से के—जो 'थारू' लोगों के रहने की वजह से 'थरुहट' कहा जाता था—रहनेवाले थे। वह तो चाहते ही थे कि उधर भी गांधीजी जायँ। इसलिए निश्चय हुआ कि दो टोलियों में हम बँट जायँ—एक टोली मोतीहारी मे बयान लिखे और दूसरी बेतिया में जाकर रहे। ओर, हम लोगों में अदल-बदल भी होता रहे जिसमे हर-एक को सारे जिले का परिचय हो जाय। हम लोग एक-एक रैयत का बयान लिखते और उसे पूरा करके महात्मा गांधीजी को दे देते। वह उसे पढ़ लेते। अगर कोई विशेष महत्त्व का बयान होता तो उनको खास तौर से बता दिया जाता कि कोई जरूरी कार्रवाई अगर करनी हो तो कर सके।

एक दिन का जिक्र है कि करीब दस बजे दिन में एक गाँव के रैयतों ने बयान दिया कि उनके गाँव के किसी आदमी को एक नीलवर के कर्मचारियों ने पकड़कर पीटा है और मुर्गीखाने मे ले जाकर उसे बन्द कर रखा है। महात्माजी ने उसे पढ़ते ही हम मे से एक आदमी को हुक्म दिया कि साइकिल पर जाकर तुरत देखो और तहकीकात करके बतलाओ कि इसमें कहाँ तक सचाई है। दोपहरी मे ही वह वहाँ गये, जो पाँच-सात मील की दूरी पर था। उनके वहाँ पहुँचते ही कुछ रैयत जुट गये और कोठीवालों को खबर मिल गई कि गांधीजी का कोई वकील आया है। उन्होंने तुरत उस आदमी को मुर्गीखाने से निकाल दूसरी जगह छिपा दिया; पर पीछे जब छूटा तो खुद आया और उसने सब हालत कह सुनाई। यह तो एक घटना थी। इस तरह की घटनाएँ अक्सर हुआ करतीं। कभी मजिस्ट्रेट को लिखना पड़ता या कही हम लोगो में से किसी को जाना पड़ता। इसका असर यह होता कि जो तत्काल जुल्म होता रहता वह रुक जाता। इससे रैयतों के दिल मे और भी भरोसा बढ़ता।

मोतीहारी में जब हम लोग अलग डेरे पर चले गये और वहाँ अपना इन्तजाम करना पड़ा तो यह प्रश्न उठा कि रसोई कौन बनाये और चौका-बर्तन कौन करे। हम बिहारियो की ऐसी आदत थी कि जिससे हो सकता है वह नौकर रखता है, जो उसका सब काम कर लिया करता है और इस तरह हममें से कई आदमी अपने-अपने नौकर साथ लेते गये थे; तो भी इनमे से कोई रसोई बना नही सकता था, क्योंकि उनमें कोई ब्राह्मण नहीं था और हम कई जातियों के थे। इसलिए एक ब्राह्मण ही एक ऐसा रसोइया हो सकता था, जिसका बनाया भोजन हम सब कर सकते थे। हम मे से प्रायः सभी जाति-पाँति के माननेवाले थे! मैं तो ऐसे ही कट्टर लोगों में से था। घर का कुछ बचपन से ही ऐसा ही संस्कार और प्रभाव पड़ा था। मैं घर से जब बाहर छपरा, पटना, कलकत्ता इत्यादि गया तो भी या तो अपनी जाति के या ब्राह्मण रसोइये की बनाई हुई ही कच्ची रसोई खाया करता। जब हम लोग कलकत्ता गये और वहाँ इडन-हिन्दू-होस्टल में रहने लगे तो वहाँ भी अपने लिए अलग रसोई का इन्तजाम कराया, जिसमें बिहारी ब्राह्मण रसोइया रखा

गया। वहाँ जाति-पाँति की इतनी सख्ती रही कि हम लोगो मे से एक-दो बिहारियों को छोड़कर दूसरे सभी बिहारी, बंगाली ब्राह्मण की बनाई, कच्ची रसोई खाने को तैयार नही थे। इसलिए बिहारी ब्राह्मण खोजकर रसोइया रखा गया। कलकत्ता जाने के बाद मुझमे इतना ही अन्तर पड़ा कि मै कायस्थों की कई उपजातियों के भेद छोड़कर हरएक कायस्थ के साथ, चाहे वह किसी शाखा का हो, खा लेता था; पर किसी दूसरी जाति के आदमी के साथ पन्द्रह वर्षों तक, शिक्षा पाते समय भी या उसके बाद वकालत शुरू करने पर भी, मैंने बंगाली ब्राह्मण तक की बनाई हुई कच्ची रसोई कभी नहीं खाई। हमारे बहुतेरे बंगाली मित्र थे जिनमें से कुछ के साथ बड़ी घनिष्ठता थी और जिनके घर के लोग स्वयं जाति-पाँति के कट्टर माननेवाले थे। उनके ब्राह्मण होते हुए भी मैंने उनके घर की कच्ची रसोई कभी नही खाई थी। यह सब लोग जानते थे और जब कभी खानपान का मौका आता था तो मुझ-जैसों के लिए वे पूरी-मिठाई इत्यादि का प्रबध करते थे, भात-दाल का नही; क्योंकि पूरी-तरकारी पक्की रसोई समझी जाती और भात-दाल कच्ची। यह भाषा बिहार, संयुक्त प्रदेश, राजपूताना इत्यादि मे ही बर्ती जाती है। इसलिए कच्ची-पक्की लेकर मजाक भी हुआ करता। 'जलपान' शब्द तो महात्माजी के लिए एक बड़ा मजाक का शब्द हो गया था। शब्द का अर्थ तो है 'पानी पीना'; पर बिहार मे कुछ खाकर पानी पीते है और जो कुछ खाया जाता है उसी को जलपान कहते है। इसलिए 'जलपान' का अर्थ कुछ खाने का है जिसकी मात्रा खानेवाले और खिलानेवाले की रुचि पर निर्भर करती है। वह इसलिए अक्सर मजाक किया करते थे कि पानी पीने के नाम पर आप लोग इतना खा लिया करते है! और, यह मजाक अन्त तक चलता रहा—जब कभी हमारे-जैसे किसी बिहारी के भोजन करने की बात आती तो महात्माजी जलपान शब्द व्यवहार करके हँसते।

जाति-पाँति की वजह से अब ब्राह्मण रसोइया खोजने की जरूरत पड़ी। महात्माजी ने कहा कि इस तरह जाति-पाँति रखने से काम मे बाधा पड़ेगी और हम मे से हरएक के लिए अलग-अलग चूल्हे जलाने पड़ेगे तथा खर्च भी पड़ेगा, सार्वजनिक काम इस प्रकार नही चल सकता, हमको इसे छोड़ना पड़ेगा; आखिर जब हम सब एक ही काम में लगे हुए है तो हम सबकी एक ही जाति क्यों न समझी जाय? इस तरह समझाकर उन्होने मोतीहारी में ही जाति-पाति तुड़वा दी। हम मे से एक आदमी ने भोजन बनाया और हम सबने मिलकर खाया! इस तरह पहले-पहल किसी दूसरी जाति के आदमी की बनाई हुई कच्ची रसोई मैंने खाई!

चन्द दिनो के बाद उनको पता लगा कि हम लोगों के साथ कई नौकर है। पहले तो बहुत-से लोग दिन-रात घेरे रहते थे और सब कुछ-न-कुछ सेवा करने पर तैयार रहा करते थे। इस तरह, कौन नौकर है और कौन किसी गाँव का आया स्वय-सेवक है, इसका पता नही चलता था। पर मेरे साथ एक स्थूल-काय और देखने मे प्रतिष्ठित रैयत-जैसा नौकर था। वह मोतीहारी मे भी था और जब मै बेतिया पहुँचा तो वहाँ भी साथ था। तब महात्माजी को खयाल आया कि यह कौन आदमी है जो मोतीहारी में भा और

बेतिया में भी इतनी सेवा करता रहता है। उनका खयाल था कि वह भी कोई स्वयं-सेवक है। पर जब उनको मालूम हुआ कि केवल वही नहीं, बल्कि और भी उस प्रकार के सेवक थे जो स्वयंसेवक नहीं थे, तब उन्होंने हम लोगों से कहा कि इस तरह नौकर रख-कर अपना-अपना काम कराना किसी भी देश-सेवक के लिए ठीक नही है और देश-सेवक को तो इन सब बातों में स्वावलम्बी होना ही चाहिए। नतीजा यह हुआ कि एक-एक करके सब नौकर हटा दिये गये, केवल एक आदमी रखा गया जो चौका-बर्तन करता था। हम लोगों ने भी अपने सब काम खुद कर लेना आहिस्ता-आहिस्ता सीख लिया। अपना काम कर लेना कुछ इतना कठिन नहीं होता जितना हम पहले समझते थे। हमने अपने लिए यह नियम बना लिया कि सवरे उठते ही अपने बिस्तर ठीक लपेटकर एक नियत स्थान पर रख दें। उसके बाद नित्यक्रिया-स्नानादि करके अपने कपड़े धो लें और अपने लिए पानी भी भर कर रख लें जिसमें जब जरूरत पड़े तब पानी मौजूद मिले। पानी भरने का काम कम करना पड़ता; क्योकि कोई-न-कोई रैयत मौजूद रहता और वह दौड़कर हमारे हाथों से घड़ा ले लेता और पानी भर देता। इस तरह स्नानादि का काम भी, जिसमें ज्यादा पानी लगता है, आसानी से हो जाता; क्योकि बिहार की प्रथा के अनुसार हम कुँएँ के नजदीक ही खुले मैदान मे स्नान कर लिया करते।

जब श्रीकस्तूर बा वहाँ आ गईं तो रसोई बनाने का काम गांधीजी ने उनके ही सुपुर्द कर दिया। हमलोगों को यह अच्छा नही लगा; क्योंकि हमलोगों की संख्या काफी थी और उनसे इतना काम लेना ठीक नही मालूम पड़ता था। पर गांधीजी ने नही माना और कहा कि उनको आदत है; इसमें कोई हर्ज नही है—हाँ, उनको आप लोग चाहें तो मदद दे सकते है। कृपालानीजी विशेष करके उनकी मदद करते। जब बड़े बर्तनों मे, ज्यादा आदमी होने की वजह से, अधिक चावल राँधना पड़ता तो वह बर्तन 'बा' के लिए भारी पड जाता, तो हमलोगों मे से कोई जाकर उसे उतार दिया करता। 'बा' के आ जाने के बाद गांधीजी अन्न खाने लगे और जब हम सब एक साथ खाने बैठ जाते तो महात्माजी स्वयं अपने हाथों सबको भोजन परस देते। भोजन के बाद हम सब अपने-अपने बर्तन धो लेते और अपने-अपने पास रख लेते। केवल बटलोई इत्यादि माँजने-धोने के लिए एक नौकर था। सन्ध्या के समय पाँच बजे और दिन में प्रायः ग्यारह बजे भोजन हुआ करता और सवेरे हमलोग कुछ जलपान किया करते थे। भोजन के बाद सन्ध्या को हम लोग गांधीजी के साथ टहला करते और इसके लिए कुछ दूर तक चले जाते। टहलकर लौट आने के बाद बयान नहीं लिखा जाता था। हम काम करनेवालों के साथ बैठकर गांधीजी दिन भर के हुए काम पर विचार-विनिमय कर लेते थे; आगे का कार्यक्रम भी सोचकर ठीक कर लेते थे।

मै कह चुका हूँ कि थोड़े ही दिनों के बाद महात्माजी हममे से कुछ को साथ लेकर बेतिया गये। एक दफ्तर हमारा वहाँ भी खुल गया। बेतिया में हजारीमल की धर्मशाला है। उसी के दो-तीन कमरे हम लोगों ने ले लिये। उस धर्मशाला मे उन दिनों ऊपर पक्की छत तो थी, पर कोई कमरा नही था, केवल ऊपर जाने के लिए

सीढ़ियाँ थी, जिनके ऊपर भी छत थी, जिसमे थोड़ी-सी--तीन फीट चौड़ी और छः फीट लम्बी-जैसी--जगह मिल गई थी; महात्माजी के काम करने और रहने की यही जगह थी। दिन भर वह वही काम करते, और रात को वह और हम सभी ऊपर खुली छत पर ही सो जाते। दिन को हम लोग नीचे के कमरों मे रहते। कमरे के अन्दर, बरामदे में और बाहर भी--अहाते में जहाँ-कहीं जगह मिलती--अपनी-अपनी चटाई लेकर बैठ जाते और रैयतों के बयान लिखा करते। भीड़ इतनी हुआ करती कि धर्म-शाला और उसका अहाता खचाखच भरा रहता। कुछ दिनों के बाद बेतिया ही हम-लोगो का मुख्य स्थान हो गया और वही हम अधिक रहने लगे।

चौथा अध्याय

नीलवरों का एक तरीका था—जब वे किसी इलाके के रैयतों को सिर उठाते देखते थे तो कोई-न-कोई बहाना निकालकर उन्हें दबा देने का प्रयत्न करते। उनके लिए बहाना ढूंढ़ निकालना या पैदा कर लेना कोई बड़ी बात नही थी। एक तरीका यह था कि अपनी कोठी के किसी छोटे-मोटे मकान में खुद आग लगवा देते और यह कहकर कि रैयतों ने आग लगा दी है, खूब लूट-मार करते, पुलिस से जुल्म करवाते और कही ज्यादा गम्भीर मामला होता तो अतिरिक्त पुलिस भी बैठवा देते! इस तरह के बयान हम लोगों के सामने कितने ही रैयतों ने किये थे। पर इसका कोई सबूत मिलना कठिन था। बेतिया में हम लोगों ने अखबारों मे पढा कि एक कोठी में आग लग गई है और गांधीजी के चम्पारन आने से हलचल मच जाने के कारण ही ऐसा हुआ है। खबर पढते ही हम लोगों ने घटना की जॉच करनी चाही, पर घटना कुछ दिन पहले की थी। इसलिए हम विश्वास-पूर्वक किसी ठीक नतीजे पर नही पहुँच सकते थे—यद्यपि रैयत जोरों से कह रहे थे कि कोठीवालों ने यह खुद कराया है। खैर, अखबारों में यह बात छपी। मुमकिन है कि शायद स्थानीय अफसरों ने इस बात की रिपोर्ट गवर्नमेंट को भेजी हो। मगर हम लोगों को इसकी खबर नहीं मिली थी। बयान काफी लिखे जाते थे। शायद दस हजार तक बयान हम लिख चुके थे और इसके अलावा बहुत कागज रैयत खोज-खोजकर हमको दे चुके थे। सारे जिले की सभी कोठियों की प्रायः सभी बाते हम लोगों को मालूम हो चुकी थी। गांधीजी भी सभी बातें जान गये थे। इतने मे एक दिन गवर्नमेंट का पत्र आ गया कि गांधीजी ने बहुत रैयतों के बयान सुन लिये और गवर्नमेंट समझती है कि उनकी जाँच पूरी हो गई होगी; इसलिए रेवन्यु-बोर्ड के मेम्बर को—जो ऊँचे पदाधिकारी होते थे और एक सीनियर सिविलियन अंग्रेज अफसर थे—गवर्नमेंट राँची से पटना भेज रही है, गांधीजी उनसे मिलें और बातें करें तथा अपनी जाँच का नतीजा बतावे। पत्र पाते ही हम लोग समझ गये कि स्थानीय अफसरों के लिखने पर ही शायद गवर्नमेंट ने अब जाँच बन्द रखने का सोच लिया है और इसीलिए यह बुलाहट है। गांधीजी ने हम लोगों से कहा कि आप लोगों को तो सभी

बातें मालूम हो गईं, अब एक रिपोर्ट तैयार कीजिए जिसमें रैयतों की सभी शिकायतें—जिन्हें साबित करने के लिए हमारे पास काफी प्रमाण आ गये है—लिखिए और तब हम लोग गवर्नमेंट से उन शिकायतो को दूर करने के लिए कहे। हम लोग मिलकर रिपोर्ट की तैयारी मे लग गये। यों तो हम लोगों ने जितने बयान लिखे थे, उनको अलग-अलग कोठीवार छाँटकर रखा था। इस तरह यह मालूम हो गया था कि किस कोठी के खिलाफ क्या शिकायत है; क्योकि अलग-अलग कोठियों का अपना-अपना तरीका था। उनके खिलाफ जो शिकायते आईं, उनसे अलग-अलग जुल्म के तरीके मालूम हो गये, इसके अलावा यह भी पता लग गया कि जुल्म के सिवा किन-किन कारणों से रैयतों को कष्ट था।

गांधीजी बाबू व्रजकिशोरप्रसाद के साथ पटना गये। वहाँ रेवन्यु-मेम्बर से उनकी मुलाकात हुई। मुलाकात में रेवन्यु-मेम्बर ने इस बात पर जोर दिया कि बयान काफी लिखे जा चुके है, अब गांधीजी को सब तरह की शिकायतों की खबर मिल गई होगी, इसलिए वह जाँच का काम खतम करें और गवर्नमेट को अपनी जाँच की रिपोर्ट दें, ताकि गवर्नमेट उसपर विचार कर सके। उन्होने यह भी बतलाया कि इस जाँच की वजह से बहुत हलचल है और नीलवर घबरा रहे हैं; अब इसकी जरूरत भी नही रह गई। विशेष करके उन्होंने यह कहा कि गांधीजी पर गवर्नमेट का विश्वास है और वह अकेला रहें तो गवर्नमेट को कोई विशेष आपत्ति नही है; पर उनके साथ जो वकील लोग काम कर रहे है, वे पुराने खुराफाती 'हल्ला-करवा' है, जो अपने स्वार्थ के लिए तथा अपनी वकालत चलाने के लिए गांधीजी के साथ हो गये हैं; उनकी कोई जरूरत नही है—गाधीजी उनको हटा दें। गांधीजी ने उत्तर में कहा कि रिपोर्ट तो तुरत बेतिया लौटकर गवर्नमेंट के पास जल्दी भेज देगे, और जाँच के सम्बन्ध मे भी अब पहले-जैसा बिस्तार-पूर्वक बयान न लिखकर सक्षेप मे सारांश लिख दिया जायगा जिसमे समय बचे। जहाँ तक सहकर्मियों के हटा देने का सवाल था, उन्होने साफ-साफ उत्तर दे दिया कि वह ऐसा नही कर सकते है। बातचीत के बाद रेवन्यु-मेम्बर तो राँची चले गये और गाधीजी बेतिया लौट आये। बस एक-दो दिन के अन्दर ही, हमलोगों ने जो रिपोर्ट के लिए मसाला तैयार किया था उसे देखकर, उन्होंने खुद एक छोटी-सी रिपोर्ट तैयार कर ली, जिसमें वे सभी शिकायतें आईं जो रैयतों की तरफ से की गई थी। हमलोगों ने जो रिपोर्ट लिखी थी वह लम्बी थी, क्योंकि हमने केवल शिकायत न देकर उसके समर्थन मे जो सबूत हमारे पास आ गये थे उनका भी संक्षेप में जिक्र किया था। गांधीजी ने इस हिस्से को निकाल दिया, केवल शिकायतों को ही उसमे रखा और यह लिखा कि इन शिकायतों के प्रमाण में हमारे पास काफी सबूत मौजूद हैं। सहकर्मियों के हटाये जाने के प्रस्ताव का उन्होने जोरदार शब्दों में विरोध किया—लिखा कि जिन लोगों के साथ हम इतने दिनों से दिन-रात रहकर काम करते रहे है उनको हम अच्छी तरह पहचान गये है, गवर्नमेंट के किसी भी अफसर को उन्हें जानने-पहचानने का इतना लम्बा और अच्छा मौका नही मिला होगा; अगर गवर्नमेंट का हम (गांधीजी) पर विश्वास है तो उसको यह भी विश्वास करना चाहिए कि हम

यह समझ सकते हैं कि कैसे लोगों के साथ मिलकर काम करना चाहिए और जब हमने अपने साथ उनको रखना ठीक समझा है तो हमारा यह फैसला भी ठीक होगा। साथ में उन्होंने यह भी लिखा कि ये सभी लोग सच्चे और ईमानदार है, अपना सब कारबार छोड़ इस काम मे लगे है; जहाँ तक हमने देखा है—इनके दिल मे गवर्नमेंट के प्रति अथवा नीलवरों के प्रति कोई द्वेष का भाव नही है, यद्यपि ये रैयतो के दुख से प्रभावित होकर उनकी मदद करना चाहते है। अन्त में उन्होंने साफ कह दिया कि वह इस पर राजी नहीं है कि हम कार्यकर्त्ताओं को वहाँ से हटावे।

उस समय तक गांधीजी का कुछ नीलवरो से काफी परिचय हो चुका था। वह उनसे जब-तब मिला भी करते थे। कुछ तो उनको अपने यहाँ आमंत्रित भी करते थे। कुछ यह कहकर बुलाते कि उनके खिलाफ जो शिकायतें की गई है, वे गलत है और अगर गांधीजी उनके यहाँ जायँ तो वे साबित कर देगे कि गलत है—रैयतों से भी इस बात का सबूत दिलवा देंगे। जब कभी वह किसी नीलवर के यहाँ जाते तब वे उनको अपनी सब बातें सुनाते, बताते और दिखलाते कि उन्होंने किस तरह खेती में तरक्की की है। उधर कुछ और लोग भी, जो नालवरों के अपने आदमी हुआ करते थे और जो उनके यहाँ नौकरी किया करते थे, आकर हमलोगों को बहुत बाते बता जाया करते; कभी-कभी तो कुछ कागज भी दे जाते। एक बार एक सरकारी कर्मचारी ने एक रिपोर्ट की नकल हम लोगों को दी। गांधीजी के पास हम लोगो ने ले जाकर उसे दिया। पढ़ने के पहले ही, जब उनको यह मालूम हो गया कि किसी सरकारी कर्मचारी ने इसे लुक-छिपकर हमें दिया है और इसकी बाजाब्ता नकल हमको नही मिल सकती, उन्होंने उस कागज को पढने से इनकार कर दिया और कहा कि इसको वापस कर दो—हम किसी ऐसी चीज को नहीं देखना चाहते जो हमारे पास सीधे और सचाई से नही पहुँच सकती, बल्कि चुराकर लाई गई है। उनके सत्य आचरण का हम लोगों के लिए यह एक नया अनुभव था जिसका असर हम पर बहुत पड़ा।

बहुत दिनों के बाद जब मेरे जेल जाने की नौबत आई तो मैंने देखा कि बहुतेरे भाइयों के पास चिट्ठियाँ लुक-छिपकर आ जाती थी और उनकी चिट्ठियाँ भी चली जाती थी। अखबारो के सम्बन्ध में बड़ी सख्ती थी। जेल में सिवा हफ्तावार 'स्टेटस्मैन' के, जो संस्करण विदेशों के लिए हुआ करता था, दूसरा अखबार १९३०-३४ के सत्याग्रह के समय हम लोगों को नही मिला करता था। लेकिन हम देखा करते थे कि कुछ भाइयों के पास अखबार भी आ जाया करते थे। मेरे ऊपर उसी घटना का इतना असर था कि मैंने कभी न तो बेजाब्ता चिट्ठी ली और न बेजाब्ता कोई अखबार या किताब या कोई चीज भी। कहीं-कही तो जेल के जेलर भी ऐसे कामों में मदद दिया करते थे। गवर्नमेंट का हुक्म था कि चिट्ठी, अखबार, किताबें, कोई चीज—मजिस्ट्रेट के द्वारा नियुक्त निरीक्षक के 'पास' किये बिना—किसी कैदी को न दी जाय। जेल के अधिकारी इस नियम का इस तरह पालन करते कि सेन्सर के पास किये बिना कोई चिट्ठी न देते और सेन्सर के यहाँ से पास होकर आने में बहुत देर लगती। उनसे जब हम

लोगों ने विलम्ब की शिकायत की तो यह रास्ता निकाला कि चिट्ठियों को सेन्सर के पास भेजने के पहले खुद हम लोगों के पास ले आते और पढ़वाकर वापस ले जाते—हमको देते नहीं, और तब, सेन्सर के पास भेज देते; जब वह पास होकर आती तब हम लोगों को देते! इस तरह हमको चिट्ठियों में लिखी सभी बातें मालूम भी हो जातीं और सरकारी नियम का पालन भी हो जाता! मैंने इस तरह से भी कभी कोई चिट्ठियाँ वगैरह नहीं लीं।

एक मर्तबा एक घटना हुई जिसे यहाँ लिख देना अच्छा होगा। जेल के अधिकारी हम लोगों को खुश रखने और आराम पहुँचाने के लिए उत्सुक रहते थे। एक ने मुझ से कहा—"आप लोग देश के लिए अपना सब कुछ छोड़-छाड़कर यह सब कुछ कर रहे हैं और तकलीफ उठा रहे हैं। हम भी तो आदमी हैं। हमारे दिल पर भी असर पड़ता है। देश का प्रेम ज्यादा नहीं, पर थोड़ा तो है ही। पेट के कारण नौकरी करनी पड़ती है। उसी पेट के कारण नौकरी में हमको हजारों बार झूठ बोलना पड़ता है, फरेब करना पड़ता है, चोरी करनी पड़ती है। हम रोज ही यह सब किया करते हैं; तो अगर हजार झूठ में दो-चार भी आपलोगों को आराम पहुँचाने के लिए हम काम में लावें तो उसको अपने हक में हम अच्छा ही समझते हैं। इसलिए आप इसकी चिन्ता न करें।" मेरे सम्बन्ध में तो समझाने पर उन्होंने बात मान ली और मेरे पास इस तरह बेजाब्ता चिट्ठी वगैरह देने की कोशिश नहीं की। पर जो चाहते, उनको उपरोक्त तरीके स दिखला दिया करते।

मुझे यह नहीं मालूम था कि पुस्तकों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कड़ा नियम है। कोई भी पुस्तक, जिसका 'पौलिटिक्स' से कोई भी सम्बन्ध हो, देने की मनाही थी। केवल धार्मिक पुस्तकें, उपन्यास, किस्से-कहानी और इस तरह की हल्की चीजें ही दी जा सकती थी, वह भी सेन्सर के पास करने पर! मैंने महात्माजी के असहयोग-सम्बन्धी लेखों का, विषय के अनुसार अलग-अलग, संग्रह करके उनपर अपनी एक भूमिका—जिसमें एक-एक विषय के सभी लेखों का सारांश होता—तैयार करने का विचार किया। उसे बाहर निकलकर मैं छपवाता। मित्रों ने इसको बहुत पसंद किया। मैंन जेलर से कहा कि आवश्यक पुस्तकें—मुख्यतः महात्माजी के लेखों के संग्रह, जो उस वक्त तक कई जिल्दों मे छप चुके थे—मँगवा दीजिए। कुछ और 'पोलिटिकल इकोनोमी' की पुस्तकें भी मँगवाई। जेलर ने एक साथ ही कई पुस्तके लाकर मेरे पास रख दी। मैं नहीं जानता था कि ये किताबें विना पास किये ही आई हैं और न यह जानता था कि नियम के अनुसार एक ही पुस्तक एक बार दी जा सकती थी। मै अपने काम में लग गया। प्रायः सभी विषयों की—जिनमें महात्माजी के उस समय तक के लेखों को मै विभाजित कर सकता थाभू—मिकाएँ मैंने लिख डाली। कुछ युवक मित्रों ने, जो जेल में थे, मेरे बताये हुए क्रम के अनुसार, लेखों की नकल कर डाली। काम बहुत हद तक पूरा हो चुका था, पर एकबारगी पूरा नहीं हुआ था। मै समझता था कि ये सब पुस्तकें नियमित रूप से आई है; इसलिए मैंने उनको जेल के किसी अफसर से छुपाने की न कभी

सोची और न कभी कोशिश की। सुपरिण्टेण्डेण्ट तो सप्ताह में एक बार आता ही और कुछ बातचीत करके चला जाता। पुस्तक उसकी नजर में जरूर आतीं; क्योंकि कभी-कभी जब वह पहुँचता तब मैं उनसे काम लेता रहता;. पर उसने भी कभी छेड़छाड़ नहीं की। इसलिए मुझे भी कभी शक नहीं हुआ कि ये पुस्तकें अनियमित रूप से आई हैं। एक दिन खबर आई कि जेल-विभाग का सबसे बड़ा अफसर (आई. जी.) आयेगा। जेलर ने आकर कहा कि इन पुस्तकों को मैं अपने पास ले जाकर रखूंगा और जब आई. जी. चला जायगा तो फिर पहुँचा दूँगा। तब मेरे दिल में शक हुआ। मैंने पूछा, क्या ये नियमित रूप से नहीं आई हैं ? फिर मेरे यह कहने पर कि आपने अनियमित रूप से पुस्तकें क्यों दीं, उसने अपनी उपरोक्त फिलास्फी बतलाई, जिसका अर्थ यह था कि हम लोगों की मदद के लिए कुछ अनियमित काम करना, झूठ बोलना तक, वह एक प्रकार से पुण्य का काम समझता था और उसे अपनी दूसरी गलतियों का प्रायश्चित्त मानता था ! मैंने पुस्तकें वापस कर दीं; उनको फिर मेरे पास भेजने की मनाही भी कर दी; क्योंकि मुझे महात्माजी की वह बात बराबर याद रही कि जो काम हम नियम-पूर्वक खुले-आम नहीं कर सकते, उसको लुक-छुप करना झूठ और चोरी है। इसका नतीजा यह हुआ कि जो थोड़ा काम बाकी रह गया था वह पूरा न हुआ। बाहर निकलने पर फिर पूरा करने का समय ही न मिला। पीछे, जो कुछ लिखकर लाया था वह भी, दूसरे सत्याग्रह के समय, सदाकत-आश्रम के जब्त हो जाने पर, खो गया ! पुस्तक नहीं छप सकी !

यह विषयान्तर हो गया। पर इसके साथ एक मजाक, पाठकों के मनोरंजन के लिए, लिख देना बुरा न होगा। गवर्नमेंट का हुक्म था कि कोई पोलिटिक्स की किताब न पास की जाय, केवल मनोरंजन की या धार्मिक पुस्तक ही दी जाय। सेन्सर कुछ बहुत पढ़े-लिखे समझदार नहीं थे, और यदि हों भी तो इतनी पुस्तकों के पढ़ने का उनके पास समय कहाँ था; क्योंकि हम सैकड़ों की तादाद में थे, अगर पुस्तकें आदमी पीछे एक-एक करके भी दी जातीं तो सेन्सर को ही पढ़कर पास करनी पड़ती। इसलिए उन्होंने एक नियम-सा बना लिया था कि जिस पुस्तक के नाम में 'पोलिटिक्स' या 'पोलिटिकल' शब्द आ जाय वह हरगिज पास न की जाय ! इस तरह, पोलिटिकल एकोनोमी की छोटी-मोटी पुस्तकें भी, जो स्कूल में पढ़ाई जातीं, पास नहीं होतीं ! पर कम्युनिज्म-सम्बन्धी किताबें, जिनके नाम में पोलिटिक्स शब्द नहीं आता, पास होकर चली आतीं ! 'ए० बी० सी० आफ कम्युनिज्म' और 'थ्योरी आफ लीजर क्लास'-जैसी पुस्तकें पास हो गई थीं ! शायद सेन्सर ने समझा कि पहली पुस्तक कोई ककहरा-जैसी पुस्तक है और दूसरी में यह बताया गया होगा कि समय किस तरह काटना चाहिए अर्थात् ताश इत्यादि खेलने से उसका सम्बन्ध होगा !

अखबार बाजाब्ता तो नहीं मिलते थे, पर जो चाहता था उसको बेजाब्ता मिल जाया करते थे। खबरें तो सभी को मिल जाया करती थीं। इसका रास्ता जेल के अधिकारियों से मिलकर निकाला गया था। जेलर के औफिस में एक आदमी, जिनकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज थी, रोज चले जाते। वहाँ जेलर वगैरह जो अपने लिए अखबार

मँगाते उनको पढ़कर चले आते। वह सन्ध्या को, भोजन के बाद और कमरों में बन्द होने के पहले, एक जगह खड़े हो जाते। सब लोग उनके चारों तरफ आ जाते। वह सब बातें जबानी सुना देते ! हम लोग कई वार्डों में थे। वह सभी वार्डों में जाकर इसी तरह खबरें सुना देते ! सरकारी हुक्म का पालन तो होता कि अखबार जेल के अन्दर न जाने पाते ; पर कैदियों को अखबार में छपी सभी मुख्य बातों की खबर मिल जाती थी !

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि नीलवरों के आदमी, और सरकारी कर्मचारी भी, हमारी मदद करना अपना धर्म समझते थे। कुछ तो ऐसी मदद थी जिसे हम ले सकते थे; क्योंकि महात्माजी की दृष्टि से उसमें कोई झूठ-फरेब की बात नही थी। इस तरह का एक काम सरकारी कर्मचारियों ने बहुत परिश्रम करके कर दिया। उन दिनों महात्माजी हिन्दी थोड़ी-बहुत जानते तो थे, पर इतनी नहीं जानते थे कि हिन्दी द्वारा ही सब काम कर सकते या कराते। उन्होंने शुरू मे ही हम लोगों से कह दिया कि वह हिन्दी में बातचीत करना पसंद करते हैं; पर इस वक्त जब इतना बड़ा काम हाथ में ले लिया है तो इसमें हिन्दी और अंग्रेजी के झगड़े मे पड़कर वह काम में रुकावट डालना नही चाहते। इसलिए बहुत करके बातें भी अंग्रेजी मे ही करते और लिखने का तो सभी काम अंग्रजी में ही करते। सभी बयान इसीलिए अंग्रेजी मे ही लिखे जाते जिसमें उनको पढ़ लेने में सुविधा हो। हमलोगों का विचार हुआ कि इन बयानों की नकल भी हो जाय तो अच्छा होगा। इत्तिफाक से बेतिया की जिस धर्मशाला में हम लोग ठहरे थे उसी में गवर्नमेंट के सर्वे-सेटलमेंट-विभाग के टाइप करनेवाले कर्मचारी भी रहा करते थे। गांधीजी और हमलोगों के साथ एक ही मकान मे ठहरना उन्होंने अपना बड़ा सौभाग्य समझा। हमलोगों से कहा भी कि दफ्तर जाने के पहले सुबह और दफ्तर से लौटने के बाद रात-भर फुर्सत रहती है, अगर हमलोगों को कुछ टाइप कराना हो तो वे खुशी से कर दिया करेंगे। यह बात हम लोगों को बहुत पसंद आई। पत्र इत्यादि के अलावा सब बयानों की नकल तैयार कर देने को उनसे कहा। बहुत परिश्रम से उन्होंने यह सब काम खुशी-खुशी कर दिया। तीन-चार आदमी थे, जिनमें दो तो बहुत ही होशियार और तेज टाइप करनेवाले थे। उनके परिश्रम का अन्दाजा इसी से लग सकता है कि जब हमने बयान लिखना बन्द किया तबतक प्रायः चौबीस-पच्चीस हजार रैयतो के बयान हम लोगो ने लिख लिये थे—प्रायः दस हजार के पूरा-पूरा और बाकी संक्षेप में। उसके अलावा, जब कमीशन नियुक्त हुआ तो उसके सामने पेश होनेवाले कागजों, चिट्ठी-पत्रो इत्यादि को भी उन्होंने ही टाइप किया। उन्होंने, हम लोग जितने दिन चम्पारन में इस काम में लगे रहे, बराबर यह काम किया—और यह सब किया सन्ध्या के बाद रात को बहुत देर तक जागकर और प्रातःकाल बहुत सवेरे उठकर दफ्तर जाने के पहले तक !

एक दूसरा उदाहरण नीलवरों के कर्मचारियों के सम्बन्ध में देना अच्छा होगा। यह बात मशहूर थी कि एक नीलवर बहुत कड़े मिजाज का बदमाश था। जो जाता, उसको गालियाँ दे देता और मार-पीट भी कर डालता था। उसके गुस्से का शिकार

केवल उसके रैयत ही नहीं होते, उसके उच्च-से-उच्च कर्मचारी भी कभी-कभी हो जाते। महात्माजी को उसकी कोठी में जाना था। उसके कर्मचारियों के दिल में यह डर हुआ कि जैसा यह बदमिजाज है, शायद कहीं महात्माजी के साथ भी बदसलूकी न कर बैठे। इसलिए जब महात्माजी उसके कमरे में मिलने गये तो उसके अपने कर्मचारी इधर-उधर—कहीं बरामदे में, कहीं कोने में—डण्डे इत्यादि के साथ छुपकर इन्तजार करते रहे कि कही अगर उसने कोई बुरा बर्त्ताव किया तो अपनी नौकरी की परवा न करके वही उसे खूब पीटेंगे। पर इसकी नौबत तो कभी आनेवाली थी ही नहीं। बरा बर्त्ताव करना तो उस नीलवर के खयाल में भी कभी नहीं आया था। उसने महात्माजी की बड़ी खातिरदारी की। हाँ, ये सब बातें हमको पीछे उन कर्मचारियों ने ही बताई।

एक दूसरे नीलवर का किस्सा है। उसने महात्माजी को यह कहकर बुलाया कि हम आपको सब कागज-पत्र दिखलाकर साबित कर देंगे कि हमारे खिलाफ जो शिकायतें की गई है, बिल्कुल गलत है। महात्माजी बहुत खुश हुए और उसके यहाँ बैठकर कागज-पत्र देखने लगे। वह जब किसी कर्मचारी से कोई कागज महात्माजी को दिखाने के के लिए कहता तो उसके सामने ही उसके विरुद्ध पड़नेवाले कागजों को भी कर्मचारी पेश कर देते! महात्माजी उसके सामने ही उसके कागजों को पढ़ते-पढते उसके विरुद्ध मिले हुए कागजों को भी, जिन्हे उसके ही अपने आदमियो ने पेश कर दिये थे, पढ़ते और उनके सम्बन्ध मे उससे पूछने लगते कि ये सब बाते तो आपके कागजों मे ही निकल रही है। इसपर वह बहुत चिढ़ा, पर इसमे तो महात्माजी का कोई दोष था नहीं। वह कुछ बोल तो नही सकता था, पर पीछे न मालूम उसने अपने कर्मचारियों के साथ क्या किया। हमने सुना कि कर्मचारियों ने यह कैफियत दे दी कि साहब ने उनको पहले से कागजों को छाँट करके अलग-अलग रखने का हुक्म तो दिया नही था, इसलिए उन्होंने सब कागज मिले-जुले ही पेश कर दिये। पर शायद उन्होने अलग रखे हुए कागजो को भी जान-बूझकर इकट्ठा कर दिया था ताकि पूरा भडाफोड़ हो जाय और उसकी सभी बाते झूठी साबित होकर रहें!

रेवेन्यु-मेम्बर ने रिपोर्ट पाकर गवर्नमेंट के हुक्म से उसकी प्रतियाँ नीलवरों, सरकारी कर्मचारियों और कुछ दूसरे लोगों के पास भी भेज दी थी। साथ ही, पूछा भी था कि गाधीजी की शिकायतों के सम्बन्ध मे उनलोगो को क्या कहना है। इधर उनके उत्तर का इन्तजार हो रहा था, उधर गांधीजी नीलवरो के यहाँ जाते, उनकी बातें सुनते और विशेष घटनाओं की तहकीकात करते या हमलोगों को तहकीकात के लिए भेजते। हमलोग बयान भी लिखते जाते; क्योकि अभी तक बयान लिखवानेवालों का तार टूटा नही था। शायद रैयतों के दिल मे कुछ ऐसा बैठ गया था कि जिसका बयान नहीं लिखा जायगा उसकी तकलीफ दूर नही होगी। हमलोगों को अब बयानों की जरूरत नही थी; फिर भी उनको राजी रखने के लिए उनका बयान संक्षेप मे लिख लिया करते। इस तरह हमारे पास काम काफी रहता।

रिपोर्ट के उत्तर में सरकारी कर्मचारियों तथा नीलवरों ने अपने-अपने बयान गवर्न-मेंट को भेजे। इनमें से कुछ की नकलें उनके दफ्तरों के आदमियों ने ही लाकर हमको दे दीं। कुतूहल और उत्सुकता जरूर थी कि हम उनके उत्तर जान लेते। पर गांधीजी का नियम, जिसका ऊपर जिक्र आया है, कड़ा था। इसलिए हमने नाजायज तरीकों से आये कागजों से कोई लाभ नही उठाया। गांधीजी को यह बात बता दी गई। पर उन्होंने कहा कि यह गुनाह-बेलज्जत है; क्योंकि यह कागज हमारे पास गवर्नमेंट ही भेज देगी, और चन्द दिनों के बाद हमको यह देखने के लिए मिलेगा ही; पर ऐसा अगर न भी होनेवाला हो, तो इसको देखना नहीं चाहिए।

एक-दो और घटनाओं का जिक्र कर देना अच्छा ही होगा।

पाँचवाँ अध्याय

रैयतों की मुख्य शिकायत यह थी कि उनसे जबरदस्ती नील की खेती कराई जाती है जिससे उनका बहुत नुकसान होता है; अगर कोई रैयत इनकार करता है या नीलवर की मर्जी के खिलाफ कोई कुछ करता है, तो उसके साथ बहुत सख्ती और जुल्म किया जाता है। नील से ही बहुत प्रकार के रंग बन सकते हैं, इसलिए वह बहुत मुनाफे की चीज है। वह एक पौधे से बनता है। पानी मे कुछ देर तक पौधे की पत्ती तथा डंठल को रखकर उन्हे खूब मसल देने से सारा रस पानी मे आ जाता है। पौधे मे जो रस रहता है वह पानी मे जब आ जाता है तब पानी को कढाई मे गर्म करके सुखा देने से रंग जम जाता है। इसके लिए पौधे को खेतों मे पैदा करने, खेतों से काटकर पानी-भरे बड़े-बड़े हौजों मे पहुँचाने, पीटने, चूल्हे पर चढाकर सुखाने इत्यादि के लिए काफी मजदूर लगते हैं; और जमीन तो चाहिए ही। जमीन के लिए उन्होने यह बन्दोबस्त किया था कि पहले तो वहाँ के कुछ जमीदारो से, और-और किसानों की तरह, जमीन ले लेते तथा पीछे खेतों को न लेकर जमीदार से ही सारे गाँव का ठेका ले लिया करते—इस शर्त पर कि जमीदार को जो मुनाफा रैयतों से लगान के रूप मे मिलता था वह स्वयं वे ही दिया करेगे और गाँव का सारा इन्तजाम भी खुद किया करेंगे। इस तरह, गाँव में जो गैर-आबाद जमीन होती उस पर तो उनका अधिकार हो ही जाता, रैयतों पर भी हर तरह का अधिकार—जो किसी भी जमीदार का हो सकता है—उनको मिल जाता। जमीदार उधर लगान के तहसील-वसूल की झंझट से बच जाता और इधर उसको नियत समय पर एक-मुश्त आमदनी भी मिल जाती। तो भी जमीदार मामूली तौर से गाँव का ठेका नही देता; क्योंकि गैर-आबाद जमीन के आबाद करने-कराने के अलावा उसको और भी कई तरह का मुनाफा गाँव से होता। इसलिए गाँव का ठेका हासिल करने में वे पुलिस और मजिस्ट्रेट की मदद से छोटे-मोटे जमींदारों पर दबाव डालते। अगर किसी गाँव के एक से अधिक जमीदार होते और उनमें से एक भी किसी कारण से अपने हिस्से का ठेका दे देता, तो दूसरे हिस्सेदारों पर तरह-तरह के दबाव डालकर—कचहरियों में मुकदमे करके, यहाँ तक कि बलवा-फसाद करके

भी—उन्हे इतना तंग किया जाता कि वे भी अपने हिस्से का ठेका दे देते। यह सिलसिला सौ वर्ष या इससे भी अधिक समय से जारी रहा! इस तरह, चाहे जमीदार कोई भी हो, प्राय. सारा जिला नीलवरो के कब्जे मे आ गया था। उन्होने आपस मे राय करके सारे जिले को बाँट लिया था; प्राय. सत्तर कोठियाँ खोल कर एक-एक कोठी के लिए अलग-अलग इलाके कायम कर लिये थे! बिहार मे, सरकारी काम के लिए, जिला कई हिस्सो मे बाँट दिया जाता है। यह प्रथा बहुत पुरानी है, जो मुगलों या यों कहा जाय कि हिन्दू-राजाओं के समय से ही चली आ रही है। ब्रिटिश ने कुछ हेर-फेर के साथ, मुगलो के परगनो और जिलो मे, सूबे को विभाजित करके काम चलाया। पीछे बंगाल-बिहार इत्यादि मे पुलिस-थाने और सब-डिवीजन भी कायम हुए। इस तरह, यदि सरकारी दफ्तर मे देखा जाय कि किस नाम का गाँव कहाँ है तो मालूम होगा कि परगना 'प' थाना 'थ' और सब-डिवीजन 'स' जिला 'ज' मे है। चम्पारन मे इन चीजों के अलावा यह भी मशहूर हो गया था कि वह नीलकोठी 'न' के इलाके मे है। जमीदारो से गाँव का ठेका मिलने मे यह एक सुविधा नीलवरो को थी कि उस जिले मे एक बहुत बडा राज्य 'बेतिया' है, जिसकी जमीदारी मे जिले के प्राय. दो-तिहाई या इससे भी अधिक गाँव है। एक दूसरा राज्य रामनगर है जिसकी जमीदारी मे भी काफी गाँव है। और, एक-चौथाई या इससे भी बहुत कम गाँव ऐसे है, जो दूसरे जमीदारो के है। इसलिए, बेतिया-राज्य और रामनगर-राज्य को अपने हाथो मे कर लेने के बाद नीलवरो को प्राय: सारा जिला ही मिल गया! फिर दूसरे जमीदारो ने भी, कुछ डरकर, कुछ अपनी सुस्ती और आलस के कारण, जमीदारी के प्रबधो की झझट से बचने के लिए, अपने गाँव को नीलवरो के हाथ ठेका दे दिया।

जो जमीन नीलवरो ने अपने कब्जे मे की उसमे वे खुद नील की खेती करते, अपने हल-बैल रखते और मजदूरो से काम लेते। अपनी खेती के लिए जमीन उन्होने कुछ तो गैर-आबाद जमीन को आबाद करके हासिल की और कुछ रैयतो की जमीनो को किसी-न-किसी तरह हथिया कर। जमीन लेने मे साम, दाम, दंड, विभेद—हर तरह की नीति—से काम लिया गया। रैयतो से, खेत आबाद कराने के लिए, जबरदस्ती धर-पकड़ कर काम लिया जाता। मजदूरी भी बराय-नाम दी जाती। उन दिनो जमीन के मुकाबले चम्पारन की आबादी बहुत कम थी। इसलिए वहाँ कोई बेकार नही होता था। सभी लोग खेतों मे अपना-अपना काम किया करते। अपना काम छुड़ाकर—चाहे उससे किसी की खेती खराब क्यो न हो जाय—नील के खेतो मे काम कराया जाता। मजदूर को अपने घर से खाकर काम करना पडता! पर इतना ही नीलवरो के लिए काफी न था, उन्होने हर किसान को मजबूर किया कि उसके पास जितनी जमीन हो उसके एक-चौथाई या कम-से-कम तीन-बटा-बीस हिस्से मे उसको नील की खेती करनी ही होगी। नीलवर के हुक्म के मुताबिक उसके खेतो मे से जो नील के लिए चुन लिये जायँगे उन्ही मे उसको अपने परिश्रम, हल-बैल और खर्च से नील की फसल तैयार करनी ही पड़ेगी। इतना ही नही! फसल तैयार हो जाने पर उसे काटकर कोठी तक

पहुँचा देनी होगी ! यह सब करने के लिए वे फी एकड़ या फी बीघा उसको कुछ दिया करते थे; पर वह इतना कम होता कि किसान को जितना खर्च करना पड़ता उतना भी नही मिल पाता। इस तरह नीलवरों ने एक प्रकार का कानूनी हक हासिल कर लिया था कि वे मजबूर करके नील की खेती करा सकते है। यह चीज कानून मे लिख भी दी गई कि जहाँ इस तरह मजबूर करके अपनी मर्जी के मुताबिक रैयत से नील या कोई दूसरी फसल उपजवाने का हक उन्हें हासिल है, वहाँ वे चाहे तो रैयतो को इस पाबन्दी से मुक्त भी कर सकते है और इसके बदले मे मनमाना मुआवजा ले सकते है—चाहे उसका रूप एक-मुश्त नकद रुपयो का हो या बँधा लगान बढाकर ज्यादा लगान के रूप मे हो, जो उनको साल-साल मिला करे। इन सब बातो से रैयतों को बहुत कष्ट था। जब-जब ऊब कर वे बलवा-फसाद करते तब-तब उनको कुछ दे दिया जाता। नीलवर जिस जमीन में जबरदस्ती नील की खेती कराते उस जमीन का लगान भी रैयतों को देना पड़ता। इस तरह, जो थोडा-बहुत उनको नील बोने के बदले मे मिलता, उसका बड़ा हिस्सा लगान के बदले मे हो मुजरा हो जाता। एक बार उनके बलवा-फसाद का नतीजा यह हुआ कि गवर्नमेंट ने नील-खेत के लगान को रैयतों से वसूल करना बन्द कर दिया। किसी दूसरे बलवे का नतीजा यह हुआ कि नील की खेती के बदले में रैयतों को जो मिलता था उसमे कुछ आने बढ़ा दिये गये; पर इतने से रैयतों को कभी संतोष नही हुआ। इस तरह, उनके शोरगुल करने पर, छोटी-मोटी रियायतें—जो नगण्य थी—गवर्नमेंट उनको दे दिया करती थी; इससे अधिक नही।

इत्तिफाक ऐसा हुआ कि जर्मन किसी दूसरी चीज से रंग बनाने लग गये। इस-लिए नील की कीमत—जिससे सब प्रकार के रंग बना करते थे—इतनी गिर गई कि इतने जुल्म से पैदा की हुई नील मे भी अब मुनाफा नही रह गया। अब नीलवरों को मजबूर होकर नील की सारी खेती छोड़ देनी पड़ती, उनका सारा सिलसिला उठ जाता और रैयतो की सारी मुसीबते खुद-ब-खुद दूर हो जाती। पर नीलवर उसको सहज ही छोड़नेवाले न थे। उन्होने उस कानून का सहारा लिया जो उनको यह हक देता था कि अगर वे किसानो को नील की खेती करने की मजबूरी से मुक्त कर दें, तो इस माफी देने के बदले मे उनसे नकद रुपये या लगान मे मनमाना इजाफा करके मुआवजा ले सकते है। जर्मन रग के कारण उनका जो नुकसान होता उसे उन्होंने गरीब रैयतों के सिर पर डाल दिया और उनसे जबरदस्ती बीस-पच्चीस लाख रुपये नकद वसूल किये ! कई लाख रुपयो का इजाफा लगान मे भी कर दिया। उसके बदले में नील की खेती से माफीनामा लिखकर दे दिया। रैयत कोई नकद पैसे देकर या लगान मे इजाफा कराकर माफीनामा नही लेना चाहता था; क्योंकि वह जानता था कि नील के काम में अब मुनाफा न रहने के कारण ही नीलवर खुद उसका उपयोग छोड़नेवाले है। पर ये नकद रुपये और इजाफे के दस्तावेज़ उनसे जबरदस्ती लिये गये। गवर्नमेंट ने नीलवरों की मदद के खयाल से कोठी-कोठी में दस्तावेज रजिस्ट्री करने के लिए खास रजिस्ट्रार मुकर्रर कर दिया। जो नकद या 'सराबेसी' (शरह-बेशी) देने से इनकार करता वह

पीटा जाता, उसके घर-खेत लूट लिये जाते, उस पर झूठे मुकद्दमे चलाये जाते, उसको कुँओं से पानी लेने की मनाही कर दी जाती, उसके दरवाजे पर अछूतों का इस तरह का पहरा बिठा दिया जाता कि कोई अन्दर मे बाहर न निकल सके, उसके खेतों मे चरने के लिए बड़ी संख्या मे मवेशी हाँक दिये जाते, उसके घर के चारों ओर जो थोडी-बहुत जमीन होती उसे जबरदस्ती जोतकर उसमें कुछ बो दिया जाता कि जिससे एक बहाना मिल जाय कि खुद रैयत या उसके माल-मवेशी की वजह से फसल को नुकसान पहुँचा है, उसके मवेशी पकड़कर मवेशीखाने मे बन्द कर दिये जाते जहाँ से काफी पैसे देकर ही वह उनको छुड़ा सकता, उस पर जुर्माना किया जाता; और भी कितने ही प्रकार से उसके साथ इतनी सख्ती की जाती कि मजबूर होकर उसे 'सराबेसी' मान लेनी पडती या नकद तावान देना पड़ता। इस प्रकार की जबरदस्ती से नील की खेती मे रैयतो को बीस-पच्चीस लाख रुपये नकद देकर और लगान मे कई लाख रुपयों का इजाफा कबूल कर माफी लेनी पड़ी। पर ज्यों ही यह काम पूरा हुआ कि उधर जर्मनी के साथ १९१४-१८ वाली लड़ाई शुरू हो गई। बस, जर्मन रंग बन्द हो जाने के कारण नील की माँग फिर बढ़ गई। नील की खेती मे फिर मुनाफा दीखने लगा। नीलवरो ने, माफीनामा के बावजूद, फिर जबरदस्ती नील की खेती करानी शुरू कर दी! जहाँ नील की खेती नही हो सकती थी उन गाँवों के रैयतों से भी रुपये वसूल करने का उन्होंने दूसरा ही तरीका निकाला; क्योंकि वहाँ तो नील की खेती मे माफी देने की बात थी ही नही, तो भी वहाँ के रैयत नही बचे और उनसे भी काफी रुपये वसूल किये गये!

एक ऐसे ही नीलवर ने, जिसे नील की खेती बहुत कम थी और जिसने दूसरे तरीके से पैसे उगाहे थे, गाधीजी से कहा कि उसके रैयतों को किसी तरह का कष्ट नही है और अगर गाधीजो उसके इलाके मे चले तो रैयत खुद आकर सब बाते कहेंगे। गांधीजी ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और इसके लिए एक तिथि नियत कर दी। उसके खिलाफ भी सैकड़ों रैयतो के बयान हम लोगो के पास थे और हम लोगों को मालूम था कि रैयतों की क्या शिकायते थीं। गाधीजी ने वहाँ जाने के पहले सब बाते जान ली। जहाँ जाना था वह जगह बेतिया से छ-सात मील की दूरी पर थी। गांधीजी ऐसी जगहों मे अक्सर पैदल ही चले जाया करते थे। खूब सवेरे ही उठकर वहाँ के लिए रवाना हो गये। मै भी उनके साथ था। रास्ते मे कुछ रैयत आये और लगे कहने कि आज वे लोग बडी मुश्किल मे पड़ गये है और उनके साथ बडा जुल्म हो रहा है। पूछने पर उन्होंने यह कहा कि साहब ने कुछ रैयतों को सिखा-पढाकर तैयार किया है जो लोग गांधीजी से कहेंगे कि वे बहुत सुखी है और हमारे साहब बहुत अच्छे है—इत्यादि। गांधीजी ने कहा—क्या ऐसी बात नही है, यह सब झूठ है? इस पर उन लोगों ने बहुत जोर देकर कहा, यह बिल्कुल झूठ है। तब गाधीजी ने कहा—जो तुम लोगों को कहना हो, साहब के सामने ही कह देना और सब सच्ची बातें बता देना। इस पर वे बहुत खुश हुए। जब हम लोग वहाँ पहुँचे तो रैयतों की एक छोटी-मोटी जमायत जुट गई। कुछ देर के बाद साहब भी पहुँचा। बेतिया के मजिस्ट्रेट भी

आ गये। उस वक्त तक प्रायः ३००-४०० रयतों की सभा जुट गई। धीरे-धीरे लोगों की भीड़ बढ़ती ही गई।

साहब ने कहा कि हमारे रैयतों को कोई तकलीफ नही है, यहाँ ये लोग आये हुए है, आप खुद इनसे सुन लीजिए। यह कहकर उसने एक आदमी का नाम पुकारा और कहा कि तुमको जो कुछ कहना हो, गांधीजी से कहो। फिर गांधीजी से भी कहा कि इस इलाके मे यह प्रतिष्ठित आदमी है जिसकी सभी लोग इज्जत करते है। वह एक बूढा आदमी था। उसने ज्यो ही यह कहना शुरू किया कि साहब की वजह से हम लोगों को हर तरह का सुख है त्यों ही दूसरे बहुत-से लोग बोल उठे कि यह झूठ बोल रहा है। सब-के-सब उससे कहने लगे कि तुम बूढे हो गये हो, मरने का वक्त नजदीक है, क्यों यह पाप अपने सिर ले रहे हो—इत्यादि। साहब यह हाल देखकर कुछ घबराया; क्योकि वह समझता था—सभा में उसकी तारीफ करनेवाले ही आयॅगे, किसी शिकायत करनेवाले के आने की और उसके सामने ही शिकायत करने की हिम्मत नही पड़ेगी। गांधीजी ने लोगों को मना किया, कहा कि वह सबकी बात सुनेंगे, बूढे को कहने देना चाहिए; जब शिकायत करनेवालों की बारी आयेगी तो वे भी अपनी कह सुनाएँगे। इस पर लोगों ने बूढे को कहने दिया। उसने, और उसके बाद दो-चार और रैयतों ने, उसी तरह का और भी बयान किया। जब उनका कहना खतम हो गया तब दूसरों को कहने का मौका मिला। उन्होंने भी अपना बयान शुरू किया। उनकी शिकायत यह थी कि साहब ने गैर-कानूनी तरीके से लगान मे जबरदस्ती इजाफा कर लिया है; इसके लिए उन्होने हम लोगों के साथ नई जमीन जबरदस्ती बन्दोबस्त कर दी है; उस पर जितना वह इजाफा करना चाहते थे उतना मनमाना लगान रख दिया है, कही-कही तो जमीन है ही नहीं, तो भी एक फर्जी जमीन के नाम पर लगान कायम कर दिया है! इस पर साहब बोल उठा, यह तो बिल्कुल गलत बात कह रहे है, मेरे पास कलकत्ता के बडे-बडे वकीलो की राय मौजूद है और उनकी राय लेकर ही हमने यह सब किया है। उसने यह भी कहा कि जो जमीन हम खुद आबाद करते थे और काफी पैसे पैदा करते थे, इन लोगों के बहुत कहने पर हमने उसी जमीन को बहुत मेहरबानी करके इनके साथ बन्दोबस्त कर दिया है। इस पर रैयत चिल्ला उठे, हम लोगो को वह जमीन नही चाहिए, आप इजाफा छोड दीजिए, अपनी जमीन ले लीजिए। तब गाधीजी ने उससे कहा कि तब आपको इसमे क्या उज्र हो सकता है। उसने कहा, हम ऐसा नही कर सकते है, आखिर हमको भी तो किसी तरह गुजर करना ही है। गांधीजी ने कहा कि आप जब खुद कहते है कि जितना आपको इनसे मिलता है उससे ज्यादा आप खुद पैदा कर सकते है तो अच्छा है कि आप दोनों खुश रहेंगे—आप ज्यादा पैदा कर लेंगे और इनकी शिकायत दूर हो जायगी। पर वह इस पर राजी नही हुआ। उधर रैयत शोर करते रहे कि हम लोग जमीन नही रखेगे, हमारा इजाफा छुड़ा दीजिए।

यह शायद पहला ही अवसर होगा जब चम्पारन के रैयत किसी साहब के सामने रूबरू उसकी शिकायत करें और उसकी बात मानने से इनकार करें। उनमे से एक बूढ़ा भीड़ से बाहर निकल मजिस्ट्रेट की शिकायत करने लगा। उसने कहा—यहाँ हम गरीबों

की कोई नही सुनता; यह मजिस्ट्रेट बैठे है, यह भी इन्साफ नहीं करते; टोपी-टोपी सब एक है; अभी चन्द दिन बीते कि साहब ने हमारा घर लुटवा लिया था, हमारे छप्पर पर जो कुम्हड़े और कद्दू की बेले लगी थी वे उजाड दी गईं, खेत चरवा दिये, और केले के गाछ गिरा दिये गये, यह सब-कुछ अभी भी आप चलकर देख सकते है; जब हम मजिस्ट्रेट के पास नालिश करने गये तो यही मजिस्ट्रेट साहब बेत लेकर हमको ही मारने पर उतारू हो गये। मजिस्ट्रेट का चेहरा लाल हो गया। उसने कहा कि सब-कुछ झूठ कहता है। उस बूढे ब्राह्मण ने उल्टा जवाब दिया कि हम नही झूठ कहते, आप झूठ कह रहे है। मजिस्ट्रेट और कुछ तो नही कह सका, गुस्से से दाँत पीसता हुआ तुरन्त मोटर पर सवार होकर चला गया। उधर महात्माजी ने हम लोगों से कहा कि इन रैयतो मे जो लोग जमीन नही रखना चाहते है उनके नाम लिख लो। सभा तो खतम हो गई। साहब, चला गया। हम लोगों ने सोचा कि रैयतों से बाजाब्ता जमीन का इस्तीफा लिखवाकर दस्तखत करा लिया जाय। वे सब इसके लिए तैयार आये थे। हम लोग सन्ध्या तक इस तरह दस्तखत कराते रहे। इसका कानूनी नतीजा यह होता था कि साहब की जो आमदनी इजाफे से होती थी वह एकबारगी रुक जाती। हम लोगो ने इस्तीफे की उन दरखास्तो को, दूसरे ही दिन बेतिया पहुँचकर, साहब के पास भेज दिया। जो रैयत वहाँ नही आये थे, वे भी बेतिया आकर इस्तीफा लिखकर दे गये। जब ये सब इस्तीफे पहुँच गये तो इसके बाद उसकी कई हजार की वार्षिक आय बन्द हो गई।

मजिस्ट्रेट ने एक लम्बी रिपोर्ट गवर्नमेंट को लिखी जिसका सारांश यह था कि रैयतों मे इतनी खलबली हो गई है कि अब वे केवल नीलवरो को ही नही, बल्कि सरकारी अफसरों को भी कुछ नही समझते है—वे यह समझ बैठे है कि अंग्रेजी राज्य उठ गया है, गांधीजी के पास मजिस्ट्रेट के खिलाफ भी नालिश की जा सकती है—वे मजिस्ट्रेट को भी हिदायत कर सकते है। इस तरह की सभी बाते दूसरी घटनाओ—विशेषकर उस दिन की घटना—के आधार पर उसने लिखी और गवर्नमेंट से इस पर कोई कार्यवाही करने की सिफारिश की। उसका तरीका था कि गवर्नमेंट को जब वह कुछ लिखता था, जिसमें गाधीजी के सम्बन्ध मे कोई बात रहती थी, तो उसे गाधीजी के पास भेज देता था, ताकि उसके उत्तर मे उनको कुछ कहना हो तो वह लिख भेजे और उसको भी वह अपनी रिपोर्ट के साथ गवर्नमेंट के पास भेज देगा। ऐसा ही उसने इस बार भी किया; पर जो पत्र उसने भेजा उसमे कुछ ऐसी बाते थी जिनसे यह आभास मिलता था कि वह समझता है—इस तरह की रिपोर्टो को केवल गांधीजी ही देखते है, हम लोगो मे से कोई उनको नही देखता, क्योंकि उनपर 'गुप्त' लिखा हुआ होता था! पर जो कुछ भी चम्पारन के सम्बन्ध में गाधीजी के पास गवर्नमेंट या और कही से आता था, उसे वह हम लोगों को भी दिखला दिया करते थे। ऐसा ही उन्होने इस बार भी किया। उस पत्र के उत्तर मे उन्होंने लिखा कि उसका यह गलत खयाल है कि वह जो कुछ उनके पास गुप्त भेजता है उसे केवल वही देखते है, उनके सहकर्मी नही। उन्होने साफ कहा कि सार्व-

जनिक काम में 'गुप्त' शब्द का यह अर्थ उन्होंने कभी नही लगाया है कि जिन लोगों के साथ मिलकर वह काम कर रहे है उनसे भी वह चीज गुप्त रखी जाय—इसलिए, इस तरह के जितने कागज अबतक आये है, उन्होंने बराबर हम लोगो को दिखाया है और आगे भी ऐसा ही करेंगे; अगर वह चाहता है कि केवल मै ही किसी चीज को देखूँ और अपने साथियों को न दिखलाऊँ तो वह ऐसी चीज न भेजा करे।

हमलोगो को यह बात थोड़ी खटकी। हम समझते थे कि इस तरह भी सरकारी बातें हमलोगों को मालूम हो जाया करती थी, पर अब तो नही मालूम होंगी, क्योंकि अब वह कोई कागज नही भेजा करेगा; अगर केवल गाधीजी को ही सभी बाते मालूम रहा करें तो इससे कोई हर्ज नही था; हमलोगो को बिना बतलाये भी वह जो मुनासिब समझेंगे, कार्रवाई कर सकेंगे। पर उन्होनेअपना पत्र भेजना जरूरी बतलाया, कहा कि पहले तो उसके दिल मे जो गलत-फहमी है उसको दूर कर देना जरूरी है, दूसरे यह कि वह बगैर हमलोगों की राय के कोई काम कर ही कैसे सकते है, अगर हमलोग सभी बाते नही जानेगे तो राय ही कैसे दे सकेंगे। हमने समझ लिया कि वह कितनी गहराई और सूक्ष्मता से सब बातों को देखते हैं। उसको यह नही मालूम था कि हमलोग सब कागज देखते है और इसी भरोसे पर वह सब तरह के कागज भेजा करता था। गाधीजी ने समझा कि इस गलत-फहमी को वह दूर नही करते है तो यह एक प्रकार से उसको धोखा देना होगा—असत्य आचरण होगा, दूसरे यह कि उसकी बात अगर वह मान भी ले और भविष्य में हमको कागज न दिखलावे, तो भी किसी-न-किसी तरह—बातचीत मे या उनकी किसी कार्रवाई से भी—हमलोगो को वह गुप्त बात मालूम हुए बिना नही रहेगी, और अगर ऐसा हुआ तो यह भी असत्य आचरण होगा; इसलिए उन्होंने इस तरह की बातो को खुद भी न जानना उचित समझा। इसका नतीजा कुछ बुरा नही हुआ, क्योकि इसके बाद भी पहले की तरह गुप्त कागज आते रहे। इसका अर्थ केवल इतना ही समझा गया कि गांधीजी सब लोगो को वे कागज नही दिखलावेगे और अखबारो मे भी वे नही जाने पावेगे। ऐसी छोटी-छोटी घटनाओ से भी हम लोगो को बहुत-कुछ सीखने को मिल जाता था।

इधर तो मजिस्ट्रेट ने गवर्नमेट के पास रिपोर्ट भेजी, उधर एक नीलवर ने एक षडयंत्र रचा। उसकी दो कोठियाँ थी, जिनके बीच मे चार-पाँच मील का फासला था। एक मे वह स्वयं रहता था, दूसरी कुछ छोटी जगह थी जिसमे जाकर वह कचहरी किया करता था और उसके आस-पास के गाँवो का काम भी। उपरोक्त घटना इसी शाखा के इलाके मे हुई थी। उसने रात को उसमे आग लगवा देने का निश्चय किया। पुरानी रीति के मुताबिक, पुलिस-मजिस्ट्रेट की मदद से, लूटपाट मचाकर वहाँ के रैयतो को जेल भिजवाने का भी इरादा किया। इसलिए, उसने वहाँ के अपने एक कर्मचारी के जिम्मे आग लगा देने का काम सौपा। एक नौकर को हिदायत भी दी कि आग लगते ही उसके पास आकर रात को ही खबर दे। खुद अपनी दूसरी कोठी में, जो चार-पाँच मील की दूरी पर थी, रात को इन्तजार करता रहा कि आग लगने की खबर मिलते ही वह मजिस्ट्रेट के पास पहुँचेगा और वहाँ से पुलिस की मदद लेकर गाँव मे लूट-पाट

मचा देगा। दिन को ही रैयतों ने देखा कि उस कचहरी मे कुछ अजीब कार्रवाई हो रही है—उसके कमरे से सब चीजे निकालकर किसी दूसरी जगह हटाई जा रही हैं, कागज-पत्र भी हटाये जा रहे हैं, यहाँ तक कि शीशे के दरवाजे भी निकाले जा रहे हैं। वे लोग आग लगाने की रीति को जानते थे, इसलिए उनके दिल मे यह शक हो गया कि आज कुछ-न-कुछ रात को होनेवाला है। रात को ऐसा ही हुआ भी ; कचहरी का कुछ हिस्सा जल गया। आग बुझा दी गई। कुछ पुराना रद्दी कागज भी वहाँ साथ ही जला दिया गया। यह घटना होते ही रातों-रात वहाँ के कुछ रैयत बेतिया पहुँच गये; कुछ रात रहते ही उन्होंने सब बाते कह सुनाईं। उसी वक्त गांधीजी ने हममे से एक आदमी को वहाँ जाकर सब चीजो का अच्छी तरह मुलाहजा करने और जो कुछ वहाँ हुआ उसका पता लगा लाने के लिए भेज दिया। साहब ने जिस आदमी को अपने पास खबर देने के लिए तैनात किया था वह रात को साहब के पास गया ही नही; क्योंकि वह भी जानता था कि खबर देने का नतीजा यह होगा कि रातों-रात गाँव लूट लिया जायगा और बहुतेरे बेकसूर लोग गिरफ्तार हो जायँगे तथा दूसरे लोग पीटे भी जायँगे। सवेरा हो जाने पर वह साहब के पास एक पुर्जा लेकर, जो आग लगानेवालों ने दिया था, पहुँचा और साहब को दिया। उसपर साहब बहुत बिगडा और पूछने लगा, रात क्यों नही लाया ? उसने बहाना पेश कर दिया कि वह तो ठीक समय पर आया था, पर साहब के कुत्तो ने उसको अन्दर नही घुसने दिया, इसलिए वह डर के मारे बाहर ही बैठा रह गया !

इस तरह, षडयंत्र तो एक प्रकार से विफल हो गया; पर तो भी वह मजिस्ट्रेट और पुलिस के पास गया। जबतक वह पुलिस वगैरह लेकर पहुँचा तबतक हमारे आदमी ने जाकर सब चीजे देखी और गाधीजी को रिपोर्ट कर दी। सबसे मजाक की बात यह थी कि उसने सोचा था—इस अग-लगी से कम-से-कम नुकसान होगा, इसीलिए केवल मकान में रखे सामान को ही हटवाया था, शीशे के दरवाजे भी निकलवा लिये थे; क्योंकि लड़ाई के कारण उन दिनों शीशा बहुत महँगा बिकता था। हमारे आदमी को किवाड़ के कब्जे खोलकर निकाले जाने के दो अकाट्य सबूत मिल गये। गलती से कुछ पेच (कील-काँटे) वही पड़े रह गये थे, उन्हें वह उठा लाये। चौखट मे जहाँ-जहाँ कब्जे जडे हुए थे वहाँ-वहाँ कब्जे हटा देने से सादी लकड़ी दीखती थी; क्योंकि जिस रंग से चौखट और किवाड रँगे गये थे वह कब्जों के नीचे नही पहुँचा था ! रिपोर्ट पाकर गाधीजी ने तुरत एक पत्र मजिस्ट्रेट को लिख भेजा और रिपोर्ट की नकल भी भेज दी। उन्होंने साफ लिख दिया कि रैयत अक्सर कहा करते थे कि कोठीवाले उनको फँसाने और उन पर जुल्म करने के लिए खुद अपनी कोठियों मे आग लगवा दिया करते हैं, पर उसपर वह विश्वास नही किया करते थे; किन्तु इस घटना के सम्बन्ध मे उनके दिल में कोई शक नही रह गया; अतः नीलवरों को अब अपना पुराना तरीका छोड़ना होगा। इस पत्र के बाद पुलिस या मजिस्ट्रेट कुछ भी न कर सके, रैयतों का भी कुछ बिगड़ा नही।

ऊपर से तो वह कुछ नही बोल सके ; पर भीतर-भीतर गवर्नमेंट के साथ लिखा-पढ़ी उनकी चल रही थी। इसके चन्द दिनों के बाद एक पत्र राँची से आया। उसमें लिखा था कि गांधीजी के चम्पारन में आने से रैयतों में बहुत हलचल है, इसलिए उनका वहाँ रहना गवर्नमेंट को ठीक नही मालूम होता—यह जरूरी भी नहीं है ; क्योंकि उन्होंने अपनी जाँच पूरी कर ली है और अपनी रिपोर्ट भी गवर्नमेंट के पास भेज दी है ; गवर्नमेंट भी उस पर विचार कर रही है ; गांधीजी को चम्पारन से हटाने के सम्बन्ध में कोई कार्रवाई करने के पहले लेफ्टिनेंट-गवर्नर चाहते हैं कि गांधीजी उनसे मिल लें। इस तरह, गांधीजी राँची बुलाये गये। पत्र पाते ही हम लोग समझ गये कि गांधीजी अब यहाँ नही रह सकेंगे। हो सकता है कि राँची में ही वे रोक लिये जायँ या अगर लौटें भी तो चम्पारन में उन्हें न रहने दिया जाय। इसलिए, आज फिर वही स्थिति पैदा हो गई जो चम्पारन मे पहुँचने के समय पैदा हुई थी। इतने दिनों तक उनके साथ रहकर उनके काम का तरीका देख और उनसे दक्षिण अफ्रिका की बातें सुनकर हम लोगों ने उनका तरीका समझ लिया था। फिर हम लोग भी तैयार हो गये कि चाहे जो हो, इस काम को तो अब छोडना है नही। गाधीजी ने कहा कि हमारे हाथ में अब इतने सबूत आ गये है कि गवर्नमेंट को मजबूर होकर रैयतों के कष्टों को दूर करना ही होगा ; इसलिए हम मे से सबके सब अगर जेल चले जायँ तो भी गवर्नमेंट को हम-लोगों से ही बाते करनी होंगी।

मै ऊपर कह चुका हूँ कि हम लोगों ने जितने बयान लिये थे, सबकी टाइप की हुई कई प्रतियाँ बन गई थी। उनमें से कुछ तो मोतीहारी और बेतिया में रख ली गई और कुछ हमने दूसरी जगह सुरक्षित रख दी, ताकि हमारे पास की प्रतियाँ अगर बरबाद भी हो जायँ, तो भी कुछ तो मिल ही जायँगी। गाधीजी ने कहा कि इस समय इतनी चिन्ता की जरूरत नही है, पर तुम लोग अगर ऐसा करना चाहते हो तो करो, इसमे कोई हर्ज नहीं है। हमलोगो की दो टोलियाँ बना दी गई—एक मोतीहारी में रहने लगी और दूसरी बेतिया में। मै बेतिया मे ठहरा। बाबू व्रजकिशोर गांधीजी के साथ गये। उनके साथ यह तय पाया था कि जैसे ही महात्माजी की मुलाकात लेफ्टिनेंट-गवर्नर से हो जाय, हमलोगों को तुरत जरूरी तार द्वारा सूचित कर देंगे। मुलाकात का वक्त कोई दस या ग्यारह बजे दिन का था। इसलिए हमलोग समझते थे कि लेफ्टिनेट-गवर्नर से बातें शायद एक घंटा तक हों और यदि एक बजे भी तार वहाँ से दिया जाय तो तीन-चार बजे तक हमलोगों को मिल जायगा।

हमलोग अपने-अपने नियत स्थान पर ठहरे रहे। स्थानीय सरकारी कर्मचारियों का रुख भी कुछ बदला-सा मालूम पड़ता था ; क्योंकि उनको कुछ आभास मिल गया था कि गांधीजी और उनके साथी वहाँ से हटा दिये जायंगे। गांधीजी अकेले ही लेफ्टिनेंट-गवर्नर से मिलने गये। जहाँ दोनों आदमी ठहरे थे वहीं बाबू व्रजकिशोर इन्तजार कर रहे थे। बात कुछ इतनी लम्बी चली कि गाधीजी चार बजे तक भी वापस नहीं आये। बाबू व्रजकिशोर के दिल में भी शक होने लगा कि कही उधर ही से गांधीजी दूसरी जगह

भेज तो नहीं दिये गये। वह इसी उधेड़-बुन में लगे हुए, सड़क की तरफ टक लगाये, देख रहे थे कि गांधीजी आवे या कोई खबर देनेवाला भी आवे। पर गाधीजी पाँच बजे लौटे और मालूम हुआ कि बात अभी पूरी नही हुई है, फिर कल होगी। इसी आशय का तार तुरत वहाँ से उन्होंने भेजा; पर वह तार उस दिन हमलोगों को नही मिला—दूसरे दिन सवेरे नौ बजे के करीब मिला। हमलोग अपने-अपने स्थान पर तार के इन्तजार में बैठे हुए थे; पर कोई खबर दूसरे दिन नौ बजे के पहले नही मिली। तब, हमलोगों ने समझा कि 'दूत बिलम्बी कारज सिद्ध' कहावत के अनुसार कुछ अच्छा ही फल निकलेगा। इस तरह, गांधीजी वहाँ एक दिन के बदले तीन-चार दिनो तक ठहर गये और केवल लेफ्टिनेट-गवर्नर से ही नही, दूसरे अफसरों से भी मिलते रहे। जब लेफ्टिनेट-गवर्नर के दिल पर काफी असर पड़ गया और उसने सोच लिया कि कुछ करना होगा, तब उसने गांधीजी से कहा कि आप हमारे एक्जिक्युटिव कौंसिल के दूसरे मेम्बरो से भी मिलिए और उनको भी सब बातें समझाइए। अन्त मे यह तय हुआ कि गवर्नमेंट एक कमीशन मुकर्रर करेगी। उस कमीशन को, रैयतों की शिकायतों के सम्बन्ध मे जाँच करके, रिपोर्ट देनी होगी कि जो जायज शिकायत हो वह किस तरह दूर की जाय।

सर एडवर्ड गेट की ख्वाहिश थी कि गाधीजी भी उस कमीशन के मेम्बर हो ओर सरकारी अफसरों के अलावा नीलवरो तथा जमीदारो के प्रतिनिधि भी। सरकारी अफसरो ने सिविल-सर्विस के ऐसे आदमियो को चुनकर दिया जिनका उसमे रहना, उनकी विशेष जानकारी और उनके कानूनी ज्ञान के कारण, जरूरी समझा गया था। रैयतो का प्रतिनिधि गाधीजी के सिवा दूसरा कोई न था। गाधीजी ने कहा कि मै तो कमीशन के सामने रैयतों की तरफ से सुबूत इत्यादि पेश करना चाहता हूँ, पर मेम्बर होकर मै वैसा नही कर सकूँगा। इस पर उसने जवाब दिया कि जो कुछ आपकी जानकारी मे आ गया है, और जो सुबूत आपके पास हों, सब आप कमीशन के सामने जरूर रख सकेंगे। साथ ही, उसने यह भी कहा कि बहुत वर्षों से जो शिकायते चली आ रही है उनके सम्बन्ध मे सरकारी कर्मचारियों ने समय-समय पर क्या किया है और क्या रिपोर्ट भेजी है, वह सब गवर्नमेंट के पास मौजूद है, पर वह सब गुप्त है, वे सभी चीजे कमीशन के सामने तो रखी जायँगी; पर किसी दूसरे को देखने के लिए नहीं मिल सकती; अगर आप मेम्बर हो जायँगे तो आप भी वह सब देख सकेंगे और समझ सकेंगे कि जो शिकायते आप कर रहे है उनकी पुष्टि किस हद तक सरकारी कागजों से हो जाती है। अन्त मे तय हुआ कि गाधीजी भी उसके मेम्बर होगे। वहाँ से गांधीजी के रवाना होने से पहले यह बात तय हो गई कि जो कुछ भी वहाँ निश्चय हुआ है वह अभी गुप्त रखा जायगा और उसका प्रकाशन पहले-पहल गवर्नमेंट की विज्ञप्ति द्वारा होगा। इसलिए गाधीजी ने इस चीज को किसी अखबारवाले या बाहर के आदमी को जानने नही दिया।

दूसरे दिन जब गांधीजी पटना पहुँचे तो अखबारो को देखकर उन्हे आश्चर्य हुआ कि कमीशन की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ अधूरी-सी खबरे उनमे छप गई है। गाधीजी ने उनको देखते ही पहला काम यह किया कि गवर्नमेंट को इसकी सूचना दे दी कि उनको

अखबारों में यह खबर पढकर वहुत आश्चर्य हुआ; क्योंकि उनकी तरफ से यह बात किसी से जाहिर नही की गई थी। सरकारी विज्ञप्ति निकलने मे दो-तीन दिनों की देर इस कारण हुई कि कमीशन के सदस्यों की अनुमति बाजाब्ता मिल जाने पर ही सरकार घोषणा कर सकती थी। गवर्नमेंट की तरफ से गांधीजी पर कोई शक नही हुआ; क्योंकि सरकारी दफ्तर से ही गुप्त बातें निकल जाया करती थीं या जान-बूझकर जनमत का अन्दाज लेने के लिए निकलवा दी जाती थी। हमको नही मालूम कि यह खबर किस जरिये से अखबार वालों को मिली थी।

गांधीजी बेतिया पहुँच गये। जिस वक्त वह पहुँचे उसी वक्त अखबार भी आये जिनमें यह खबर छपी थी। गांधीजी ने पहुँचते ही हम लोगों को चेता दिया कि यह खबर अनियमित छपी है और जबतक यह गवर्नमेट की विज्ञप्ति में न निकले तबतक हमलोगो की तरफ से इस तरह की बाते किसी से नही कहनी चाहिए। जब वह मजिस्ट्रेट से मिले तो उसको बहुत आश्चर्य हुआ; क्योकि वह समझे बैठा था कि अब गांधीजी जिले मे रहने नही पायेंगे। पर ऐसा हुआ नही, वह तो केवल लौटे ही नही, अपने साथ एक कमीशन भी लेते आये और उस कमीशन के वह स्वयं मेम्बर होकर आये। जब दो-तीन दिनों के बाद गवर्नमेंट की विज्ञप्ति छपी तो रैयतो को बड़ी खुशी हुई। विपक्षी लोग कुछ घबराये। कमीशन अपना काम प्राय. एक-डेढ महीने बाद शुरू करनेवाला था। अब हम लोगों को इस बीच मे कुछ सुबूत जमा करना या इजहार लेना नही था। जो कुछ हमारे पास आ गया था उसी को इस तरीके से सिलसिलेवार तैयार करना था कि वह कमीशन के सामने पेश किया जा सके। गाधीजी ने हम लोगों को आदेश दिया कि अपनी वकालती बुद्धि लगा कर कागजों के ढेर मे से सबसे जबरदस्त सुबूतों को चुनकर निकाल लो और रैयतों के जो इजहार लिखे गये है उनमे से भी कुछ को चुनकर कुछ होशियार रैयतो को इजहार देने के लिए ठीक कर लो। चन्द दिनो के अन्दर ही वे सभी गुप्त कागज छपे-छपाये गवर्नमेट के यहाँ से आ गये। गांधीजी ने, और हम लोगों ने भी, ध्यान-पूर्वक पढ़ लिये। उनको पढ लेने के बाद गाधीजी ने कह दिया कि अब हम लोगो को कोई विशेष सुबूत देने की जरूरत नही पड़ेगी; क्योंकि गवर्नमेट के अफसरों ने भी समय-समय पर सभी बातें मान ली है; इसलिए इन अफसरों की रिपोर्टों पर ही कमीशन अपनी रिपोर्ट तैयार कर सकता है। बीच के समय मे हमलोग इसी काम में लगे रहे। प्रत्येक विषय पर अपने नोट भी तैयार करते रहे, जो जरूरत पडने पर कमीशन के सामने पेश किये जा सकें।

छठा अध्याय

गांधीजी के राँची से बेतिया आने पर श्री कस्तूर बा गांधी, देवदास गांधी और प्रभुदास गांधी आ गये। सब उनके साथ ही रह गये। उन्होने उन लोगो के आ जाने के बाद, जैसा मैंने ऊपर कहा है, रसोई बनानेवाले को हटा दिया और कहा कि कस्तूर बा ही रसोई बनाया करेंगी। हमलोग इसे पसद नही करते थे; पर हमलोगो की एक न चली। वही हमलोगों के लिए भी रसोई बनाती रही। सबसे अधिक कष्ट उस वक्त होता, जब चूल्हे में ठीक तरह लकड़ी न जलने के कारण धुँए से उनकी आँखें लाल हो जातीं और उनमे से लोर टपकने लगता। हमलोगों की बातो को गांधीजी यह कहकर टाल देते कि उनको इसका अभ्यास है तथा ऐसे सार्वजनिक काम मे कम-से-कम खर्च करना चाहिए—नौकर और रसोइया का खर्च जहाँ तक बच जाय, बचाना चाहिए। हमलोग उसी वक्त समझ गये कि गांधीजी सार्वजनिक पैसे को कितनी किफायत के साथ खर्च करते है और कैसे एक-एक पैसा बचाने के प्रयत्न में रहते हैं। वहीं हमने देखा कि जहाँ पोस्टकार्ड से काम चल सकता था वहाँ कभी वह अधिक पैसे खर्च करके लिफाफे में पत्र नही भेजते थे—कागज के छोटे-से-छोटे टुकड़े को भी बरबाद नहीं होने देते थे। शायद यह बहुत लोगों को मालूम न होगा कि उनके बहुतेरे महत्त्वपूर्ण लेख और कांग्रेस तथा दूसरी संस्थाओं के बहुतेरे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव ऐसे ही कागज के टुकड़ों पर लिखे गये है, जिनको मामूली तौर से लोग रद्दी की टोकरी मे फेक दिया करते है! लिफाफों के अन्दर का और तारों के पुश्त का सादा हिस्सा तथा दूसरे एकपीठा-लिखे कागजों का खाली हिस्सा वह उन्हीं दिनों से अन्त तक बराबर लिखने के काम में लाते रहे। वहाँ हमे यही सीखने को मिला कि सार्वजनिक कामों में पैसे के खर्च के सम्बन्ध मे कितनी सावधानी से काम लेना चाहिए। चम्पारन में जो कुछ खर्च हुआ वह गांधीजी ने ही अपने मित्रों से लेकर दिया। उन मित्रों में रंगून के डाक्टर पी० जे० मेहता मुख्य थे। हम लोगों को पैसे जमा करने की न जरूरत पड़ी और न उन्होंने ही इजाजत दी।

मै ऊपर कह चुका हूँ कि हमलोगो के साथ जो नौकर थे वे एक-एक करके हटा दिये गये। एक दिन का जिक्र है कि मुझे किसी काम से एक दिन के लिए पटना जाना

था। मेरे पास एक छोटा डिब्बा था, जिसमें सफर में खाने के लिए कुछ ले जाया करता था। वह चम्पारन में साथ आ गया था; पर कभी जरूरत न पड़ने के कारण यों ही पड़ा था और बहुत मैला हो गया था। पटना जाने के लिए मैं उसे कुंए पर बैठकर साफ कर रहा था। गांधीजी उधर आ गये। देखते ही हँस पड़े। बोले, हमको बड़ी खुशी हुई कि पटना-हाइकोर्ट के वकील से हमने बर्तन मँजवाया! जो लोग वहाँ थे सब खिलखिला उठे। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रिका में स्वयं पाखाना साफ किया था। वह नौबत हम लोगों पर चम्पारन में नहीं आई। वह जानते थे कि आहिस्ता-आहिस्ता मोड़ने से ही कच्ची लकड़ी मुड़ सकती है, ज्यादा जोर लगाने से टूट जाने का भय रहता है। इसलिए चम्पारन मे उन्होंने अपना सारा कार्यक्रम हम लोगों के सामने नही रखा, केवल चम्पारन की ही बात रखी और उसके लिए जो जरूरी था वही हमसे करवाया, उससे ज्यादा नही।

चम्पारन में हम लोग अभी खादी नही पहनते थे, उसका नाम भी नहीं जानते थे; यद्यपि हममेंसे कुछ लोग स्वदेशी का इस्तेमाल पहले से ही किया करते थे। मैं तो १८९८ से ही स्वदेशी का इस्तेमाल करता आ रहा था; क्योंकि मेरे बड़े भाई बाबू महेन्द्र प्रसाद जब प्रयाग में पढने गये तो वहाँ पर उन्होने स्वदेशी वस्त्र का इस्तेमाल शुरू किया और उनकी ही देखादेखी हमने भी। स्वदेशी वस्त्र तक ही यह सीमित न रहा, दूसरी चीजें भी अगर स्वदेशी मिल जातीं तो हम स्वदेशी ही लेते और अगर कोई ऐसी चीज होती जो स्वदेशी नहीं मिलती तो उसका इस्तेमाल ही भर-सक छोड़ देते। हाँ, ऐसी चीजें, जिनके बिना काम चल ही नही सकता, विदेशी भी ले लिया करते—जैसे, घड़ी या दवा इत्यादि। मेरी यह बचपन की आदत एक प्रकार से आज तक चली आ रही है—यह मानना पड़ेगा कि अब विदेशी चीजें शायद उन दिनों से कहीं अधिक इस्तेमाल करता हूँ। मैं जबतक पढ़ता रहा, किसी परीक्षा में मैंने विदेशी कलम या विदेशी नीब का इस्तेमाल नही किया। सभी परीक्षाओं को देशी नीब के ही द्वारा, चाहे वह कितनी भी खराब क्यों न हो, पास किया। अब तो फाउण्टेन्-पेन् और उसके लिए रोशनाई भी विदेशों की ही इस्तेमाल करता हूँ। कपड़ा मैंने उस समय से आज तक एक मौके को छोड़ कभी विदेशी न इस्तेमाल किया है और न खरीदा है। वह मौका था जब मेरे सिर पर विलायत जाने का जनून सवार हुआ। मैंने वहाँ के लिए जो कपड़े बनवाये उनमें देशी-विदेशी का लिहाज नहीं रखा। यह १९०६ की बातें हैं। जब से गांधीजी ने खादी चलाई तब से खादी के सिवा और दूसरा देशी कपड़ा नहीं लिया। इसमें हमारे भाई साहब बड़े पक्के थे। उनसे ही मुझे प्रेरणा मिली थी।

गांधीजी से अक्सर हमलोगों की बातें हुआ करती थीं, जिनका असर बराबर पड़ता गया। उन दिनों श्रीमती बेसेण्ट के होम-रूल का आन्दोलन खूब जोरों से चल रहा था। हमलोगों के सभी साथी-संगी, जो सार्वजनिक बातो मे दिलचस्पी रखते थे और चम्पारन नहीं आये थे, उसी आन्दोलन में लग गये थे। गांधीजी ने हमलोगों को मना कर दिया था कि जबतक तुम लोग इस काम में हो, किसी और काम में हाथ मत डालो। इसलिए हम लोग जितने दिनों तक वहाँ रहे, और वह आठ-दस महीने का अरसा

हो गया, हममें से किसी ने कहीं भी कोई भाषण नहीं किया। स्वयं गांधीजी भी, दो मौकों को छोड़ (जिनका मुझे स्मरण है), किसी सभा में शरीक न हुए। एक सभा तो स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी की मृत्यु पर शोक-प्रकाश करने के लिए की गई थी और दूसरी किसी गोरक्षिणी संस्था के वार्षिक उत्सव के समय। केवल इतना ही नही कि हमलोग और गांधीजो किसी राजनीतिक विषय पर भाषण नहीं करते थे, बल्कि चम्पारन के सम्बन्ध में भी किसी ने कही कोई भाषण नहो किया और न कोई इस तरह का लेख ही अखबारों में भेजा। हम लोगों को कभी-कभी यह बात अखरती थी। जब हमने होम-रूल की सभा में शरीक होने की बात उनसे कही तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि तुम लोग होम-रूल का सबसे बड़ा काम यहाँ कर रहे हो, इसलिए अगर किसी दूसरी सभा मे शरीक नही हो सकते तो इसकी चिन्ता न करो; क्योकि आगे देखोगे कि यह काम किसी और काम से कम महत्त्व का नही होगा। हमने उनकी बात मान ली; यद्यपि कभी-कभी यह बात समझ में नही आती कि जो काम हम कर रहे थे उससे होम-रूल का क्या सम्बन्ध था। यह मै शुरू की बात कह रहा हूँ। थोड़े ही दिनों में हमने अनुभव से समझ लिया कि उन्होंने जो कहा था वह अक्षरशः सत्य है।

एक बार गांधीजी के साथ मे किसी गाँव से आ रहा था। रास्ते में मै उनसे पूछा, आप तो सारे देश मे घूम आये है, आपने किस सूबे के लोगों को सार्वजनिक काम के लिए सबसे अच्छा पाया? उन्होंने कहा, "दक्षिण के लोग भावुक है—चतुर है। बंगाल के लोग बहुत भावुक है, उनमें त्याग की बड़ी शक्ति है, उन्होंने त्याग किया भी बहुत है। पर जनता की सेवा करनेवाले के लिए तो तीर्थस्थान 'पूना' है। वहाँ जितनी सार्वजनिक संस्थाएँ कार्यकर्ताओं के त्याग पर निर्भर रहकर चलती है उतनी शायद किसी दूसरे स्थान मे नही। वहाँ ऐसे बहुतेरे लोग है, जिन्होने अपने जीवन को देशसेवा के लिए समर्पित कर दिया है। वे अपने सकल्प को बहुत ही दृढता से निबाह रहे है। इसलिए मै उसको तीर्थ-स्थान मानता हूँ।"

मुझे भी इसका कुछ पता लगा था—जब १९१० मे श्री गोखले से मेरी मुलाकात हुई थी और उन्होंने मुझसे भारत-सेवक-संघ मे शरीक होने को कहा था। परंतु, गांधीजी के कहने पर मेरी इच्छा हो गई कि एक बार वहाँ जाकर उन संस्थाओं को देखना चाहिए।

हम लोग आपस में बाते किया करते कि हमारा सूबा, और सूबों के मुकाबले में, बहुत पिछड़ा हुआ है। उस वक्त तक शायद ही ऐसे लोग बिहार मे हो, जो अपना सारा समय देकर किसी सार्वजनिक संस्था का अथवा देश का काम कर रहे हों। हमलोगों का विचार हुआ कि कोई ऐसी संस्था बिहार में भी कायम की जाय जिसका लक्ष्य देशसेवा रहे। बाबू व्रजकिशोर प्रसादजी हम लोगों के नेता और प्रेरक थे। हमलोगों ने सुना था कि पूना मे फरगुसन-कालेज के सभी शिक्षक और आचार्य पचहत्तर रुपये मासिक लेकर ही काम करते है। श्रीगोखले ने बीस वर्ष तक व्रत लेकर पचहत्तर पर ही काम किया था। उसी तरह, उन दिनों, डाक्टर प्राञ्जपे—जो इंगलैंड से भारी-से-भारी परीक्षाएँ पास करके आये थे—पचहत्तर मासिक पर ही वहाँ काम कर रहे थे। हमलोगों का विचार

हुआ कि अब ऐसा ही एक कालेज बिहार मे भी खोला जाय। इससे लाभ यह होगा कि उस कालेज के प्रोफेसर अपने जीवन से युवकों के सामने त्याग का उदाहरण रख सकेंगे जिससे सारे सूबे में जागृति पैदा होगी। बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद भी, गांधीजी की तरह ही, जो काम उठाते थे उसको जल्द-से-जल्द पूरा करना चाहते थे। जब बात चली तो उन्होंने स्वयं ऐसी सस्था मे अपनी चलती वकालत छोड़कर शरीक होने का इरादा जाहिर किया। हमलोगो से भी पूछ-पूछकर जो राजी हुए उनके नाम उन्होंने लिख लिये। कुछ लोगों से बातें करके रुपय के भी कुछ वचन लिये। जहाँ तक आज मुझे स्मरण है, सात-आठ हजार रुपये हमको नकद भी मिल गये। उस समय तक हम लोगों का ध्यान राष्ट्रीय शिक्षा की ओर नही गया था—यद्यपि हमने खुद, बंगविच्छेद के आन्दोलन के समय, कलकत्ता मे राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाएँ देखी थी। गुरुकुल भी बहुत वर्षों से चल रहे थे। तो भी हमने गवर्नमेंट से सम्बन्धित कालेज खोलने का ही विचार किया था। गांधीजी से जब यह बात कही गई तो उन्होंने संस्था बनाने की बात तो पसद की, पर कालेज बनाने की नही। इसलिए यह प्रस्ताव वही-का-वही पड़ा रह गया।

कमीशन का काम बेतिया मे शुरू हुआ। कुछ सरकारी अफसरो और कुछ नीलवरो ने अपने-अपने लिखित बयान दिये; उनके जबानी इजहार भी लिये गये। कमीशन मोतीहारी मे भी कई दिनो तक बैठा। उसके मेम्बरों ने कितनी ही नील-कोठियो में जाकर नीलवरो के इजहार लिये और उनके कागज-पत्र भी देखे; प्रायः सारे जिले का एक प्रकार से दौरा किया। रैयतो की ओर से कुछ बयान दिये गये। कुछ के इजहार भी कराये गये। हम लोगो के पास जो कागज थे, उनमे से चुनकर जो सबसे जबरदस्त मालूम हुए, पेश किये गये। पर, जैसा गाधीजी ने सोचा था, रैयतो की ओर से सुबूत देने की विशेष आवश्यकता ही नही थी; क्योंकि सरकारी अफसरो की समय-समय पर दी हुई गुप्त रिपोर्ट ही काफी समझी जाती थी। इजहार का काम खतम हो जाने पर रिपोर्ट लिखने का समय आया। सर एडवर्ड गेट ने महात्माजी से कह दिया था कि कमीशन यदि सर्वसम्मति से रिपोर्ट देगा तो उस रिपोर्ट पर गवर्नमेंट आसानी से काम कर सकेगी; पर यदि रिपोर्ट मे भिन्न-भिन्न मत सदस्यो ने प्रकट किये तो गवर्नमेंट को उस रिपोर्ट के आधार पर काम करने मे कठिनाई होगी। इसलिए गाधीजी का प्रयत्न था कि यथासम्भव सर्वमान्य रिपोर्ट तैयार की जाय। इसमे दिक्कते बहुत थी। क्या नीलवरों के प्रतिनिधि और गाधीजी किसी बात पर एक-मत हो सकते थे? क्या जितनी भी शिकायतें नीलवरो के विरुद्ध की गई थी उनको नीलवर का प्रतिनिधि मान लेगा? और; अगर नही, तो क्या गाधीजी उन शिकायतों को—जिन्हें वह जानते थे कि वे ठीक है—गलत कहकर नीलवरो के प्रतिनिधि के साथ सहमत हो जायेंगे? जिन बुराइयों को दूर करना था उनमे मुख्य थीं—तीनकठिया की प्रथा, लगान का इजाफा और तावान के नाम से जबरदस्ती रैयतों से रुपये वसूलना। अब, जब जर्मन युद्ध के कारण नील की खेती से फिर मुनाफा होने लगा था तब, क्या नीलवर उसे छोड़ देगे? उन्होने जो लगान मे इजाफा करके लाखों रुपये की आमदनी बढ़ा ली थी उसे छोड़ देने पर वे राजी होंगे? क्या वे तावान के

रुपये वापस कर देंगे ? यह सब होना असम्भव-सा मालूम पड़ता था। अगर ऐसा न हुआ तो इस कमीशन का बैठना ही व्यर्थ था। सरकारी अफसरों का रुख क्या होगा, कहना कठिन था। हाँ, जमींदारों के प्रतिनिधि गांधीजी के साथ सहमत हो सकते थे।

गांधीजी ने शुरू में ही एक बहुत बड़े झगड़े के कारण को हटा दिया। उन्होंने कह दिया कि हम लोग अपनी सिफारिशों के सम्बन्ध में अगर एक-मत हो जायँ तो मैं इस बात पर जोर नहीं दूँगा कि नीलवरों के जुल्म-ज्यादती की जो शिकायतें की गई हैं उन पर भी कमीशन राय दे। अगर उनकी करतूतों के कारनामे रिपोर्ट में लिखे जाते तो इसमें कोई सन्देह नहीं था कि नीलवरों के विरुद्ध सभी बातों को मानना पड़ता। यदि कमीशन के सब मेम्बर एकमत नहीं हो सकते और गांधीजी को अपनी राय अलग लिख कर देनी पड़ती, तो इतना जबरदस्त और अकाट्य फैसला वह लिख देते कि फिर किसी को चीचपड़ करने की हिम्मत नहीं हो सकती। अगर कमीशन के दूसरे मेम्बर दूसरा कुछ लिखना चाहते तो उनकी सभी बातें सरकारी अफसरों की निरपेक्ष रिपोर्टों से ही काटी जा सकती थीं। उनकी इस सलाह को दूसरे मेम्बरों ने, और नीलवरों के प्रतिनिधि ने भी, बहुत खुशी से मान लिया; क्योंकि इससे वे एक भारी संकट से बच जाते थे। गांधीजी ने यह सलाह इसलिए दी कि वह इस बात को जानते थे कि जो ज्यादती और जुल्म अबतक हो चुके हैं वे तो अब वापस नहीं हो सकते, और इस वक्त अगर आइन्दा के लिए उनका होना बन्द हो जाय तो उनको लिखने से कोई फायदा भी नहीं। गांधीजी हम लोगों से कहा करते थे और सरकारी अफसरों तथा नीलवरों से भी कहा करते थे कि वह नीलवरों के दुश्मन नहीं हैं—उनकी कोई बुराई वह नहीं करना चाहते; पर साथ ही रैयतों पर जो जुल्म वे किया करते हैं वह सब बन्द होना चाहिए; जुल्म के बन्द होने से अगर उनका नुकसान होता है तो उसे उनको बर्दाश्त करना चाहिए; चूँकि वह उनकी बुराई नहीं चाहते थे और रयतों की भलाई चाहते थे, इसलिए रिपोर्ट के जरिये यदि रैयतों की भलाई हो जाय तो नीलवरों की शिकायत लिखना फिजूल था। इस प्रस्ताव के करने में उन्होंने अपनी उस अहिंसा-वृत्ति से काम लिया था जिसका प्रयोग उन्होंने बहुतेरे दूसरे मौकों पर किया। इसका असर सरकारी अफसरों तथा नीलवरों पर बहुत पड़ा। अब दूसरी बातों में एकमत होने का रास्ता खुल गया।

सर फ्रैंक्स स्लाई कमीशन के अध्यक्ष थे। वह कुछ दिनों के बाद मध्यप्रदेश के गवर्नर हुए; पर उस समय मध्यप्रदेश मे ही किसी बडे ओहदे पर थे। वह बहुत ही अनुभवी और होशियार आदमी थे। वह भी चाहते थे कि एक ऐसी रिपोर्ट दी जाय जिसके अनुसार गवर्नमेंट कार्यवाही कर सके। इसलिए, वह भी बहुत इच्छुक थे कि किसी-न-किसी तरह एक सर्व-सम्मत रिपोर्ट तैयार हो। इस तरह, गांधीजी की इस बात से वह बहुत प्रभावित हुए; एक प्रकार से उनके प्रशंसक बन गये। बात तो यह थी कि रिपोर्ट के इस हिस्से के सम्बन्ध में सरकारी अफसरों को ही—विशेषकर सर फ्रैंक्स स्लाई को—सबसे बडी अडचन आती। नीलवर का प्रतिनिधि तो सभी बातों को आसानी से गलत कहकर नीलवरों का पक्ष ले सकता था। गांधीजी और जमींदारों के प्रतिनिधि के लिए जो सुबूत

दाखिल किये गये थे उनके आधार पर—विशेषकर सरकारी अफसरों की समय-समय पर दी हुई रिपोर्ट के आधार पर—नीलवरो के विरुद्ध फैसला लिखना आसान था। पर सरकारी अफसर इस संकट मे पड़ जाते कि उनको या तो नीलवरों के विरुद्ध रिपोर्ट लिखनी पड़ती या गवर्नमेंट की शिकायत करनी पड़ती; क्योंकि सब बातों को जानते हुए भी सरकार ने इतने दिनों तक मौन साध रखा था और उसके अफसरों ने अक्सर नीलवरों की मदद भी की थी। और, यदि वे ऐसा न करके शिकायतों से नीलवरों को बरी करना चाहते तो सरकारी अफसरों की रिपोर्टों को ही गलत बताना पड़ता। इसलिए इस दुबिधा से बच निकलने का रास्ता जो गांधीजी ने बताया उसको उन्होंने सहर्ष कृतज्ञता-पूर्वक मान लिया।

चूँकि तीन-कठिया-प्रथा के कारण ही सारी ज्यादतियाँ हुई थी, इसलिए गांधीजी ने जोर दिया कि उसको कानून द्वारा बन्द कर देना चाहिए। इसमे सरकारी अफसर सहमत हो गये। नीलवरों ने देखा कि इसमें अड़चन डालना फिजूल है; क्योंकि अब इसको जारी रखना असम्भव नही तो कठिन जरूर होगा, कारण यह कि नील की जो खेती एक बार बन्द हो चुकी थी और अब जर्मन लड़ाई के कारण फिर मुनाफा दे रही थी वह फिर जर्मन युद्ध बन्द होते ही बेकार साबित होगी—छोड देनी पड़ेगी, अतः अच्छा है कि यह बात मान ली जाय। तब, सवाल आया लगान मे इजाफा छोड़ने का। काश्तकारी-कानून के अनुसार चन्द हालतों मे जमीदार को लगान बढ़ाने का अधिकार है, पर अदालती हुक्म के बगैर वह रुपये मे दो आने से ज्यादा नहीं बढाया जा सकता। यहाँ नीलवरों ने इससे कही ज्यादा इजाफा कर लिया था। उनकी तरफ से कहा गया कि जितने दस्तावेज लिखे गये है और उनकी रजिस्ट्री की गई है, सबकी पाबन्दी रैयतो पर है; इसलिए उनको अगर नाजायज ठहराकर 'सरह-बेसी' उठा देना है तो रैयतों को अदालत मे जाकर कार्यवाही करनी चाहिए, कमीशन उनके जायज दस्तावेजो को रद्द नही कर सकता। बात काननी तौर से ठीक थी; पर इजाफा अगर न छूटा तो रैयतो पर लदा हुआ बोझ हमेशा के लिए कायम रह जायगा। महात्माजी का विचार था कि अदालत मे ही अगर जाना था तो कमीशन की कोई जरूरत नहीं थी; क्योकि रैयतो के लिए लाखों मुकदमे अदालत मे दायर करना और उनकी पैरवी करना गैर-मुमकिन है। इसका एक तजरबा भी हो चुका था। गांधीजी के वहाँ जाने के पहले ही ग्यारह मुकदमे रैयतों की ओर से दायर हुए थे। नीलवरों ने उन मुकदमों को एक प्रकार से अपने विरुद्ध मोरचा मानकर पैरवी की। सबसे बडे बैरिस्टर को पटना से ले गये। अन्त में, पहली अदालत मे, पाँच या छ. मे रैयतों की जीत हुई और बाकी मे नीलवरों की। जिले की अपील-अदालत ने कुछ फैसले कायम रखे और कुछ को रद्द किया। पर नतीजा यही हुआ कि वहाँ भी आधे मे रैयत जीते और आधे मे नीलवर। जिला-अदालत के फैसले के विरुद्ध नीलवरो और रैयतो ने हाइकोर्ट में जो मुकदमे दायर किये थे, उनका फैसला अभी तक नहीं हुआ था। अगर चन्द मुकदमों की यह हालत थी, तो लाखों मुकदमों का क्या हाल होगा और यह झगड़ा कितने दिनों तक चलता रहेगा! इसलिए, इन्साफ के खयाल से, और वैमनस्य दूर करने के खयाल से भी, कमीशन को ही इस सम्बन्ध में फैसला देना चाहिए; गवर्नमेट को भी 'सरह-बेसी' तोड़ देना

चाहिए। इस बात पर एकमत होना मुश्किल हो गया। पर गांधीजी इस चीज को छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने कोई सुलह का रास्ता निकालना चाहा।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि लगान-कानून के मुताबिक प्रायः सभी जमीदारों ने कुछ-न-कुछ इजाफा किया था। अगर नीलवर भी उतना ही इजाफा किये होते तो उनके विरुद्ध कोई विशेष शिकायत न होती। पर उन्होंने इजाफा बहुत ज्यादा किया था। इसलिए हम लोगों ने सोचा कि सारा इजाफा न तोड़कर अगर कानूनन जायज इजाफा रहने दिया जाय और जबरदस्ती ज्यादा बढ़ाया हुआ हटा दिया जाय, तो रैयतों को शिकायत न होनी चाहिए। यही सुलह का रास्ता हो सकता था। गाधीजी ने यह प्रस्ताव पेश किया। पर नीलवर इस पर भी राजी न होते थे! इसी तरह, जहाँ हम सोलह आने तावान वापस कराना चाहते थे वहाँ वे एक पैसा भी वापस करना नही चाहते थे। सुलह के खयाल से, अन्त मे, गांधीजी को मजबूरन इस बात पर राजी होना पड़ा कि इजाफे का प्रायः तीन-चौथाई से ज्यादा रहने दिया जाय और एक-चौथाई से कम तोड़ा जाय, और तावान का केवल एक-चौथाई हिस्सा वापस किया जाय तथा तीन-चौथाई छोड दिया जाय। किसी तरह, बहुत पंचायत के बाद, इस पर सब राजी हो गये। दूसरी बातो के सम्बन्ध मे भी कोई ज्यादा मतभेद नही हुआ। रिपोर्ट सर्व-सम्मति से तैयार करके गवर्नमेंट के पास भेज दी गई। गवर्नमेंट ने रिपोर्ट के आधार पर एक कानून बनाया जिसके जरिये तीन-कठिया-प्रथा गैर-कानूनी करार दी गई और इजाफा भी उपरोक्त मात्रा मे कम कर दिया गया। तावान के सम्बन्ध मे गवर्नमेंट ने हुक्म दिया कि जितना रुपया वापस करना है उतना बेतिया-राज रैयतो को वापस कर दे और फिर बेतिया-राज ही नीलवरों से वसूल करता रहे। जल्दी रुपया वापस दिलाने के खयाल से यह किया गया। साथ ही, यह भी खयाल था कि रैयतों को कोठीवाले बहुतेरी कठिनाइयों मे डालेंगे। कारण जो पैसे वे बराबर लिया करते थे, कभी दिया नही करते थे, और अब तो कुछ भी वापस नहीं करेंगे। चूँकि बेतिया-राज कोर्ट-आफ-वार्ड्स में था, इसलिए गवर्नमेंट भी आसानी से उसकी मार्फत वापस करा सकती थी। और-और विषयों पर गवर्नमेंट ने मुनासिब आज्ञा जारी कर दी। इस तरह, कमीशन की रिपोर्ट पूरी-पूरी मान ली गई। थोड़े दिनों के अन्दर उस पर अमल भी होने लगा।

इस तरह, नील का झगड़ा समाप्त तो हुआ; पर जिन शर्तों को गांधीजी ने माना उन पर कुछ लोगो ने टीका-टिप्पणी की। उनका कहना था कि इजाफा अगर गलत था तो वह सारा-का-सारा हटा दिया जाना चहिए था; उसी तरह तावान यदि नाजायज था तो वह भी पूरा-का-पूरा वापस होना चाहिए था। हमलोगों ने भी बहुत सोच-विचार करके सुलह की शर्तों को माना था। हमारे मानने का विशेष कारण यह भी था कि हम जानते थे कि इस तरह कानून के जरिये या गवर्नमेंट की मदद से अगर कुछ न किया गया, तो अदालतों मे जाकर रैयत कुछ नही पा सकेंगे। गांधीजी ने हमलोगो से साफ-साफ कह दिया था कि सुलह चाहे किसी भी शर्त पर होती, तीन-कठिया-प्रथा उठ जाने के बाद नीलवर यहाँ ठहर नहीं सकते; क्योकि उनका कारबार जोर-जुल्म-जबरदस्ती से चलता था—अगर वह

जुल्म-जबरदस्ती बन्द हो जाय तो वे यहाँ ठहर नहीं सकेंगे; कारण यह कि तीन-कठिया उठा देने का—और रैयतों के दिल में जो निर्भीकता तथा साहस आ गया है उसका—असर यह होगा कि उनकी जोर-जबरदस्ती कोई रैयत बर्दाश्त नहीं करेंगे; इसलिए इसमें कोई चिन्ता की बात नहीं है। ऐसा ही हुआ भी।

महात्मा गांधीजी के चम्पारन जाने के और इस जाँच तथा रिपोर्ट और नये कानून बनने के थोड़े ही दिनों बाद नीलवर अपनी जमीन, कोठी और माल-मवेशी बेचकर चले गये! गांधीजी के वहाँ पहुँचते ही उनका रोब उठ गया था। अब सिर्फ मामूली जमींदार की हैसियत से ही वे वहाँ रह सकते थे। इसमें उनका काम नहीं निबह सकता था। उन्होंने उन्हीं रैयतों और बेतिया-राज के हाथों अपना सब-कुछ बेच-बाच डाला था। उनको दाम भी अच्छा मिल गया; क्योंकि पहली जर्मन लड़ाई के बाद अभी सभी चीजों का दाम बढ़ा-चढ़ा था। पैसे अच्छे मिल जाने से नीलवरों को भी कोई रंज नहीं रहा, और रैयत तो बेहद खुश हुए ही।

नीलवरों के साथ गांधीजी का सम्बन्ध बहुत अच्छा रहा। यह काम समाप्त हो जाने के बाद जब उन्होंने शिक्षा, सफाई आदि का काम वहाँ के गाँवों में करना चाहा तो इससे वे खुश हुए—यद्यपि दो-एक ने कुछ बाधाएँ भी डालीं, मगर दूसरों ने थोड़ी-बहुत मदद भी की। गांधीजी का विचार था कि जितना किया गया उतना ही काफी नहीं है; उसको स्थायी बनाने के लिए रैयतों में सच्ची जागृति आनी चाहिए, नहीं तो नीलवरों के चले जाने के बाद भी वे किसी-न-किसी के जुल्म के शिकार बने रहेंगे। इसलिए, उन्होंने तीन-चार पाठशालाएँ खोलीं, जिनके संचालन के लिए अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे त्यागी कार्यकर्त्ता रखे गये। मुझको यह अफसोस रहा कि मैं वहाँ की किसी पाठशाला में खुद न रह सका और पटना जाकर फिर अपने काम में लग गया। काम करनेवाले महाराष्ट्र और गुजरात के ही अधिक रहे। उनमें स्त्री और पुरुष दोनों थे। बिहारियों में केवल बाबू धरणी-धर एक स्कूल चलाते रहे। आगन्तुकों में श्रीमहादेव भाई देसाई और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती दुर्गाबाई, साबरमती-आश्रम के श्रीनरहरि पारिख और उनकी पत्नी मणि बहन, स्वयं कस्तूर बा, बम्बई के श्रीवामन गोखले तथा उनकी पत्नी अवन्तिका बाई, सर्वेण्ट-आफ-इंडिया-सुसाइटी के डॉक्टर श्रीकृष्णदेव आदि इन पाठशालाओं को चलाते रहे। वे लोग बच्चों को अक्षर-ज्ञान देते तथा गाँवों की सफाई करते, स्त्रियों को सफाई इत्यादि सिखलाते, गाँवों के रास्तों को और विशेषकर कुँए के आसपास की जमीन को साफ रखने का पाठ सिखाते। आगे चलकर गाँवों के सम्बन्ध में जो कार्यक्रम गांधीजी ने सारे देश में जारी किया उसका श्रीगणेश वहीं पर हुआ। जो सेवक काम करते थे, कुछ दिनों के बाद चले गये। फिर उनके स्थान पर दूसरे लोग आकर काम करने लगे। इन पीछे आनेवाले लोगों में कांग्रेस के वर्तमान मंत्री श्रीशंकररावदेव और बेलगाँव के प्रसिद्ध कांग्रेस-कर्मी श्रीपुण्डरीक थे। इन सब लोगों के साथ जो परिचय चम्पारन में हुआ वह बराबर बना रहा। प्रायः सबने अपना जीवन देश के ही कामों में लगा दिया।

गांधीजी वहाँ हम लोगों से कहा करते थे कि तुम लोग स्वराज्य का बहुत बड़ा काम

कर रहे हो। वह यह भी कहा करते थे कि यहाँ पर अगर सचाई के साथ ठीक तरह से काम हुआ तो तुम लोग अपने लिए एक बड़ी पूँजी हासिल कर लोगे, जो आगे चल कर सार्वजनिक सेवा मे बहुत कीमती साबित होगी। हमने उनकी बातो का अक्षरशः पालन किया। इसमे कोई शक नही कि स्वराज्य का वह बहुत बड़ा काम था। बिहार के लिए तो वह एक प्रकार से सार्वजनिक कामों का श्रीगणेश था। उसके पहले केवल प्रान्तीय कान्फ्रेंस करके प्रस्ताव पास कर देना, कांग्रेस के सालाना जल्से मे शरीक हो जाना, कुछ पैसे किसी के पास हों तो कांग्रेस को दे देना, अखबारो मे कुछ लिख मारना, कौंसिल के मेम्बर हों तो कुछ प्रश्न कर देना और भाषण कर देना—सार्वजनिक कामो का यही आरम्भ और अन्त था; जन-साधारण के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क नही था! सार्वजनिक सभाएँ भी, होम-रूल-आन्दोलन के पहले भी, बहुत ही कम हुआ करती थीं। जो होती भी थी, वह भी शहरो में ही। उनमे भाषण भी बहुत करके अंग्रेजी में ही हुआ करते थे। उन सभाओं मे जानेवाले भी अंग्रेजी जाननेवाले ही होते थे, जो सरकारी नौकर नही थे। गाधीजी की चम्पारन-यात्रा ने नई जिन्दगी फूँक दी। चम्पारन-जिले के लोगों मे बड़ी जागृति हुई। वहाँ के कोने-कोने के लोग गाधीजी के नाम और काम से परिचित हो गये। हम लोग भी जिले के कोने-कोने से परिचित हो गये। पर यह असर चम्पारन तक ही नही रहा। यद्यपि गांधीजी ने कभी सभा इत्यादि करके प्रचार का काम नही किया था, तो भी सारे सूबे मे एक नई लहर-सी दौड़ गई। होम-रूल का जो काम हुआ था उसको भी इससे बहुत अधिक जोर मिल गया। गांधीजी ने जो नया रास्ता दिखलाया उसको बिहार के लोगों ने उसी समय मान लिया। जब पीछे गाधीजी ने देश-व्यापी आन्दोलन आरम्भ किया तो बिहार बिना मीन-मेष के उनके साथ हो गया। जहाँ तक जनता का सम्बन्ध है, वही बात आज तक भी है। स्वराज्य के आन्दोलन मे बिहार का भाग देश के दूसरे किसी हिस्से से कम नही रहा। गाधीजी का भी विश्वास बिहार पर था। बिहार के सूबे को कुछ दूसरे सूबों के लोग गांधीजी का अनन्य भक्त कहा करते थे। बात भी ठीक है; क्योंकि बिहार के लोगो का विश्वास अनुभव का फल था। उन लोगों ने उनके कार्यक्रम से लाभ उठाया था—जो बात अनहोनी समझी जाती थी उसका अपनी आँखों के सामने होते देखा था। मेरा विश्वास है, यदि सारा देश वैसा ही अन्धभक्त हो जाता तो आज देश और भी कही ऊँचा उठ गया होता।

सातवाँ अध्याय

चम्पारन आने के पहले ही गांधीजी ने साबरमती मे सत्याग्रह-आश्रम कायम कर लिया था। वह चम्पारन यह सोच कर आये थे कि पाँच-सात दिनों के अन्दर वहाँ का काम करके वापस आश्रम चले जायँगे। पर जब उन्होंने देखा कि वहाँ पाँच-सात दिनों के बदले महीनो रहना पड़ेगा तो उन्होंने आश्रम-वासियों को खबर दे दी कि वहाँ का काम वही लोग चलावें और कुछ दिनों तक उनके लौटने का भरोसा न रखें। इस प्रकार, आश्रम का काम वहाँ चलने लगा। चम्पारन से ही वह जो आदेश दे सकते थे, देते रहे।

चम्पारन मे रहते-रहते उन्होंने दक्षिण-भारत मे हिन्दी-प्रचार के काम का सूत्रपात किया। वह इस तरह से हुआ कि एक बार उनसे मिलने के लिए स्वामी सत्यदेवजी आये। स्वामीजी की ख्याति बहुत थी। बिहार में, खासकर चम्पारन मे, वह कभी-कभी जाया करते और अपने व्याख्यानों से जागृति पैदा करते। उनकी हिन्दी-पुस्तकें भी प्रचलित थीं। विदेश के उनके अनुभवों से लोग परिचित और प्रभावित थे। वह गांधीजी से मिलने के लिए बेतिया आये। गाधीजी ने कुछ दिनों के लिए उनको साबर-मती-आश्रम में जाकर रहने की सलाह दी। उन्होंने वैसा ही किया। फिर कुछ दिनों के बाद गांधीजी ने उनको दक्षिण-भारत मे जाकर हिन्दी-प्रचार करने की सलाह दी। स्वामीजी मद्रास मे जाकर कुछ दिनो तक काम करते रहे। उनके साथ ही महात्माजी ने अपने पुत्र श्रीदेवदास गांधी को भी हिन्दी-प्रचार के लिए भेजा। मेरा सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ पहले अधिवेशन से ही था, जो काशी में महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में १९१० मे हुआ था। मै उस प्रथम सम्मेलन मे शरीक हुआ था। जहाँ तक स्मरण है, वही पर पहले-पहल श्रीपुरुषोत्तम दास टंडन को देखा था। शायद कुछ परिचय भी उनसे हो गया था; पर विशेष परिचय तो सम्मेलन के कलकत्तावाले दूसरे अधिवेशन में ही हुआ, जिसकी स्वागत-कारणी समिति का मैं मत्री था। सम्मेलन अभी अपनी शैशवावस्था में ही था। हिन्दी-प्रचार का काम मुझे याद नहीं कि उसने कहाँ आरम्भ किया; पर दक्षिण-भारत मे गांधीजी के हिन्दी-प्रचार-कार्य ने मेरी आँखों के सामने हिन्दी के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खोल दिया; मैं उसके एक दिन सारे भारत की

राजकीय भाषा हो जाने का स्वप्न देखने लगा। इस प्रचार-कार्य के साथ मेरा कोई सीधा सम्बन्ध तो नहीं था, पर उसमें दिलचस्पी मैं लेने लगा। बिहार के कुछ प्रचारक वहाँ गये। कुछ तो आज तक वहाँ काम कर रहे हैं। आरम्भ में जानेवाले प्रचारक मुझसे पूछ कर ही जाते। इस तरह, वहाँ जो काम होता उसके साथ मेरा सम्पर्क रहा करता। महात्माजी के साथ सम्पर्क होने से यह और भी घनिष्ठ होता गया।

महात्माजी के हिन्दी-प्रचार के काम से प्रभावित होकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने उनको इन्दौर के अधिवेशन का, जो १९१८ में हुआ, सभापति चुन लिया। इन्दौर महात्माजी चम्पारन से ही गये। हममे से कई आदमी उनके साथ ही गये। वहाँ का सम्मेलन बड़े समारोह के साथ हुआ। दक्षिण-भारत में हिन्दी-प्रचार के लिए वहीं पर कुछ रुपये जमा किये गये। सम्मेलन ने, उनकी प्रेरणा से, इस काम को अपना एक मुख्य काम बना लिया।

इन्दौर के सम्बन्ध में एक छोटी घटना का उल्लेख मनोरंजक होगा—यद्यपि उसमें गूढ तत्त्व भी था। महात्माजी और उनके साथ गये हुए हमलोग राज्य के अतिथि थे; इसलिए वहाँ खातिरदारी का बड़ा इन्तजाम था। जितने बर्तन हमारे काम के लिए वहाँ रखे गये थे, यहाँ तक कि स्नान के लिए पानी रखने के बर्तन भी, चाँदी के ही थे। राज्य के कर्मचारी दिन-रात खातिरदारी में लगे रहते थे। महात्माजी तो अपना सादा—मूँगफली इत्यादि का—भोजन अलग कर लेते थे; पर हम लोगों के लिए नाना प्रकार के पकवान इत्यादि चाँदी के बड़े थालों और अनेक कटोरियों में परसकर सामने रखे गये। हम लोगों ने खूब आनन्द से भोजन किया। महात्माजी से भोजन के बाद जब मुलाकात हुई तो उन्होंने पूछा कि तुम लोगों ने क्या खाया। जो कुछ हमलोगो ने खाया था, महादेव भाई ने वर्णन कर दिया। कुछ देर के बाद जब राजकर्मचारी आये तो महात्माजी ने उनसे कहा कि आप इन लोगों को जैसा भोजन दे रहे हैं वैसे भोजन की इनकी आदत नहीं है, इसलिए ये लोग तो यहाँ अस्वस्थ हो जायँगे, आप इनके लिए मामूली सादा फुलका और सब्जी का प्रबंध कर दीजिए, थोडा दूध भी दे दीजिएगा, इनके लिए यही स्वास्थ्यकर और अच्छा भोजन होगा! बस, उसके बाद से, चाँदी के थालों मे हम लोगो को वही सादा भोजन मिलने लगा, जो हमे चम्पारन मे गांधीजी के साथ मिला करता था!

महात्माजी इस बात को मानते थे कि स्वाद-इन्द्रिय पर विजय पाना बहुत कठिन है। हमलोग जो भोजन करते है वह शरीर को सुरक्षित और पुष्ट बनाने के लिए नही, केवल स्वाद के लिए। भोजन का प्रभाव तो स्वास्थ्य पर पड़ता ही है; इसलिए हममे से जिनके पास पैसे होते है वे अधिक और अस्वास्थ्यकर—पर मजेदार—खाना खाकर बीमार पड़ते रहते है; पर जिनके पास पैसे नही होते वे यथेष्ट और स्वास्थ्यकर भोजन न मिलने के कारण कमजोर और बीमार हो जाते हैं। इसीलिए उन्होने चम्पारन मे ही सादा भोजन और स्वाद पर विजय का उदाहरण हमको स्वयं दिखाया था। चम्पारन में पहले तो वह मूँगफली और खजूर ही खाया करते थे। कुछ दिनो के बाद रसोई खाने लगे। पर उसमें भी उनका नियम था। चाहे फल हो या रसोई, किसी मे पाँच

चीजो से अधिक कुछ न होना चाहिए। इन पाँच चीजों मे नमक-मिर्च-जैसी चीजें भी एक-एक अलग समझी जाती थी ! इस तरह, यदि हमलोगों की तरफ कोई चीज मसालेदार बनाई जाती तो उनके लिए वह अखाद्य हो जाती; क्योंकि मसाले में ही पाँच-छः चीजे हो जाती ! पर इस नियम के अलावा भी वह मसाला-जैसी चीजों का इस्तेमाल बुरा समझते थे। कारण यह था कि एक तो ये चीजे बहुत करके गर्म और उत्तेजक होती है, दूसरे ये स्वाद को भी बदल देती हैं; इसलिए स्वाद के कारण आदमी अधिक खा लेता है, और ऐसी चीजें खा लेता है जो हानिकर होती है। चम्पारन मे जब उन्होने अन्न खाना शुरू किया, तो भी वह न तो नमक खाते थे और न दूध या दाल ही; सिर्फ चावल और उबाली हुई सब्जी ही खाया करते थे। उबाली हुई चीजों में भी विशेष करके करैला, जो कुछ अधिक पानी देकर उबाल दिया जाता और उसी पानी के साथ भात मिलाकर बहुत स्वाद से वह खा लिया करते। करैला बहुत करुआ होता है। उसका उबाला हुआ पानी तो और भी कड़वा होता है। पर हम देखते थे कि उसीको वह आनन्द और स्वाद के साथ खा लेते थे। इन्दौर मे जो उन्होने हमलोगो के लिए भी पकवान की मनाही कर दी थी, वह भी इसी प्रयोग का एक अंग था। हमने यह भी देखा और समझ लिया कि सादा भोजन स्वास्थ्यकर होने के अलावा कम-खर्च भी होगा। पीछे जब बहुत स्थानों पर आश्रम के नाम से सस्थाएँ चलने लगी तो उनमे सादा भोजन अच्छी तरह से प्रचलित हो गया। यद्यपि यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि मसाले का खर्च एकबारगी बन्द हो गया; पर इसमे सन्देह नही कि वह कम जरूर हो गया। वह जहाँ जाते और जो काम हाथ मे लेते, केवल किसी एक विषय को ही मुख्य बनाकर काम करते। पर साथ ही, जहाँ तक सम्भव होता, अपने और विचारो के सम्बन्ध मे भी प्रयोग करते ही रहते। यही कारण है कि वह जीवन की सभी प्रकार की समस्याओ पर केवल रोशनी ही नही डाल गये, बल्कि क्रियात्मक रूप से उनके हल करने के उपाय भी बता गये।

गाधीजी के सभापति होते ही, और प्रचार-कार्य को सम्मेलन के कार्यक्रम मे मुख्य स्थान मिलते ही, हिन्दी का काम जोरो से दक्षिण मे चल निकला। दक्षिण को उन्होने इसलिए हाथ मे लिया कि वहाँ की भाषा बिल्कुल भिन्न है; यदि वहाँ हिन्दी-प्रचार हो जाय तो दूसरे हिस्सों में उसका प्रचार कठिन न होगा। वह प्रायः कठिन काम को ही हाथ मे लिया करते थे; क्योंकि वह समझते थे कि कठिन काम में अगर सफलता हुई तो हल्के काम मे तो सफलता होगी ही। चम्पारन का काम भी बहुत कठिन था। बिहार मे उन दिनों सार्वजनिक काम मे जो लोग हिस्सा लिया करते थे उन सब लोगों ने उनको मना किया था; पर उन्होने किसी की न सुनी। आखिर सफल होकर एक नया रास्ता खोल ही दिया।

चम्पारन मे गांधीजी के रहते-रहते ही, खेड़ा-जिले के किसानो ने, फसल कम हो जाने या मारे जाने के कारण, गवर्नमेंट का माल कम कराने के लिए, आन्दोलन आरम्भ किया था। गांधीजी वहाँ की हालत जानते थे। किसानो ने वहाँ सत्याग्रह करने का निश्चय किया। सरदार बल्लभ भाई ने गांधीजी के साथ उनका नेतृत्व किया। इन्दौर से

महात्माजी के साथ मै साबरमती गया। वहाँ अभी मकान तैयार नही हुए थे। शायद एक मकान का थोड़ा हिस्सा बना था। सब लोग बाँस की चटाइयो से बनी झोपड़ियों मे ही रहते थे। आश्रम का जीवन आरम्भ हो गया था। सुबह-शाम को प्रार्थना, भोजन और—मुझको जहाँ तक याद आता है—कुछ चरखे का काम भी अभी शुरू ही हुआ था। वहाँ एक ही दिन ठहरकर महात्माजी खेड़ा-जिले में दौरा करने निकल पड़े। मै भी उनके साथ गया। अप्रैल का शायद अन्तिम सप्ताह था। वहाँ धूप बहुत कड़ाके की थी। आश्रम से रेल पर सवार होकर हम लोग कुछ दूर गये। वहाँ से कई गाँवों में जाकर लोगों से मिले। महात्माजी उन लोगों से बाते गुजराती मे किया करते; इसलिए मै कुछ समझ नही सकता था। पर इतना तो अनुमान कर लेता था कि लोगों को बताया जाता—अगर माल न देने के कारण ढोर-मवेशी जब्त किये जायँ तो उसको भी बर्दाश्त करना चाहिए, पर माल हरगिज न देना चाहिए।

एक दिन दोपहरी की कडी धूप मे गाधीजी के साथ मै जा रहा था। जमीन रेतीली होने की वजह से बहुत तप रही थी। मै तो जूता पहने हुए था, पर वह तो उन दिनों चप्पल भी नही पहनते थे। बालू मे पैर जलने लगे। अभी कुछ दूर तक जाने पर ही किसी पेड़ की छाया मिल सकती थी, पर इस बीच मे गर्म बालू के सिवा और कुछ नही था। मुझे तो कोई विशेष तकलीफ नही थी, पर मैंने देखा कि वह बहुत कष्ट पा रहे है। मेरे कन्धे पर एक चादर थी। मैंने उसे उनके पैरो के सामने डाल दिया कि इस पर थोड़ा आराम पैरो को मिल जाय। किन्तु उन्होंने उसपर पैर नही रखा। मुझसे कहने लगे कि इसकी क्या जरूरत है, इस देश मे करोडो आदमी इसी दोपहरी मे इससे भी अधिक गर्म बालू मे बिना जूते के चलते है और काम करते है। मै लाचार होकर चादर लेकर उनके पीछे-पीछे चुपचाप चलता गया। उसी समय मुझे चम्पारन की भी इसी तरह की एक घटना याद आ गई।

महात्माजी समय की बहुत पाबन्दी रखते थे। अपना एक मिनट भी समय बरबाद नही होने देते थे और न दूसरे का करते थे। उनका जो समय किसी से मुलाकात के लिए दिया जाता, ठीक उसी समय—अगर उनको जाना होता तो—वह पहुँच जाते। यदि दूसरे को उनसे मिलने आना होता तो उसको भी ऐन वक्त पर उनके पास पहुँच जाना पड़ता। हमारा अक्सर अनुभव हुआ है कि जब-कभी नियत समय से एक-दो मिनट बाद भी पहुँचा तो किसी-न-किसी तरह से वह याद दिला देते कि देर करके आये हो। इसी तरह, अगर किसी ने समय माँगा और कह दिया कि केवल पाँच ही मिनट चाहिए तथा उन्होने भी उस पाँच मिनट को मंजूर कर लिया, तो उन पाँच मिनटो में काम पूरा न होने पर भी वह काम को अधूरा ही छोड देते थे—कह देते थे कि आपका समय पूरा हो गया, अगर आपको और समय चाहिए तो फिर लीजिए।

चम्पारन मे हम लोग इन बातों को अच्छी तरह जानते नही थे। इसलिए कभी-कभी कुछ ढिलाई हो जाती थी। एक दिन मजिस्ट्रेट से उनको दो बजे मिलना था। मजिस्ट्रेट का घर कुछ दूर था, इसलिए भाड़े की घोड़ा-गाड़ी मँगा देने का प्रबंध किया

गया था। उन्होंने पूछा था कि पैदल जाने में कितना समय लगेगा। कहा गया कि आधा घटा। इस पर उन्होंने कहा कि डेढ़ बजे से पाँच मिनट पहले ही यहाँ गाड़ी तैयार रहनी चाहिए। हम लागों ने समझा था कि पैदल जाने मे जब आधा घटा लगेगा तो घोड़ा-गाड़ी के लिए आठ-दस मिनट काफी होना चाहिए। इसलिए, गाड़ीवाले को यद्यपि डेढ़ बजे से पहले ही आने को कहा गया तथापि ऐसा प्रबंध नही हो सका कि कोई जाकर उसे ठीक समय पर लाकर तैयार रखे। पहुँचने में उसने कुछ देर कर दी। ठीक डेढ़ बजे उन्होंने पूछा, गाड़ी तैयार है ? और, यह सुनकर कि अभी गाड़ी नही आई, वह निकल पड़े। हम लोगो ने बहुत कहा कि गाड़ी अभी आ जाती है, वह दो बजे के बहुत पहले ही वहाँ पहुँच जायगी, अभी थोड़ी देर ठहरकर जाने पर भी समय से पहुँच जायँगे। पर उन्होंने नहीं माना। उस कड़ी धप में ही चल पड़े। पूछने पर पीछे हम लोगो को पता लगा कि उन्होने ऐसा इसलिए किया कि वह ठीक समय पर पैदल ही पहुँच जायें; क्योंकि किसी कारण अगर गाड़ी न आती तो वह देर करके चलते और वहां ठीक समय पर न पहुँच सकते। हम लोगो को इसी से पता चला कि वक्त की वह कितनी पाबन्दी रखते है—यह केवल सार्वजनिक काम के लिए ही नही, शारीरिक नित्य-क्रिया के लिए भी।

खेड़ा की इसी यात्रा मे मेरी पहली मुलाकात सरदार वल्लभ भाई पटेल, श्रीशंकर लाल बैंकर, श्री अनसूया बाई आदि से हुई। वह दिन याद है, जिस दिन 'करमसद' गॉव में हम गये थे, वही सरदार वल्लभ भाई का घर देखा था और वही भोजन किया था। जो मुलाकात उस समय हुई वह पीछे एक घनिष्ठ सम्बन्ध के रूप मे परिणत हो गई। गुजरात के गाँवों का दो-तीन दिनो तक दौरा करके मै पटना वापस आ गया। मैंने वहाँ पूछा था कि मेरी जरूरत अगर हो तो मै रह जाऊँ, पर इसकी जरूरत नही समझी गई और मुझे छुट्टी मिल गई।

खेड़ा का सत्याग्रह थोड़े ही दिनो मे सफलता-पूर्वक समाप्त हुआ। उसके बाद गाधीजी उस जिले मे दौरा करके लोगो को फौज मे भर्ती कराने के प्रयत्न मे लग गये। उस समय जर्मन युद्ध बहुत जोरों से चल रहा था। लार्ड चैम्सफोर्ड को महात्माजी ने वचन दिया था कि वह मदद करेंगे। उस वचन को पूरा करने के लिए उन्होंने उस गर्मी के मौसम मे गाँवों का दौरा किया, जिसका एक नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों के बाद वह सख्त बीमार पड़ गये।

जब गांधाजी ने फौज मे भर्ती कराने का काम शुरू किया तो उसका असर बिहार पर यह हुआ कि उस सूबे की गवर्नमेंट भी भर्ती के काम में हमसे मदद लेने लगी। गाधीजी के साथ चम्पारन में रहने की वजह से लोगो से काफी परिचय हो गया था। शायद सरकारी कर्मचारियो के दिल में भी यह बात बैठ गई थी कि हमारे ऐसा आदमी उस काम में मदद पहुँचा सकता है। इसलिए जब पटना मे एक प्रातीय कमिटी बनाई गई तो उसका सदस्य बनने को मुझसे कहा गया। चूँकि गांधीजी इस काम को कर रहे थे, मैंने भी मजूर कर लिया। मुझसे विशेष आशा यह की जाती थी कि युवक-वर्ग मे से मै कुछ लोगों को लड़ाई में जाने के लिए तैयार कर सकूगा; क्योंकि बिहारी-छात्र-सम्मेलन के कारण छात्र-वर्ग के

साथ मेरा बहुत सम्पर्क था। पटना-युनिवर्सिटी-बिल के विरोध के आन्दोलन में मेरी साख जम गई थी। मैंने कुछ प्रयत्न तो किया, पर बिल्कुल असफल रहा; क्योंकि छात्र-वर्ग लड़ाई में जाने के लिए तैयार नहीं था। गांधीजी को भी अधिक सफलता नहीं मिली। पर जहाँ तक उनके शरीर से हो सकता था, उन्होंने कुछ भी उठा न रखा। इतना अधिक परिश्रम किया कि उनकी जान भी जोखम में पड़ गई। मैं अपने बारे में ऐसा नही कह सकता। कुछ थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया; पर और कामों के साथ इसको भी एक काम समझा, केवल इसी में सारी शक्ति नहीं लगा दी; अगर लगाता भी तो शायद बहुत बड़ा नतीजा नही निकलता। हमने इससे यह समझ लिया कि गांधीजी जो काम हाथ में लेते हैं, उसको पूरा करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। हमने अपने मे यह कमी पाई—केवल उसी समय नहीं, पीछे भी। वह एक-चित्तता और नतीजे की परवा न करके काम करने की प्रवृत्ति हमने अपने में कभी न पाई।

इसी समय मौटेगु-चैम्सफोर्ड-रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उन्होंने हिन्दुस्तान के विधान में सुधार करने के लिए यह रिपोर्ट तैयार की थी। देश की जागृति और होम-रूल-आन्दोलन के कारण ही ब्रिटिश गवर्नमेंट ने विधान में सुधार करने की घोषणा की थी। मि० मौण्टेगु भारत-सचिव थे। लार्ड चैम्सफोर्ड वाइसराय थे। दोनों ने भारत में भ्रमण करने और नेताओं से मिलने के बाद यह रिपोर्ट लिखी। रिपोर्ट की सिफारिशों के सम्बन्ध मे देश में मतभेद देखने में आया। कुछ लोग उसको ना-काफी समझते थे, कुछ लोग ना-काफी समझते हुए भी कृतज्ञ थे! तब कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन करने का निश्चय हुआ। वह अधिवेशन बम्बई में होनेवाला था। अधिवेशन के लिए सभापति चुनने की बात आई। इसी सम्बन्ध मे श्रीमती बेसेण्ट पटना आईं। मुझसे भी इस सम्बन्ध मे उनकी बातें हुईं। यों तो मैंने उनके भाषणों को पहले भी सुना था, पर उनसे परिचय नही हुआ था। उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम किसका सभापति होना पसन्द करोगे। मैंने गांधीजी का नाम बताया। उन्होंने कहा, वह दूसरा काम तो खूब कर लेते है, पर वह पौलिटि-सियन नही है! उन्होंने मेरे प्रस्ताव को, जो महज खानगी तौर से बातचीत में किया गया था, नामंजूर कर दिया। शायद वह पहले से ही निश्चय करके आई थी कि श्री सैयद हसन इमाम सभापति बनाये जायँ। हसन इमाम साहब, जबतक हाइकोर्ट के जज नही हुए थे, कांग्रेस में जाया-आया करते थे—उसमें दिलचस्पी लिया करते थे, पैसे भी दिया करते थे। कलकत्ता में हाइकोर्ट के जज होकर, फौजदारी के मुकदमों में इन्साफ करके, उन्होने अच्छी ख्याति भी पाई थी। जब १९१६ मे पटना में हाइकोर्ट खुला, जजी से इस्तीफा देकर पटना में बैरिस्टरी करने लगे। इन सारी बातों ने मिल-जुल कर उनको बहुत ही प्रसिद्ध जननायक बना दिया था। श्रीमती बेसेण्ट ने लोगो से राय करके उनको ही सभापति बनाया। जिस वक्त उन्होंने मुझसे यह कहा कि गांधीजी पौलिटिसियन नही है, मैंने दबी जबान से इसका कुछ प्रतिरोध भी किया। चम्पारन मे जो बड़ा काम गांधीजी ने कर दिखाया था उसका हवाला भी दिया। पर मेरी एक न चली। जब उन्होंने अपनी ओर से हसन इमाम साहब का नाम पेश किया तो उनके विरोध मे मैं कुछ कह ही नही

सकता था। मेरा अनुमान है कि श्रीमती बेसेंट का इसी किस्म का विचार गांधीजी के सम्बन्ध में बना रहा; क्योंकि गांधीजी ने जब देशव्यापी असहयोग-आन्दोलन आरम्भ किया तो श्रीमती बेसेंट ने भी उसका जोरों से विरोध किया। यहाँ तक कि गांधीजी की एक तरह से शैतान से तुलना करके अपने पत्र में लिखा—"वह अन्धकारमय शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते है !"

गांधीजी इतने अस्वस्थ थे कि बम्बई-कांग्रेस में नहीं जा सके। मैं उसमें गया। कांग्रेस समाप्त होने पर महात्माजी से मिलने अहमदाबाद चला गया। उन दिनों वह वहाँ मिरजापुर में, सेठ अम्बालाल की कोठी में, ठहरे हुए थे। मैं भी जाकर वहीं ठहरा। उनको पेट की बीमारी थी। ज्वर भी हो जाया करता था। वह औषधि कुछ लेते नहीं थे। उस वक्त दूध या दूध से बनी कोई चीज भी नहीं लेते थे। सब लोग घबराते थे कि वह कैसे रोगमुक्त होंगे। मैंने सोच लिया था कि दो-चार दिनों तक उनके साथ ठहरूँगा। रोज कुछ देर उनके पास बैठता। बाकी समय इधर-उधर घूमने में लगाता। एक दिन शहर में कुछ पुरानी ऐतिहासिक चीजों को देखने के लिए चला गया। कुछ देर करके लौटा तो सुना कि वह आश्रम चले गये। मैं भी आश्रम गया और वहीं ठहरा। दूसरे ही दिन वहाँ से लौटने का मेरा इरादा था।

उस वक्त तक कुछ मकान आश्रम में बन गये थे। एक कमरे में एक चारपाई पर वह लेटे थे। मैं खूब सवेरे वहाँ उनसे मिलने चला गया। देखा कि वह कुछ चिन्तित और व्यस्त है। थोड़ी देर में श्रीछगनलाल गांधी आ गये। कुछ देर के बाद महात्माजी स्वयं बोलने लगे—"कल मैं ज्वर की हालत में जिद्द करके यहाँ चला आया। मैं वहाँ उस बड़े महल में पड़ा-पड़ा यही सोचता था कि इस महल में मेरा क्या काम, मुझे तो आश्रम में ही रहना चाहिए और जबतक आश्रम में न जाऊँ, मुझे शान्ति कहाँ मिलेगी। यहाँ भी आकर मैं बहुत देर तक जागता और सोचता रहा हूँ कि मैं क्या कर रहा हूँ—एक काम भी पूरा नही कर पाता कि दूसरे काम में हाथ लगा देता हूँ, वह अभी अधूरा ही रहता है कि तीसरे में पड़ जाता हूँ। इस आश्रम को मैंने बहुत आशा और हौसले से खोला था। मैं चाहता था कि यहाँ रह कर जैसा यह आश्रम होना चाहिए वैसा इसे बनाने में और जैसे आश्रमवासी होने चाहिए वैसे लोगों के तैयार करने में लगा रहूँ। पर वह काम अभी ठीक तरह से आरम्भ भी न हुआ कि मुझे चम्पारन चला जाना पड़ा और तुम लोगों पर आश्रम चलाने का सारा भार पड़ गया। यहाँ तक कि जिस दिन से बाजाब्ता आश्रम का काम शुरू हुआ उस दिन भी मैं न आ सका। चम्पारन में जहाँ तक गवर्नमेंट से काम कराकर रैयतों को राहत दिलाने की बात थी, वह तो एक प्रकार से पूरी हुई। पर क्या इतने से ही रैयतों का भला होगा ? उनके बीच में रहकर उनकी रहन-सहन सुधारना, उन्हें निर्भीक बनाना और सच्ची शिक्षा देना असल काम है। इसके लिए मैंने कुछ पाठशालाएँ खुलवाई। वहाँ उनके बीच रहकर कुछ काम करना चाहिए, ऐसा सोचा तो; पर वह रचनात्मक काम अभी पूरी तरह आरम्भ भी न हुआ था कि मुझे 'खेड़ा' जाना पड़ा। खेड़ा का काम अधूरा ही था कि फौज की भर्ती का काम आ गया !

वही करते-करते इतना बीमार हो गया हूँ। मालूम नहीं, क्या होगा। अहमदाबाद के मिल-मजदूरों मे भी मैंने काम शुरू किया। पर उसको भी अधूरा ही छोड़ कर दूसरे काम मे लग जाना पड़ा। तो क्या सारा जीवन इसी तरह के अधूरे काम करके ही समाप्त करना है ? मुझे वह महल कल आराम नहीं देता था, चुभ रहा था। इसीलिए मैं इतना जिद्द करके ज्वर की हालत मे ही यहाँ चला आया। यही रात भर सोचता रहा। अब क्या होगा, कुछ देख नहीं रहा हूँ।"

इसी तरह की बातें करते-करते वह इतने आवेश मे आ गये कि आँखों से आँसू बहने लगे। वह बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगे। हमलोग चुप बैठे देखते रहे—क्या बोलें, क्या कहें और उनको क्या समझावे ! थोडी देर के बाद खुद ही शान्त होकर फिर बोले—"इतना आँसू बहने से कुछ शान्ति आई। जो ईश्वर को मंजूर होगा वही होगा।" इतना ही कहकर चुप हो गये। फिर, थोड़ी देर के बाद, आश्रम की और दूसरी बाते करने लगे। मुझे भी पटना जाने की आज्ञा मिली। मै वहाँ से पटना आ गया। बराबर वह दृश्य आँखों के सामने रहता है। अब मालूम होता है कि उन्होंने अपने जानते तो काम अधूरा छोड़ा; पर जिस काम को अधूरा भी छोड़ा, उसे भी बहुत दूर आगे तक पहुँचा दिया। अगर उसमे भी कुछ बाकी रह गया है तो उसे देश को—विशेषकर जो लोग अपनेको उनका अनुयायी मानते है उनको—पूरा करना है। यदि वे पूरा नही करते तो देश का दुर्भाग्य और उनकी अकर्मण्यता है।

आठवाँ अध्याय

जर्मन लड़ाई के जमाने में दो मुख्य घटनाएँ हुई, जिनका भारत के इतिहास के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक का थोड़ा जिक्र मैं कर चुका हूँ—वह वैधानिक सुधार-सम्बन्धी घोषणा और उसकी पूर्ति के लिए मौण्टेगु-चैम्सफोर्ड-रिपोर्ट के सम्बन्ध में देश में मतभेद इत्यादि। और, दूसरी चीज थी रौलट-कमीशन की नियुक्ति। यह कमीशन देश में राजविद्रोही दलों की कार्यवाहियों की जाँच करने और उनसे राज्य को सुरक्षित रखने के उपाय बताने के लिए नियुक्त हुआ था। इसका नाम इसके प्रधान 'मि० रौलट' के नाम पर पड़ा था। कमिटी ने एक रिपोर्ट तैयार की। उसमें क्रान्तिकारी दलों का इतिहास तो था ही, लड़ाई के जमाने मे देश और विदेश में जो विद्रोह करने का प्रयत्न किया गया था उसका वर्णन भी था। उसकी सिफ़ारिशें इस तरह की थीं कि भविष्य में किसी विद्रोही को विद्रोह करने का मौका न मिले। लड़ाई के जमाने में, सभी देशों मे, दुश्मन के षड्यंत्र से बचने के लिए, ऐसे कानून बना दिये जाते है। ऐसे कानून के द्वारा, अदालतों के हस्तक्षेप बिना ही, शक-शुबहा पर किसीको गिरफ्तार कर नजरबन्द कर देने और घर-जायदाद पर कब्जा कर लेने का अधिकार सरकारी अधिकारियों को दे दिया जाता है—इत्यादि। चूँकि दुश्मन से मुकाबला रहता है, लोग इन चीजों को बर्दाश्त कर लेते है। जहाँ अपनी सरकार रहती है वहाँ इन अधिकारों का प्रयोग भी ऐसी ही अवस्था में होता है, जब देश के लिए आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार का अधिकार भारत-सरकार को भी, लडाई के जमाने मे, मिले थे। यहाँ अपनी सरकार तो थी नही। ऐसे कानून का, गैरकानूनी तौर से भी, लोगों के साथ बहुत दुर्व्यवहार हुआ था। खासकर लड़ाई के लिए चन्दा वसूलने और फौज की भर्ती में बहुत ज्यादती और जुल्म हुए थे। देश में इस वजह से बहुत असंतोष और रोष था। विशेष कर पंजाब में, जहाँ के बड़े जाबिर और जबरदस्त लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर मायके ओडायर थे!

रौलट-कमिटी की सिफारिशें थीं कि इस लड़ाई के लिए बने हुए इस भारत-रक्षा-कानून की बुरी-से-बुरी धाराओं को भी अस्थायी रूप से भारतवर्ष के कानून में स्थान

दिया जाय। यह कमीशन लड़ाई के जमाने में ही नियुक्त हुआ था। पर इसकी रिपोर्ट निकलते-निकलते लड़ाई खतम हो गई। तब गवर्नमेंट ने इसकी सिफारिशों के अनुसार बिल तैयार किया, जो इम्पीरियल-लेजिस्लेटिव-कौंसिल के अधिवेशन में पेश किया गया। गवर्नमेंट की दोहरी नीति बहुत दिनों से चली आती थी—एक तरफ कुछ वैधानिक सुधार करके स्वराज्य की बात करनेवालों का मुँह बन्द कर देना और दूसरी ओर अधिक चीं-चपड़ करनेवालों के साथ सख्ती करना। इसी नीति के अनुसार एक तरफ सुधार की योजना हुई, दूसरी तरफ रौलट-बिल बना। दोनों ही देश के सामने आये। सुधार की योजना के सम्बन्ध में तो देश में कुछ मतभेद था; पर काले कानूनों के सम्बन्ध में देश-भर में कोई मतभेद नहीं था। यह नाम उन दो बिलों का पड़ गया, जिनके द्वारा रौलट-कमीशन की सिफारिशों को कानूनी रूप मिलता था। देश के नरम दल, गरम दल और क्रान्तिकारी लोग—सबके सब उनके कट्टर विरोधी थे। कौंसिल में उन दिनों थोड़े ही लोग जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। अधिकतर सरकारी मुलाजम तथा सरकारी नामजद लोग ही कौंसिल-मेम्बर हुआ करते थे। चुने हुए प्रतिनिधियों में एक आदमी भी ऐसा न मिला, जो उनका कड़ा विरोधी न हो। सारे देश में आवाज उठी कि हिन्दुस्तान ने लड़ाई जीतने में गवर्नमेंट की कितनी मदद की और उसका फल इन काले कानूनों के रूप में गवर्नमेंट दे रही है! पर गवर्नमेंट ने एक भी न सुनी। ऐसा मालूम हुआ कि ये जरूर पास हो ही जायँगे। महात्माजी, जो हाल ही मे अपनी बीमारी से उठे थे, इन बिलों से बहुत ही व्यथित हुए। उन्होंने इनका कड़ा विरोध किया। दूसरे लोग अपने बयान देकर ही शायद चप रह जाते, अपने विरोध को कोई क्रियात्मक रूप नहीं देते; पर गांधीजी इस तरह चुप बैठनेवाले नहीं थे। उन्होंने सभी जगहों पर सभाएँ करके विरोध करने का कार्यक्रम देश के सामने रखा। बहुतेरी सभाएँ हमलोगों ने बिहार में भी कीं। खासकर पटना में कई सभाएँ हुईं, जिनमें बहुत लोग आया करते। इस तरह की सभाएँ इसके पहले हम कभी बिहार में नहीं देखते थे। नई जागृति और नया जीवन आ गया था।

अन्त में, जब सरकार ने कुछ नहीं सुना तब, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि ये कानून यदि पास भी हो जायँ तो कदापि न माने जायँ। जो लोग ऐसा करने के लिए तैयार थे उनके नाम लिखकर प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कराके भेजने को कहा। बिहार में, चूँकि मैं पटना में ही रहता था, मेरे ही जिम्मे दस्तखत कराने का काम आया। कहना अनावश्यक है कि चम्पारन के उनके सहकर्मियों में से बहुतेरों न, और दूसरे लोगों ने भी, सहर्ष इस प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कर दिया।

यह ठीक पहला समय था जब हिन्दुस्तान में लौटने के बाद गांधीजी ने सामूहिक रूप से कानून तोड़ने का कार्यक्रम देश के सामने रखा था। इस कार्यक्रम में एक बड़ी कठिनाई यह थी कि जो काले कानून बन रहे थे और जिनके विरोध में यह सत्याग्रह होनेवाला था वे आसानी से तोड़े नहीं जा सकते थे; क्योंकि उनमें कोई ऐसी चीज जल्दी नहीं निकलती थी जिसकी अवहेलना की जा सके। पर इस दिक्कत को गांधीजी ने इस

तरह हल किया कि जो प्रतिज्ञा-पत्र उन्होंने बनाया उसमे यह लिखा गया कि हस्ताक्षर करनेवाला उन कानूनों को अथवा कमिटी के बताये हुए दूसरे कानूनों को भी तोड़ेगा। इस तरह, कमिटी के हाथ में यह बात रख दी गई कि कौन कानून तोड़ना होगा। सत्याग्रह-सभा के नाम से कमिटी मुकर्रर हुई। सारे देश में उत्साह उमड़ रहा था। पर बहुतेरे लोग, जो काले कानूनों के कट्टर विरोधी थे, सत्याग्रह—अर्थात् कानून-भंग—का कार्यक्रम नापसंद करते थे। यही पर साफ हो गया कि गांधीजी की पद्धति में और आजतक की प्रचलित राजनीतिक आन्दोलन की पद्धति में कितना फर्क है। वैधानिक सुधार के कारण कांग्रेस के भीतर जो मतभेद पैदा हो गया था, वह इस सक्रिय आन्दोलन के कारण और भी स्पष्ट हो गया। बिहार में इस सम्बन्ध म उतना कड़ा विरोध नही था। यहाँ तक कि मि० हसन इमाम ने भी प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कर दिया था। इसी सिलसिले में गांधीजी ने तिथि नियत की। उस दिन देश को उपवास करने, सब कारबार बन्द रखन, जुलूस निकालने तथा सभाएँ करके विरोध-प्रस्ताव पास करने का आदेश दिया। उन्होने इस आन्दोलन को देश के लिए शुद्धि का एक साधन बताया और अहिंसा पर काफी जोर दिया। यह भी कहा कि उस दिन सभी लोग अपने धर्म के अनुसार अपने-अपने देवालयों में प्रार्थना करें। तिथि के प्रकाशित होने मे कुछ गड़बड़ी हो गई। इसलिए कहो एक हफ्ता बाद और कहीं एक हफ्ता पहले यह दिन मनाया गया।

देश के लिए यह एक नया संदेश था। उस समय तक आन्दोलन का रूप बस सभाओं में प्रस्ताव पास कर देना और अखबारों में लेख लिख देना तक ही सीमित रहा करता था। वंग-भंग के समय, इसके अलावा, अंग्रेजी चीजों के बहिष्कार ओर स्वदेशी के प्रचार की बात भी चल गई थी। पर वह उसी एक आन्दोलन मे काम मे लाया गया था। वग-भंग रद्द हो जाने के बाद उसे भी बहुत लोग भूल गये थे। हाँ, जो उग्र मिजाज के थे, वे क्रान्तिकारी दल में शरीक हो गये। क्रान्तिकारी लोग अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी अफसरों को, जो आन्दोलन दबाने में अधिक काम करते रहे, मार डालने का प्रयत्न करते थे। इसके लिए वे बम बनाते और जहाँ-तहाँ से पिस्तौल इत्यादि जुटाते। कुछ लोग चुपके से पैसे उनको देते। नहीं तो, जहाँ तक उनकी ओर से डकैतियाँ की जातीं, उन्ही से पैसे जमा किये जाते। विशेषकर इस दल में युवक होते। इसका खुला प्रचार नही होता, सब काम गुप्त रीति से किये जाते। इसलिए, देश की जनता में इसका बहुत प्रचार नहीं हो पाया था। पर जो इसमे शरीक होते वे धुन के बड़े पक्के होते—अपनी जान हथेली पर लेकर काम किया करते। बहुत मुकदमे भी चले। बहुतेरों को फाँसी, कालापानी और लम्बी-लम्बी कैद की सजाएँ मिलती। एक कमजोरी इसमे यह थी कि जब कभी मुकदमे चलते, चाहे जिस तरह हो, किसी-न-किसी को पुलिस फोड़ ही लेती। वही सरकारी गवाह हो जाता। मुकदमा चलने पर कचहरियों में पैरवी की जाती और जिस तरह से हो, बचने का प्रयत्न किया जाता।

गाधीजी ने जो कार्यक्रम बतलाया था वह इससे भिन्न था। एक तो उसमें प्रतिपक्षी पर हाथ उठाने की बात नहीं थी, दूसरे जो कुछ करना था वह खुले-आम—लुक-छिपकर

नही, और उसके लिए जो भी सजा हो उसे हँसते-हँसते शिरोधार्य करना था। रौलट-बिल के विरुद्ध आन्दोलन में जितनी सभाएँ देश में हुईं और उनमें जितने लोग शरीक हुए, उनमे जो उत्साह के दृश्य देखे गये, वे अभूतपूर्व थे। जो लोग पहले की पद्धति से संतुष्ट नही थे और जो उसे निष्फल तथा निष्क्रिय समझते थे—पर साथ ही जो क्रान्तिकारी कार्यक्रम को भी पसंद नहीं करते थे—इस नये कार्यक्रम को देखकर बहुत प्रभावित हुए। ऐसा मालूम हुआ कि देश के हाथ मे एक नया हथियार गांधीजी ने दे दिया।

चम्पारन से जाने के बाद भी गांधीजी ने बिहार के साथ सम्बन्ध रखा। हमलोग समझते थे कि जो कुछ वह कहे, हमे करना ही चाहिए। उनको भी भरोसा था कि वह जो कहेंगे उसे बिहार के लोग मान लेगे। इसलिए, इस सत्याग्रह मे हमने अपनी जवाबदेही समझकर ही उस काम को हाथ मे लिया था—यद्यपि यह अभी साफ नहीं था कि कब और किस तरह इसका आरम्भ होगा। पटना मे छठी अप्रैल की हड़ताल, जलूस और सभा ऐसी हुई जैसी पहले बिहार मे कभी न हुई होगी। केवल पटना मे ही नहीं, बिहार के दूसरे शहरों और गाँवों मे भी यह दिन बड़े समारोह से मनाया गया। शहरो में एक भी दूकान न खुली और न भाड़े की एक सवारी चली। सारे शहर के हिन्दुओं ने मानों उस दिन को एक पवित्र दिन मानकर गगा मे स्नान किया और मदिरों मे प्रार्थना भी की। मुसलमानों ने मसजिदो मे दुआएँ माँगी। दोपहर को दो-ढाई मील लम्बा एक जुलूस निकला जिसमें सभी लोग नगे सिर और नगे पैर शरीक हुए। पटना शहर मे किले पर सभा होनेवाली थी, पर वह जगह छोटी साबित हुई। अत सब लोग गगा के किनारे बालू पर फैल गये। वही एक इतनी बड़ी सभा हुई जितनी बडी उसके पहले पटना मे कभी हुई न होगी। गाधीजी का नाम बिहार के देहातो मे—विशेषकर उत्तर-बिहार में—लोग अच्छी तरह जानते थे, क्योकि चम्पारन की बात घर-घर मे फैल गई थी। गाँव के लोगो ने भी इस दिन काम बन्द रखने के आदेश का ऐसा पालन किया कि उस दिन देहातो मे न हल जोते गये और न बैलगाड़ियाँ चलीं। सभी जगहो पर लोगों ने उपवास किया और सभाएँ की। यह खबर जब हमलोगो को मालूम हुई कि गाँवों मे भी लोगो ने यह दिन मनाया है, तो हमलोगो का उत्साह और भी बढ़ गया। अब हम इसकी अपेक्षा करने लगे की आगे क्या आदेश मिलता है।

गाधीजी, दिल्ली में कुछ वाकयात हो जाने के कारण, अहमदाबाद से दिल्ली जा रहे थे। गवर्नमेंट के हुक्म से, दिल्ली के नजदीक पहुँचने पर, वह गिरफ्तार कर लिये गये। गवर्नमेंट के आदमी उनको कही ले गये—उस समय उनलोगों ने यह नही बतलाया कि उन्हें कहाँ ले जा रहे हैं। श्रीमहादेव भाई उनके साथ थे, उन्हे भी यह पता न लगा कि महात्माजी कहाँ ले जाये गये। तब वह सीधे बम्बई वापस हुए। उन्होंने मेरे पास तार भेजा कि महात्माजी दिल्ली के रास्ते मे गिरफ्तार कर किसी अज्ञात स्थान मे भेज दिये गये। मुझे उन्होने तुरत बम्बई बुलाया कि वहीं मिलकर सलाह-बात की जाय कि अब क्या करना होगा। मै तार पाते ही बम्बई के लिए रवाना हुआ। समझ लिया कि कुछ-न-कुछ होकर ही रहेगा, अब ज्यादा इन्तजार करने की जरूरत नही पड़ेगी। रास्ते मे मुझे कुछ

अखबार मिले जिनसे यह पता चला कि कई जगहों पर बलवा शुरू हो गया है। पटना से बम्बई जाने में प्राय: दो दिन रेल में लग जाते है। मुझे यह खबर भी एक दिन देर करके मिली थी; इसलिए मेरे बम्बई पहुँचते-पहुँचते तीन या चार दिन बीत चुके थे। मैं पहुँचा तो मालूम हुआ कि महात्माजी को और कहीं न ले जाकर बम्बई मे ही लाकर छोड़ दिया है। उनकी गिरफ्तारी की खबर से बम्बई में भी कुछ बलवा-फसाद शुरू हुआ था। पर वहाँ उनके पहुँच जाने पर शांति हो गई थी। किन्तु वह अहमदाबाद चले गये थे, जहाँ जोरों से बलवा हो रहा था। तब तो बम्बई में मेरा कोई काम नहीं रह गया। मैंने सोचा कि अहमदाबाद ही चलना चाहिए। उसी दिन संध्या की गाड़ी से मैं अहमदाबाद के लिए रवाना हो गया। वहाँ भी महात्माजी के पहुँचने के बाद बलवा-फसाद कम हो गया था। ार सरकारी चौकसी सारे शहर में दीख रही थी। पुलिस और फौज के आदमी ाहरा लगा रहे थे। स्टेशन से साबरमती-आश्रम पहुँचने में मुझे कठिनाई का सामना करना पड़ता; किन्तु स्टेशन पर खुफिया-पुलिस के आदमी ने ताँगा ठीक करके मेरा काम आसान कर दिया। मैं महात्माजी के पास सकुशल पहुँच गया। वह शहर मे सभी जगहों पर अपने कार्यकर्त्ताओं को भेज रहे थे और लोगों को समझा-बुझाकर शान्त करने के प्रयत्न में लगे हुए थे। बहुत-कुछ शहर शान्त हो चुका था। पर तो भी लोगों में प्रचार की जरूरत तो थी ही। वहाँ की स्थिति सुधरते ही, उसी दिन या दूसरे दिन, महात्माजी फिर बम्बई के लिए रात को रवाना हो गये। मैं भी साथ था। रेल मे उनके ही डब्बे में बैठा। रात को वह सोये नहीं, कुछ लिखते ही रहे। सवेरे जो उन्होंने लिखा था, मुझे पढने को दिया। वह आन्दोलन और सत्याग्रह बन्द करने की घोषणा थी। जो बलवा-फसाद उनकी गिरफ्तारी के कारण दिल्ली, पंजाब, बम्बई, अहमदाबाद और दूसरे अनेक स्थानों में हुआ उसका असर उनके दिल पर बहुत पड़ा। उन्होंने उस समय रेल में ही निश्चय किया कि देश ने उनकी पद्धति को अभी ठीक समझा नहीं, इसलिए आन्दोलन को बन्द करना ही उचित होगा।

जो लोग अभी उनके अहिंसा-तत्त्व को ठीक नहीं समझे हुए थे उन्होंने इसकी आलोचना की। इस तरह आन्दोलन रोक देने को भला-बुरा भी कहा। अभी तक सत्याग्रह न कहीं शुरू हुआ था और न इसका ठीक रूप ही निर्धारित हुआ था। जिन लोगों ने प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत किये थे, वे भी अभी नही जानते थे कि उन्हें क्या और कब कुछ करना होगा। इसलिए महात्माजी की घोषणा निकलते ही सत्याग्रह की बात तो स्थगित हो गई। पर इसी बीच पंजाब के जालियानवाला-बाग में, जेनरल डायर द्वारा, निर्मम हत्याकाण्ड और पंजाब-प्रान्त में बड़े भारी जल्म और अत्याचार हो गये, जिनकी पूरी खबर देश को बहुत दिनों तक नहीं मिली। किन्तु मिलने पर तो सारे देश में आग-सी लग गई। वही स्वराज्य-सम्बंधी देशव्यापी आन्दोलन की नींव डालने का कारण साबित हुई। इसी बीच ब्रिटिश गवर्नमेंट की खिलाफत-सम्बन्धी नीति और वादा-खिलाफी ने मुसलमानों में भी बड़ी जागृति ला दी। जब पंजाब-सम्बन्धी हत्याकांड और अत्याचारों की जाँच के लिए गवर्नमेंट ने हंटर-कमीशन नियुक्त किया और उस कमीशन के साथ

कांग्रेस की नहीं पटी, तब कांग्रेस की ओर से जाँच के लिए अलग कमिटी मुकर्रर हुई, जिसके एक सदस्य महात्मा गांधी भी थे। जब हत्याकांड तथा अत्याचारों के ब्योरेवार हाल लोगों को मालूम हुए तो देश के असंतोष का पारा और भी ऊँचा चढ़ गया। मैं उन दिनों पटना में ही रहा, पर इस जाँच-कमिटी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं हुआ।

जब गांधीजी ने खिलाफत-कमिटी को असहयोग करने की राय दी, उसने खिलाफत-सम्बन्धी सरकारी नीति के कारण असहयोग करने का निश्चय कर लिया। गवर्नमेंट ने भी हंटर-कमिटी और कांग्रेस-कमिटी की जाँच-रिपोर्ट के बाद पंजाब-सम्बन्धी कोई संतोष-जनक फैसला नहीं किया। तब, कांग्रेस के सामने भी यह सवाल आया कि अब उसे क्या करना चाहिए। इस तरह, कांग्रेस-कमिटी और खिलाफत-कमिटी—दोनों, एक साथ मिलकर, काम करने लगीं। दोनों के सामने असहयोग की बात आई। बनारस में एक बैठक हुई। वहाँ यह तय हुआ कि कांग्रेस का विशेष अधिवेशन, इसी विषय पर विचार करने के लिए, कलकत्ता में किया जाय। लाला लाजपतराय हाल में ही विदेश से लौटे थे। उस अधिवेशन के वही सभापति चुने गये। १९२० के सितम्बर में अधिवेशन करने का निश्चय हुआ।

असहयोग का जो कार्यक्रम गांधीजी ने बतलाया उसमें था—सरकारी उपाधियों को न लेना और जो मिली हों उन्हें छोड़ देना तथा नये विधान के अनुसार होनेवाले सरकारी कौंसिलों के चुनाव का बहिष्कार करना, न कौंसिलों के लिए उम्मीदवार खड़े होना और न वोट देना, सरकारी या सरकार से किसी तरह का सम्बन्ध रखनेवाले स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार करना—वहाँ न शिक्षा पाना और न अपने बच्चों को शिक्षा पाने के लिए उनमें दाखिल करना, सरकारी अदालतों का बहिष्कार करना—न उनमें मुकदमे दायर करना और न वकालत-मुख्तारी करना। ये चार बहिष्कार असहयोग के मुख्य अंग थे। साथ ही, विदेशी वस्त्र का बहिष्कार, चरखा तथा खद्दर का प्रचार, राष्ट्रीय शिक्षा, पंचायती अदालत कायम करना—इत्यादि उसके रचनात्मक काम थे। देश में इस कार्य-क्रम पर बहुत चर्चा होने लगी।

गांधीजी ने 'यंग इंडिया' का सम्पादन अपने हाथ में लिया था। इसलिए उनके विचार देश को प्रति सप्ताह मिल जाया करते थे। मैं दूर से ही इन सब चीजों को देखता और सुनता रहा। महात्माजी से भी मेरी मुलाकात, कांग्रेस-कमिटी की किसी विशेष मीटिंग में या ऐसे ही दूसरे किसी मौके पर, होती रहती। पर मैंने इस सम्बन्ध में उनसे विशेष कुछ जानने या पूछने की न जरूरत समझी और न उन्होंने कुछ कहने या लिखने की। मैं उनके लेखों आदि से ही संतुष्ट हो जाया करता था। उनके दिल में शायद यह भरोसा था कि जब काम का समय आयेगा तो बिहार के लोग उनके कार्यक्रम को यथासाध्य पूरा करने से बाज नहीं आयँगे।

उस मौके पर मेरे कम सम्पर्क का एक कारण यह भी था कि १९२० के आरम्भ से ही मैं एक बड़े मुकदमे में काम कर रहा था, जिसमें पं० मोतीलालजी नेहरू और देशबन्धु दासजी भी थे। मैंने निश्चय कर लिया था कि असहयोग आरम्भ होने पर भी मुझे उसमें

शरीक होना ही होगा और इसके लिए मुझे दो चीजे तत्काल छोड़नी पड़ेंगी—एक तो वकालत और दूसरी असेम्बली की उम्मीदवारी। चुनाव १९२० के नवम्बर मे होनेवाला था। मैंने सोचा था कि चम्पारन से मैं खडा होऊँगा। वहाँ के किसान हमलोगों को जान गये थे। मै समझता था कि वहाँ से चुने जाने मे आसानी होगी—मैं उस जिले के लोगों का प्रतिनिधित्व भी कर सकूँगा; क्योंकि वहाँ की खासी जानकारी हो गई थी; पर यह तभी करना होगा जब काँग्रेस फैसला कर दे। आशा थी कि बड़ा मुकदमा भी उस समय तक समाप्त हो गया रहेगा, इसलिए मैं अभी अपना काम करता रहा।

अगस्त महीने मे, बिहार-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का अधिवेशन भागलपुर में होनेवाला था। मुझे ही लोगो ने उसका सभापति चुना था। उसके सामने देश की सबसे बडी समस्या पर और असहयोग के कार्यक्रम पर विचार होनेवाला था। लोगो ने, यह जानते हुए भी कि मैं असहयोग का पक्षपाती हूँ, मुझे सभापति चुना। पर मैं यह नही जानता था कि सम्मेलन इस कार्यक्रम को मानेगा या नही। अभी तक देश के किसी प्रान्त ने इस सम्बन्ध मे अपनी राय नही दी थी, इसलिए मैं हिचकता था। पर बाबू व्रजकिशोर आदि के जोर देने पर मैंने सभापतित्व स्वीकार कर लिया। श्रीसच्चिदानन्द सिनहा-जैसे बुजुर्ग नेता से भी पूछ लिया। उन्होने बहुत खुले दिल से मेरा सभापति होना पसद किया; राय भी दी कि तुम्हारा विचार अगर असहयोग के पक्ष मे है तो तुम उसको सम्मेलन के सामने साफ-साफ बतला दो और अन्तिम निश्चय सम्मेलन पर छोड़ दो। मैंने ऐसा ही किया। मेरा भाषण, खिलाफत और पंजाब की घटनाओं की चर्चा करके, ब्रिटिश गवर्नमेंट से तत्सबधी न्याय कराने के लिए असहयोग-कार्यक्रम को एक प्रकार से अनिवार्य बताकर, उसकी पुष्टि करता था। इसके अतिरिक्त कुछ अपने सूबे की तात्कालिक बातें भी उसमे थी। यह सम्मेलन काग्रेस के विशेष अधिवेशन से चन्द दिन पहले ही हुआ। मैं जहाँ तक जानता हूँ, यह पहला ही सम्मेलन था जिसमे किसी प्रान्त के प्रतिनिधियो ने असहयोग के समर्थन मे बाजाब्ता प्रस्ताव पास किया। जब हमलोग प्रस्ताव के रूप पर विचार करने लगे तो बाबू व्रजकिशोरप्रसाद ने पजाब की घटनाओं और खिलाफत-सम्बन्धी शिकायत के अलावा असहयोग के कारणो मे स्वराज्य-प्राप्ति को भी जुड़वा दिया। यह उस समय, विशेषकर हमको, खटका। अभी तक हमने यह समझ रखा था कि यह असहयोग थोड़े दिनो के लिए ही होगा; जैसे चम्पारन का काम पूरा करके हम फिर अपने-अपने धधे मे लग गये थे वैसे ही इसको भी पूरा करके पंजाब और खिलाफत के सम्बन्ध मे इन्साफ करा लेगे तथा फिर अपने-अपने धन्धों मे लग जायँगे। हम यह समझते थे कि स्वराज्य-प्राप्ति बहुत कठिन है; उसके लिए एक बार असहयोग शुरू कर देने पर शायद सारी जिन्दगी असहयोग करते ही बितानी पड़े। इसके लिए सम्मेलन के पहले तक मैंने नही सोचा था और न तैयार ही था। पर सम्मेलन ने जब यह प्रस्ताव मजूर कर लिया तो प्रस्ताव की पूर्ति मे चाहे जितना समय लगे, असहयोग करते रहने का निश्चय करना ही पड़ा।

बहुत दिनो के बाद जब गाधीजी से इस सम्बन्ध मे बातचीत हुई तो उन्होने समझा

दिया कि देखने में खिलाफत और पंजाब की बातें यद्यपि छोटी मालूम होती हैं तथापि ब्रिटिश गवर्नमेंट उनको तबतक नही मान सकेगी और न हमारे चाहने के अनुसार न्याय दे सकेगी जबतक वह हमारे हाथो में अधिकार सौपने के लिए तैयार न होगी। इसलिए स्वराज्य-प्राप्ति की बात लगा देने से हमने अपनी माँग को ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिए ज्यादा कठिन नही बना दिया, बल्कि अपने लिए तथा देश के लिए उसे अधिक व्यापक और व्यावहारिक बना दिया। उस समय मैं पूज्य व्रजकिशोर बाबू की दूरदर्शिता और व्यावहारिकता का और भी कायल हो गया।

बिहार-सम्मेलन के बाद ही, और कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के पहले ही, गुजरात में भी प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। उसने भी असहयोग का समर्थन किया। मैं कलकत्ता के विशेष अधिवेशन मे शरीक न हो सका; क्योंकि ठीक उन्हीं दिनों उस बड़े मुकदमे की बहस चल रही थी, जिसमे हमारे पक्ष की ओर से पंडित मोतीलालजी नेहरू बहस करनेवाले थे; पर उस समय कलकत्ता के दूसरे बैरिस्टर मिस्टर नृपेन्द्रनाथ सरकार—जो पीछे एडवोकेट-जेनरल और वाइसराय-कौंसिल के सर एन० एन० सरकार के नाम से प्रसिद्ध हुए—बहस कर रहे थे और मैं उनकी मदद कर रहा था।

देशबन्धु दास दूसरे पक्ष की ओर से बाद को बहस करनेवाले थे; पर वहाँ जा कुँछ फैसला हुआ उससे मैं पूरा सहमत था; क्योंकि वही फैसला हमने बिहार-सम्मेलन में कर लिया था। अब निश्चय हो गया कि मेरे लिए शायद यही आखिरी मुकदमा होगा। कलकत्ता-अधिवेशन के कुछ बाद तक मुकदमे की बहस चलती रही। पर अक्टूबर का आरम्भ होते ही मुकदमे से फुर्सत मिल गई। अब मैं असहयोग के काम में लग गया। कांग्रेस के बाद भी अखिलभारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक हुई, जिसमें असहयोग-सम्बन्धी प्रचार का निश्चय किया गया। मैं पंडित मोतीलाल नेहरूजी के साथ ही उस बैठक मे गया था। वहाँ जो कार्यक्रम निश्चित हुआ, लौटकर उसीके अनुसार काम करने लगा।

नवाँ अध्याय

१९२० के नवम्बर में, नये विधान के अनुसार, कौंसिलों के लिए चुनाव होने-वाला था। कलकत्ता-कांग्रेस के बाद कांग्रेसवाले सभी जगहों में चुनाव के लिए उम्मीदवार होने से बाज आये। मैंने तो उसके पहले ही विचार छोड़ दिया था। इस सम्बन्ध में परचों के जरिये और जहाँ-तहाँ सभा करके खूब प्रचार किया गया। लोगों को वोट देने से भी मना किया गया। बिहार मे इसका नतीजा यह हुआ कि उम्मीदवार के बिना कोई जगह खाली न रही; मगर वोट देनेवाले बहुत ही कम शरीक हुए। एक तो इस प्रकार का पहला चुनाव था, इसलिए इसमे शायद कम लोग वोट देते ही। पर कांग्रेस के प्रचार से जो वोट देते भी उनमे से भी बहुतेरे कम शरीक हुए। इसलिए, जब कभी कौंसिल के मेम्बर की बात होती तो यह सचाई के साथ कहा जा सकता था कि ये लोग देश के सच्चे प्रतिनिधि नही है। लिबरल दल के लोगों से कांग्रेस का यहाँ पर खुल्लमखुल्ला मत-भेद और विरोध हो गया। उन लोगों ने केवल चुनाव मे ही हिस्सा न लिया, बल्कि चुनाव के बाद नये विधान के अनुसार जो मंत्रिमंडल बने उनमे भी आ शरीक हुए। इस तरह वे नये विधान को सफल बनाने मे, जहाँतक उनसे हो सकता था, कोशिश करने लगे। यद्यपि कांग्रेस के विशेष अधिवेशन मे असहयोग का कार्यक्रम स्वीकृत हो चुका था तथापि एक बड़ा दल था जो उसे स्वीकार नही करता था। वह दल वार्षिक अधिवेशन का, जो दिसम्बर मे नागपुर मे होनेवाला था, इन्तजार कर रहा था—कि वहाँ पर इसे नामंजूर करा दिया जायगा। बात यह थी कि इस कार्यक्रम को लोग पूरी तरह समझते नही थे, इसलिए इसे बेकार मानते थे। यह अक्सर सुनने में आता था कि इससे ब्रिटिश गवर्नमेंट पर कोई असर नही पड़ सकता। साथ ही, यह भी कहा जाता था कि लोग इसे मानेंगे नही, अगर मानेंगे भी तो कई बातों से उनका ही नुकसान होगा, ब्रिटिश गवर्नमेंट का नहीं। इसी बात के आधार पर बतलाया जाता था कि सारा कार्यक्रम निष्फल होगा।

सरकारी खिताबों को छोड़ने के सम्बन्ध में कहा जाता था कि एक तो ये उपा-धियाँ जिन लोगों को दी गई है वे ऐसे वर्ग के है जो कांग्रेस से प्रायः हमेशा ही अलग रहे है, अतः वे इस बात को नही मानेंगे; दूसरे यदि इक्के-दुक्के कुछ लोगों ने अपने खिताब

वापस भी कर दिये तो इससे ब्रिटिश गवर्नमेंट का कुछ बनता-बिगड़ता नही। बात यह थी कि सारे प्रोग्राम की तह मे यह निहित था कि या तो उससे ब्रिटिश गवर्नमेंट का रोब और दबदबा इस देश में कम हो जाय या जो लोग छोटी-छोटी चीजों के लिए गवर्नमेंट पर भरोसा करते हैं वे उसे छोड़कर आत्मनिर्भरता सीखें—लोगों के दिल में जो धाक जमी हुई है वह किसी तरह कम हो जाय; वे निर्भकता-पूर्वक स्वतंत्र विचार करना सीखे—गवर्नमेंट की तरफ से मुँह मोड़कर जनता की ओर मुँह फेरे। यह बात सच है कि खिताब थोड़े ही लोगों ने छोड़े; पर जनता मे जो उनके विरुद्ध प्रचार हुआ उसका फल यह हुआ कि उनके लिए लोगों के दिल मे जो आदर था वह घट गया। इसका अर्थ यह नही है कि किसी के दिल मे खिताबो के लिए आदर नही रह गया या इनको पाने का अब कोई प्रयत्न नही करता। कुछ लोग तो ऐसे थे ही जो इनका आदर करते रहे और इनके पाने की अभिलाषा से ब्रिटिश गवर्नमेंट को खुश करने के प्रयत्न मे लगे रहे। पर जनसाधारण में उनके प्रति विरोध नही तो उपेक्षा का भाव अवश्य फैल गया। कही-कही तो उपाधिधारियो के प्रति लोगो ने दुर्व्यवहार भी किया। पर यह दुर्व्यवहार कार्यक्रम का अंग नही था। कार्यक्रम तो इतना ही था कि ब्रिटिश गवर्नमेंट की दी हुई प्रतिष्ठा को लोग प्रतिष्ठा न समझें। इस विषय मे पूरी सफलता मिली। मेरा विचार है कि असहयोग-कार्यक्रम के दूसरे अगो से इसी मे अधिक सफलता मिली; क्योंकि औरो के सम्बन्ध मे पीछे जाकर कुछ मतभेद हुआ भी, पर इस सम्बन्ध मे कभी कोई मतभेद नही हुआ। उपाधियो की ओर उपेक्षा-भाव दिन-दिन बढता ही गया।

कौसिलो के सम्बन्ध मे बहुत मतभेद था, क्योकि राजनीति मे सम्बन्ध रखनेवाले लोग समझते थे कि कौसिलो मे शरीक होकर अगर मंत्रिपद लेकर हम जनता की भलाई न कर सकेंगे, तो कम-से-कम कौसिलो मे रहकर ब्रिटिश गवर्नमेंट की कटु चाल से देश को कुछ हद तक बचा सकेंगे। लिबरल दल के लोग—और बहुतेरे दूसरे लोग जो किसी दल में नही थे या किसी नये दल मे शरीक हो गये थे—पहले विचार के थे। वे ही लोग पहले चुनाव मे और चुनाव के बाद मंत्रिमंडल मे शरीक हुए। जो लोग काग्रेस के अन्दर रह गये थे वे यह कहते थे कि चुनाव मे अगर कोई शरीक न हुए और कौसिलो की कुर्सियाँ सब-की-सब खाली रह जायँ, तो हम इस प्रकार के बहिष्कार को एक प्रकार से सफल मान सकते है। पर ऐसा न तो इस चुनाव मे हुआ, न कभी होनेवाला है। इसलिए, जब देश के कुछ लोग—चाहे कितने ही कम आदमियो के वोट से सही—चुने जाकर कौसिलो की जगह को भर देंगे और वहाँ काम करेंगे तब गवर्नमेंट कह सकेगी कि बहिष्कार तो हुआ ही नही, और संसार भी इसी बात को मानेगा। इसलिए कौसिलो के चुनाव में भाग लेकर इस प्रकार के सुधार को काम मे लानेवाले लोगो को हरा देना चाहिए; तभी अपनी मर्जी के मुताबिक काम करके ससार को दिखला सकते है कि यहाँ देश के सच्चे प्रतिनिधि हम है। पर इस बार का चुनाव तो हो चुका। और, जबतक फिर तीन वर्षों के बाद दूसरा चुनाव न आ जाय, इसका महत्त्व कम हो गया। पर आगे चलकर इस सम्बन्ध मे आपस मे बड़ा मतभेद हो गया।

वकालत-बैरिस्ट्री छोड़ देने और अदालतों से असहयोग करने के सम्बन्ध मे भी ज्यादा बहस न रही; क्योंकि कोई यदि न छोड़ता और इसका विरोध करता तो जनता समझ बैठती कि इसकी सारी बहस स्वार्थवश है—चूँकि यह खुद वकालत छोड़ने पर तैयार नही है, इसलिए इस कार्यक्रम के विरुद्ध बाते बघार रहा है। बहुत बड़े-बड़े लोगों ने काम छोड़ने के बाद ही इस कार्यक्रम में भाग लेना मुनासिब समझा। इसका एक नतीजा तो यह हुआ कि सारे देश मे बहुतेरे लोग—जो पहले से सार्वजनिक काम किया करते थे या जिनको लोग वकालत और बैरिस्ट्री मे उनकी नामवरी के कारण जानते थे—अपना सारा समय देकर असहयोग के काम मे लग गये। इसका जनता पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उस समय तक सब लोगो के सामने यह साफ नही था कि कितने दिनों तक के लिए अपना पेशा छोड़ना है। बहुतेरे लोग तो उत्साह मे आकर शरीक हो गये। महात्माजी ने यह कह दिया कि देश ने कार्यक्रम को यदि पूरा कर दिया तो एक वर्ष मे स्वराज्य हम ले सकते है। बहुतों ने यह समझ लिया कि यह एक वर्ष के लिए ही कार्यक्रम है, एक वर्ष के बाद तो स्वराज्य हो ही जायगा, फिर विशेष कुछ करना-धरना नही होगा! महात्माजी की शर्त को लोग भूल गये, सोचने लगे कि ३१ दिसम्बर १९२१ तक तो स्वराज्य हो ही जायगा! इसलिए बहुतेरे लोग जो आवेश मे वकालत छोडकर आये थे, १९२१ के बाद आहिस्ता-आहिस्ता एक-एक करके फिर वकालत करने चले गये। इसमे उनका दोष भी बहुत नही था; क्योंकि बाल-बच्चो की परवरिश के लिए कोई दूसरा जरिया भी न था—उनकी अपनी और उनके घरवालों की जिन्दगी ऐसी बन गई थी कि वे दूसरा कोई काम करके गुजर कर भी नही सकते थे। तो भी, कुछ तो हमेशा के लिए इस काम मे रह ही गये। और, बहुतेरे जो उस वक्त वापस चले गये, १९३० मे फिर मौका आने पर आकर जुट गये।

इस कार्यक्रम मे जनसाधारण ने अदालतों में जाना नही छोडा; क्योंकि सम्पत्ति पर किसी प्रकार का आघात पहुँचते ही अदालत की शरण लेना जरूरी हो जाता है। लोग सम्पत्ति पर आघात बर्दाश्त नही कर सकते थे। साथ ही, बेईमान लोग इस बहिष्कार से नाजायज नफा उठाकर अदालतो का बहिष्कार करनेवालो को नुकसान पहुँचाने से नही हिचकते थे! तो भी एक वर्ष तक तो बहुत हद तक अदालतों का बहिष्कार ही चला। जो आमदनी सरकार को अदालतों के जरिये होती थी उसमे खासा कमी पड़ गई। एक वर्ष की बात मान कर बहुतों ने अपने दावे स्थगित कर रखे कि एक वर्ष के बाद देखा जायगा। जहाँ जनता में अधिक उत्साह था वहाँ पंचायतो का काम कुछ दिनों तक बहुत मजे में चला। दोनों पक्षों के लोग पंचायतों के फैसलो को मान लेते और उनके मुताबिक काम भी करते। पर कही-कही ऐसा भी देखा गया कि उन पंचायतों के सामने ऐसे-ऐसे दावे भी पेश कर दिये जाते जिनकी सुनवाई कभी अदालत मे भी नही हो सकती थी। यदि पंचायत कुछ न कर पाती तो वे लोग उसकी शिकायत करते। जो हो, इतना तो जरूर हुआ कि अदालतों का दबदबा भी बहुत कम हो गया। वकालत का पेशा, जिसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, कुछ दिनो के लिए, कम-से-कम अगर बहिष्कृत नही तो तिरस्कृत अवश्य हो गया था।

सरकारी और सरकार से सम्बन्ध रखनेवाले शिक्षालयों के विषय में सबसे ज्यादा मतभेद रहा। इस कार्यक्रम की तह में यह बात थी कि अंग्रेजी-शिक्षा ने देश की विचार-धारा को एकबारगी बदल दिया है। केवल विचार ही नहीं, हमारे दिमाग भी बदल गये हैं! शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण अपनी भाषाओं के साथ लोगों का सम्पर्क छूट गया है। इसके द्वारा ब्रिटिश ने हमारे ऊपर केवल राजनीतिक आधिपत्य ही नहीं, बल्कि मानसिक और नैतिक आधिपत्य भी स्थापित कर लिया है। शिक्षा-प्रणाली भी देश के हित के विचार से नहीं बनाई गई है। उसमें अधिक ध्यान इस बात पर दिया गया है कि उन शिक्षालयों के द्वारा ब्रिटिश राज्य का कारबार चलाने के लिए हिन्दुस्तानी कर्मचारी तैयार कर लिये जायँ—जैसा मेकौले ने सोचा था कि शिक्षा के द्वारा ऐसे लोग तैयार किये जायँगे जो शक्ल-सूरत में हिन्दुस्तानी रहते हुए भी अन्दर से अंग्रेजियत से भरे रहेंगे! इसलिए, जबतक यह पद्धति न बदली जाय, दिमागी गुलामी नहीं छूट सकती। और, अगर दिमागी गुलामी नही छूटती तो राजनीतिक गुलामी भी नहीं छूट सकती! प्रचलित पद्धति के विरोध मे यह भी कहा जाता था कि यद्यपि इतने दिनों से अंग्रेजी-शिक्षा दी जा रही थी तथापि अर्वाचीन समय में विज्ञान के द्वारा संसार को जो योरोपीय देशों की देन है, उसको—विशेषकर उस विज्ञान के असली रूप को—यहाँ की शिक्षा-पद्धति मे बहुत ही गौण स्थान दिया गया है; क्योंकि ब्रिटिश राज्य चलाने के लिए हिन्दुस्तानियों में उसके ज्ञान की उतनी आवश्यकता नही थी, और यह भी हो सकता है कि उसमें हिन्दुस्तानी अगर पारंगत हो जायँगे तो यूरोप का—विशेष करके इंगलैंड का—औद्योगिक बातों में भी मुकाबला करने लग जायँगे!

इस कार्यक्रम के विरोध मे यह भी कहा जाता था कि यदि इन विद्या-सम्बन्धी प्रतिष्ठानों को, जिनका गवर्नमेंट से सम्बन्ध था, छोड़ दिया जाय तो देश में शिक्षा का कोई दूसरा साधन नहीं रह जाता है; यदि देश इस कार्यक्रम को पूरा करे तो बच्चों को अशिक्षित ही रह जाना पड़ेगा। कुछ लोग इस बात को भी मानने के लिए तैयार नहीं थे कि अंग्रेजों ने शिक्षा के द्वारा ही हम पर नैतिक और मानसिक आधिपत्य प्राप्त किया है। मुझे स्मरण है—उड़ीसा मे महात्माजी के साथ मैं सफर कर रहा था। एक सभा में किसी वयोवृद्ध सज्जन ने यह प्रश्न कर दिया कि आप इस शिक्षा की क्यों इतनी निन्दा करते हैं—क्या इस शिक्षा से लोकमान्य तिलक और आप-जैसे लोग नही उपजे हैं? क्या यह सारा स्वराज्य-सम्बन्धी आन्दोलन इसी शिक्षा का फल नही है? महात्मा जी ने इसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि मैं अपने बारे में तो नहो कुछ कहना चाहता; पर लोकमान्य तिलक का नाम लिया गया है, तो कौन कह सकता है कि उनका मस्तिष्क यदि अग्रेजी-शिक्षा के भार से दब न गया होता और देशी भाषा द्वारा ही उसे प्रस्फुटित-प्रफुल्लित होने का मौका मिला होता, तो वह और कहाँ तक पहुँच जाता। उदाहरण में उन्होंने कहा—"अगर विचार करके देखा जाय तो लोकमान्य तिलक बहुत बड़े होने पर भी—आज की दुनिया के प्रचार-सम्बन्धी और उन्नति-सम्बन्धी सब साधनों के रहते हुए भी—उतना स्थायी और विस्तृत प्रसारवाला काम नहीं कर पाये

है जितना प्राचीन काल के शंकराचार्य अथवा हाल के कबीर और तुलसीदास कर गये हैं जिनकी कृतियाँ आज घर-घर में प्रचलित हैं। स्वराज्य-सम्बन्धी जो आन्दोलन हुआ है, वह और भी कहीं अधिक जोरदार होता अगर देश इन दिमागी बन्धनों से मुक्त होता। बात यह है कि हम अभी तक जो कुछ करते आये हैं, वह सब एक प्रकार से यूरोप की नकल है। हमारी जैसी स्थिति है उसमें हमको अपना रास्ता निकालना होगा और वही निराला होगा—इत्यादि।"

मैंने इस कार्यक्रम को भी मान लिया था। इसके अनुसार अपने घर के बच्चों को सरकारी स्कूल-कालेज से हटा दिया था। उन्हें फिर कभी वहाँ जाने न दिया। इसका एक नतीजा यह हुआ कि वे आज की स्वराजी सरकार के दफ्तरों में भी, किसी युनिवर्सिटी की छाप न रहने के कारण, कोई नौकरी चाहें भी तो नहीं पा सकते! पर मेरे दिल में कुछ-न-कुछ शक तो जरूर रह गया था। वह शक उपरोक्त भाषण के सुनने के बाद से बिल्कुल दूर हो गया। इसके पहले मैंने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार में भाग लेना पूरी तरह आरम्भ कर दिया था। बिहार में राष्ट्रीय महाविद्यालय, राष्ट्रीय विद्यापीठ और अनेकानेक विद्यालय तथा पाठशालाएँ कायम करने-कराने में और हजारों विद्यार्थियों को स्कूल-कालेज छोड़ देने में प्रोत्साहन भी दिया था। पर मस्तिष्क और हृदय के एक कोने में अविश्वास की थोड़ी-सी मात्रा अपना स्थान रखती थी। वह उड़ीसा में ही दूर हुई। अब जितना सोचता हूँ, महात्माजी की इस सम्बन्ध की दूरदर्शिता और गहरी सूझ का कायल अपने को मानता हूँ। आज हमको स्वराज्य प्राप्त है और देश का भाग्य-निर्णय हमारे हाथों में है, तो भी हम अपनी शिक्षा और दिमागी बन्धनों के कारण यूरोपीय असर से अलग नहीं हो सके हैं! आज भी हमारे सामने किसी चीज के नापने के लिए अगर कोई भी मापदंड है तो वह यूरोपीय मापदंड है! इसका अर्थ यह नहीं है कि हमको खामख्वाह कोई दूसरा मापदंड रखना ही चाहिए। इसका अर्थ इतना ही है कि आज तक हम इतने जकड़बन्द हैं कि दूसरे मापदंड की बात हम सोच ही नहीं सकते!

उदाहरण के लिए, विधान की बात ले लीजिए। आज हमको पूरा अधिकार है कि हम चाहे जो भी विधान बनाना चाहें, बना सकते हैं। पर हमने जो मसौदा तैयार किया है उसमें पश्चिमी विधानों की ही नकल की है! उसमें कोई ऐसी विशेष बात नहीं है जिसके सम्बन्ध में हम कह सकें कि संसार के लिए हम यह एक नई चीज दे रहे हैं। एक ही विषय को ले लीजिए। प्रजातंत्र की बात हम मानते हैं। हमने सोचा है कि प्रौढ़-मताधिकार जरूरी है, जिसका अर्थ यह होता है कि विधान में मूर्ख और विद्वान, साधु और चोर, सुचरित्र और कुचाली, दोनों के मतों की एक ही कीमत है! इतना ही नहीं, जो प्रतिनिधि चुनकर हमारी व्यवस्थापिका-सभाओं में भेजे जायँगे, और जिनपर देश के शासन का भार होगा, उनमें भी कोई विशेषता नहीं होनी चाहिए! कोई आदमी चाहे कितना भी अयोग्य क्यों न हो, वह अयोग्यतर चाहे अशिक्षा के कारण हो अथवा चरित्र-हीनता के कारण, चुने जाने का और जनता के प्रतिनिधित्व का हक रखता है! हम चाहते हैं कि देश की उन्नति हो, सर्वोदय हो; पर क्या इसके लिए विद्या और चरित्र दोनों की जरूरत

नही है ? अगर है तो उसके लिए हम विधान मे कोई विशेष स्थान नहीं दे रहे है; क्योंकि पश्चिमी विधानों मे इसका कोई उदाहरण हमको नही मिलता। यदि हम कोई चीज ऐसी निकालते, जिसमे विद्या और चरित्र -- और विद्या से भी अधिक चरित्र—को देश के शासन मे विशेष स्थान मिलता, तो यह हमारी एक देन होती। पर अभी तक हम कुछ नही सोच पाये है; क्योंकि हमारे दिमाग आधुनिक विचारों से—जो पश्चिमी विचारों के प्रतिबिम्ब मात्र हे—इतने प्रभावित और दबे हुए है कि उनके बाहर हमारी आँखे देख नही सकती, हमारे विचार जा नही सकते ! इसमे हमारा दोष नहीं है; क्योंकि यह हमारी शिक्षा का फल है !

एक दूसरी छोटी-सी बात ले लीजिए। आज जहाँ-कही जाइए, लोग प्रगति की बातें किया करते है। कोई लेखक और कवि है, तो उसको प्रगतिशील अथवा प्रतिगामी का विशेषण दे दिया जाता है। उसी तरह, कोई राजनीतिक क्षेत्र मे काम करनेवाला है, तो उसे प्रगतिशील अथवा प्रतिगामी अथवा प्रतिक्रियावादी कह दिया जाता है। और, यदि थोड़ा विचार करके देखा जाय तो, यूरोपीय विचारो से जो लोग सहमत नही है वे प्रगतिशील नही, प्रतिगामी है—इत्यादि-इत्यादि। अर्थात्—प्रगति का मापदंड हमने वही मान लिया है जो यूरोप ने माना है। जितने भेद-विभेद यूरोपीय विचारों मे पैदा हुए है उन सबका प्रभाव हमारे विचारो पर भी पड़ गया है। इसलिए, भारतीय प्राचीन विचार तो सब-का-सब प्रतिगामी है ही ! पर जो यूरोपीय मापदंड से प्रगतिशील भी है उनमे भी विभेद है—कोई प्रगतिशील और कोई प्रतिगामी ! क्या प्रगति का दूसरा कोई मापदड नही हो सकता ? यदि हो सकता है, तो क्या हम उसे मानने के लिए तैयार है ? नही ! हमारी शिक्षा ही हमको अयोग्य बना देती है, हम दूसरा मापदड काम मे नही ला सकते !

दसवाँ अध्याय

नागपुर-कांग्रेस के पहले महात्माजी ने अलीबन्धुओ के साथ दौरा शुरू किया। कौंसिल का काम हो चुका था। अब विशेषकर कालेजों मे विद्यार्थियों के निकलने का ही काम चल रहा था। वह जहाँ जाते थे, असहयोग की सभी बाते समझाते थे। इसी यात्रा में वे दृश्य देखे जाने लगे जो आगे चलकर गांधीजी के सभी सफरों मे देखने में आये। बहुत बड़ी-बड़ी सभाएँ, रास्ते-रास्ते मे लोगों का जमघट, एक-एक दिन में कई सभाएँ ! दिसम्बर मे बिहार भी वह पहुँचे। कई जिलों मे गये। मैं उनके साथ फिरा। इसी समय उन्होंने राष्ट्रीय विद्यालय खोलने का आदेश दिया। पटना मे राष्ट्रीय विद्यालय खोला गया। बिहार भर में बडी हलचल थी। एक दिन सरकारी पटना-कालेज के बहुत-से विद्यार्थी निकलकर हमारे पास चले आये। उनको लेकर महाविद्यालय खोल दिया गया। इससे चन्द दिन पूर्व ही इंजीनियरिङ्ग स्कूल के छात्र स्कूल छोड जुलूस बनाकर मजहरुल-हक साहब के घर पर पहुँच गये थे। जहाँ आज-कल सदाकत-आश्रम है वहाँ उन दिनों आस-पास दूर तक कोई बस्ती नही थी। सडक के किनारे-किनारे आम के बगीचे ही थे, जो बहुत दूर तक फैले हुए थे। रात में वहाँ आना-जाना खतरे से खाली नही समझा जाता था। उन्ही मे से एक बगीचे में एक छोटा-सा मकान था जिसके मालिक को मजहरुलहक साहब जानते थे। उसकी अनुमति लेकर वह लडकों के साथ वही जा रहने लगे। इस तरह सदाकत-आश्रम की स्थापना हुई। हमलोगों ने चम्पारन मे कुछ रुपये, एक विद्यालय खोलने के लिए, जमा किये थे। मैं ऊपर बता चुका हूँ कि गाधीजी ने हमारे कालेज खोलने के प्रस्ताव को नापसन्द कर दिया था, इसलिए वह काम बन्द हो गया था ; पर रुपये अभी पडे हुए थे। उन्ही रुपयों से, और कुछ ऐसे युवक तथा उत्साही लोगो को साथ लेकर जो राष्ट्रीय विद्यालय में काम करने के लिए तैयार थे, हमने राष्ट्रीय महाविद्यालय खोल दिया। उसमे पुरानी पद्धति से प्राय. उन्ही विषयों को, जो सरकारी कालेजों मे पढाये जाते थे, हमने भी पढ़ाना शुरू कर दिया। इस बात पर भी बहुत लोगो का जोर था कि हमको विद्यार्थियों की परीक्षा लेनी चाहिए। उनका कहना था कि बहुत-से विद्यार्थी, जो स्कूल, कालेजों को छोड़कर निकले है, अपने लिए परीक्षा का प्रबन्ध न देखकर निराधार हो

जायँगे; इसलिए हमको स्कूल और कालेज भी खोलने चाहिए, और साथ ही, परीक्षा लेने तथा इन सबको सम्बद्ध करने के लिए परीक्षा लेनेवाली युनिवर्सिटी-जैसी संस्था भी खोल देनी चाहिए। मेरा इसमें बहुत उत्साह नहीं था। मेरे दिल मे यह डर होता था कि इतने लोग, जो प्रायः जोश की लहर मे बहकर स्कूल-कालेज छोड़ रहे हैं, एक तो बहुत दिनों तक ठहरेंगे नहीं और दूसरे हम उनके लिए पर्याप्त प्रबन्ध भी नहीं कर सकेंगे। हमारे विद्यालय मे पढे हुए छात्रों को नौकरियाँ भी नहीं मिलेंगी। आगे चलकर यह एक बड़ी समस्या हो जायगी। इसलिए, यद्यपि मैंने कार्यक्रम को मान तो लिया और उसके मुताबिक काम करना भी शुरू कर दिया, तथापि वह पूरे विश्वास के साथ नहीं।

जब गांधीजी पटना आये, मैंने उनसे उसी समय कह दिया था कि विद्यालय तो खुल गया, और कुछ दिनों तक उसको चला ले जाने के लिए हमलोगों के पास पैसे भी मौजूद हैं; पर पीछे पैसों की दिक्कत होगी, इसलिए मैं नहीं कह सकता कि मैं कहाँ से पैसे जमा कर सकूँगा। गांधीजी ने उसी वक्त कहा था कि पैसे के लिए चिन्ता मत करो, पैसे कहीं-न-कहीं से आ ही जायँगे, काम ठीक तरह से चलना चाहिए। अभी तक, सार्वजनिक काम के लिए, बिहार में चन्दे से कभी बहुत रुपये जमा नहीं किये गये थे। मैंने भी किसी काम के लिए पैसे जमा कर बिहार मे कोई काम नहीं किया था। पर मुझे एक-दो बातें मालूम थीं जिनसे मैं बहुत डरता था। नागपुर-कांग्रेस के पहले, कांग्रेस का एक नियम था जिसके अनुसार हर-एक प्रान्त को अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी का खर्च चलाने के लिए हर साल एक रकम देनी पड़ती थी। बिहार को भी शायद पन्द्रह सौ हर साल देना पड़ता था। पर यह रकम कभी पूरी अदा नहीं होती थी! बहुत तकाजा होने पर कुछ बड़े-बड़े लोग सौ-दो-सौ चन्दा करके भेज दिया करते थे। तो भी बडी रकम हमेशा बाकी ही रहती थी। कलकत्ता से पटना आ जाने के बाद मैं प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का सहायक मंत्री हो गया था। मैं जानता था कि इस रकम के अदा करने में कितनी दिक्कत होती थी। दूसरी बात, जिसने मुझे डरा दिया था, यह थी कि पहले-पहल जब बिहार (पटना) मे कांग्रेस का अधिवेशन (१९१२ मे) हुआ तब खर्च के लिए स्वागत-समिति काफी रुपये जमा नहीं कर सकी थी। उसके स्वागतमन्त्री श्री सच्चिदानन्द सिनहा को बड़ी परेशानी उठानी पड़ी थी। इसलिए, जब एक नियमित रूप से प्रतिमास विद्यालय का खर्च चलाने की बात आती थी तब मैं घबराता था, इस काम को उठाना नहीं चाहता था। परन्तु महात्माजी के कहने पर मैंने साहस करके इस काम को भी शुरू कर दिया। थोडे दिनों के बाद महात्माजी का तार मिला कि वह फिर आ रहे हैं और इसी मौके पर विद्यापीठ की स्थापना की जाय। रुपये के सम्बन्ध में सूचना मिली कि वह एक अच्छी रकम साथ ला रहे हैं। बात यह थी कि महात्माजी बंगाल से झरिया आये थे। वहाँ साठ-सत्तर हजार की रकम कोयला-खान के मालिकों ने उनको दे दी थी। वह रकम उन्होंने विद्यापीठ चलाने के लिए हमको दे दी। अब, पैसे मिल जाने के बाद, कम-से-कम कुछ दिनो के लिए, हम पैसे के सम्बन्ध मे निश्चिन्त हो गये! हमलोगों ने खुशी-खुशी विद्यापीठ भी कायम कर लिया।

कांग्रेस का सालाना जलसा दिसम्बर के महीने में, बड़े दिन की छुट्टियों म, हुआ करता था। १९२० का अधिवेशन नागपुर मे होनेवाला था। वहाँ बड़ी धूमधाम से अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के नियम के अनुसार प्रतिनिधियों की संख्या पर कोई रोक नही थी। इसलिए जिस सूबे से जितने प्रतिनिधि भेजे जा सकें, आ सकते थे। असहयोग का कार्यक्रम, कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में, पास हो चुका था। पर नागपुर में उसपर फिर से बहस होनेवाली थी। इसलिए, प्रतिनिधियों की संख्या नागपुर-अधिवेशन में, मै समझता हूँ, इतनी थी जितनी किसी भी दूसरे अधिवेशन में नहीं। बहुत बहस के बाद अन्त मे असहयोग फिर से पास हुआ। मै सर्दियों में अक्सर बीमार पड़ जाया करता था। इस वर्ष भी, गांधीजी के साथ चन्द दिनों बिहार मे सफर करने के बाद, बीमार पड़ गया था। अत. नागपुर-कांग्रेस में सम्मिलित न हो सका था। जैसा ऊपर कह चुका हूँ, असहयोग के कार्यक्रम मे एक विषय ऐसा था जिसके सम्बन्ध मे काफी मतभेद था। पर एक प्रकार से चुनाव हो जाने के कारण, कम-से-कम दो वर्षों के लिए—जब-तक चुनाव फिर न आवे, अब वह मतभेद महत्त्व नही रखता था। इससे कार्यक्रम के स्वीकृत होने मे आसानी हुई थी। कांग्रेस के बाद असहयोग का प्रचार बहुत जोरों के साथ सारे देश में होने लगा। कांग्रेस के लिए जो नया विधान बना उसका तथा चरखे और खद्दर का प्रचार भी साथ-साथ होने लगा। अनेकानेक राष्ट्रीय शालाएँ खुल गईं। जहाँ-तहाँ विद्यापीठो की स्थापना हो गई। पंचायतें आपस के झगड़े फैसल करने लग गईं। जहाँ-तहाँ शराबबन्दी का प्रचार भी होने लगा। अद्भुत उत्साह था। स्कूल और कालेज के विद्यार्थी बड़ी संख्या में निकल आये। कुछ तो राष्ट्रीय शालाओं में शिक्षा पाने लगे। बहुत-से लोग प्रचार के काम में भी लग गये। इसी प्रकार बहुतेरे कानून-पेशा लोग भी—जिनमे वकील, मुख्तार, बैरिस्टर इत्यादि सभी दर्जे के लोग थे—इसी काम में जुट गये। बिहार में, जहाँ पहले शायद गिनती के लिए दो-चार आदमी भी अपना सारा समय देकर देश का काम नही कर रहे थे, अचानक हजारों आदमी ऐसे निकल आये जो अपना सारा समय इसी काम में लगाने लगे। नतीजा यह हुआ कि सारे सूबे के कोने-कोने मे काम करनेवाले पहुँच गये। वे लोग असहयोग के सन्देश के साथ-साथ स्वराज्य, खादी और शराबबन्दी का सन्देश भी गाँव-गाँव तक पहुँचाने लगे। मै समझता हूँ कि उस साल शायद ही कोई गाँव ऐसा बचा होगा जहाँ कांग्रेसी कार्यकर्त्ता न पहुँचा हो—जहाँ गांधीजी का नाम और कांग्रेस का सन्देश न पहुँचा हो।

मै सारे सूबे का दौरा करने लगा। पहले चन्द जिलों से ही सम्बन्ध था। पर इस वर्ष (१९२० मे) सारे सूबे के प्राय. सभी सबडिवीजनो मे मै गया। अनेकानेक थानों मे पहुँचा। बहुतेरे गाँव तो सफर में आ ही गये। इसी तरह सारे सूबे से परिचय हो गया। जहाँ-कही मै जाता, बड़ी-बड़ी सभाएँ होती। मै पहले बहुत भाषण करने का आदी न था, पर इस वर्ष में इतने भाषण करने पड़े कि अब जबान खुल गई—घंटों भाषण करने की आदत पड गई। उन दिनों दस-बीस हजार आदमी की सभा अक्सर हो जाया करती। अभी उस समय तक लाउड-स्पीकर प्रचलित नहीं हुआ था। इसलिए बड़ी-बड़ी

सभाओं में अपनी आवाज पर ही भरोसा करना पड़ता। मै पाँच हजार तक की सभा में बिना परिश्रम महसूस किये ही बोल सकता था। दस हजार से अधिक होने पर परिश्रम पड़ता। बीस के ऊपर जाने पर मुश्किल हो जाती, आठ-दस मिनट से ज्यादा नही बोल सकता। महात्माजी अली-भाइयों के साथ सारे देश का चक्कर लगा रहे थे। बिहार से जाने के बाद वह और सूबों में भी सफर करते रहे। कुछ दिनों के बाद वह उड़ीसा पहुँचे। वहाँ मै भी उनके साथ हो लिया। वहाँ से ही वह अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक में शरीक होने के लिए विजयवाड़ा गये। मै भी साथ-ही-साथ गया। रात में लोग चलती रेलगाड़ी के भी दर्शन किया करते! जिन स्टेशनों पर गाड़ी नहीं ठहरती थी उनमे भी हजारों की तादाद मे लोग दर्शनों को जुट जाते, चलती गाड़ी को ही देखकर संतोष कर लेते। दिन को रेलवे-लाइन की बगल में लोग खड़े रहते, चलती गाड़ी को देखकर ही सब्र करते। मुझे यह सब देखकर तुलसीदासजी का वह वर्णन याद आ जाता, जो उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी की वनयात्रा का किया है। विजयवाड़ा मे निश्चय किया गया कि तिलक-स्वराज्य-फण्ड के लिए एक करोड़ रुपये तीस जून तक जमा कर लिये जायँ; कांग्रेस के मेम्बर और चरखे भी कम-से-कम दस-दस लाख कर लिये जायँ।

अपने सूबे से बाहर जाने का यह मेरे लिए पहला ही अवसर था। महात्माजी बड़ी सार्वजनिक सभाओं के अलावा स्थानीय कार्यकर्त्ताओं से जिस प्रकार मिलते और बातें करते, वह नजदीक से इस आन्दोलन म फिर से देखने को मिला। चम्पारन मे उनकी कार्यशक्ति और परिश्रम को देखकर हम चकित रहते थे। पर वहाँ का सारा काम बिना किसी सार्वजनिक सभा के ही हुआ था। अब तो कार्यकर्त्ताओं से बाते भी होती तो वह भी एक सार्वजनिक सभा का ही रूप धारण कर लेती। इसमें और उसमें बहुत अन्तर था, पर महात्माजी की कार्य-पद्धति एक थी—उसका रूप मात्र बदला था। वह ब्रिटिश गवर्नमेंट की शिकायत जोरदार शब्दों मे किया करते थे। कही-कही उन्होने उसे शैतानी सल्तनत भी कहा था। गवर्नमेंट की ओर से जहाँ-तहाँ बाधा भी पड़ती। बहुतेरे लोग गिरफ्तार भी हुए—खासकर शराबबन्दी के लिए। पर दो बातों की बड़ी ताकीद थी—एक तो यह कि अहिसा पर खूब जोर दिया जाय ताकि कही बलवा-फसाद न होने पावे, दूसरे यह कि अभी अपनी तरफ से कोई कानून तोड़ने का काम न किया जाय। लोग अपने उत्साह में इस बात पर बहुत जोर दिया करते थे कि अब कानून तोड़ने का हुक्म दिया जाय। पर महात्माजी अभी रोकते जा रहे थे। विजयवाड़ा की सभा के बाद जो कार्यक्रम वहाँ स्थिर किया गया, उसको पूरा करने में हमलोग लग गये—यह सोचने लगे कि जब यह काम पूरा हो जायगा तब सत्याग्रह शुरू किया जायगा। महात्माजी अभी सत्याग्रह नही करना चाहते थे; क्योंकि वह समझते थे कि लोगों में यद्यपि उत्साह बहुत है तथापि लोगों ने अभी पूरा संयम नही सीखा है। उनको शायद इसका भी सन्देह था कि सत्याग्रह के कारण जो दमन होगा उसको अहिसात्मक रहकर लोग बरदाश्त कर सकेंगे या नही। इसीलिए अभी वह रोक-थाम लगाते थे। दूसरी ओर उन्होने यह भी कह दिया था कि हमारे दिये हुए कार्यक्रम को अगर लोग पूरा कर दें तो एक साल के

अन्दर ही हम स्वराज्य ले सकते हैं। लोगों के दिल पर इसका भी बड़ा असर पड़ा था। शर्त को तो लोग भूल गये, पर ३१ दिसम्बर (१९२१) को अपने दिल में लोगों ने स्वराज्य-स्थापना के लिए नियत कर दिया ?

मैंने 'देश' के नाम से एक साप्ताहिक कुछ दिन पहले पटना से निकाला था। उसके सम्पादक की जगह पर मेरा नाम छपता था—यद्यपि जब-तब लेख लिख देने के अलावा मैं और कुछ नही करता था। उसमें किसी संवाददाता का दिया हुआ एक पत्र या समाचार छपा जिसमें किसीको शिकायत थी। इस कारण उसने मुझपर फौजदारी का मुकदमा चला दिया। मुझे आरा के मजिस्ट्रेट की कचहरी में हाजिर होना पड़ा। दरयाफ्त करने पर मुझे मालूम हुआ कि वह शिकायत गलत और निराधार थी। इसलिए गलती मानकर माफी माँग लेने के सिवा मेरे लिए दूसरा चारा न था। पर यह प्रश्न भी सामने आया कि इस वक्त मुझ-जैसे आदमी के माफी माँगने का सीधा अर्थ यह लगाया जायगा कि जेल से बचने के लिए मैंने ऐसा किया है, जिसका बहुत बुरा असर दूसरे कार्यकर्त्ताओं पर पड़ेगा। मैं इस असमंजस और संकट मे पड़ गया कि मैं अगर भूल नहीं स्वीकार करता हूँ तो यह असत्य आचरण होने के अलावा उस आदमी के साथ बड़ा अन्याय भी होगा जिसकी गलत शिकायत छप गई थी। मैंने निश्चय किया कि चाहे जो भी अर्थ इसका लगाया जाय, मुझे सत्य बात ही कहनी चाहिए। इस निश्चय पर पहुँचने में मजहरुलहक साहब और बाबू व्रजकिशोरप्रसाद ने मेरी सहायता की—मेरे दिल को मजबूत बनाया। मैं गांधीजी से सुना करता था कि सत्य से अगर देखने में क्षणिक हानि भी मालूम हो तो उससे घबराना नहीं चाहिए—इसका विश्वास रखना चाहिए कि अन्त में इससे लाभ ही होगा, नुकसान नही। मैंने माफी माँग ली। पर साथ ही यह भी कह दिया कि मैं सत्य के आधार पर माफी माँगना चाहता हूँ, सजा से बचने के लिए नही। इसके बाद मुकदमा उठा लिया गया। बस वही यह बात खतम हो गई। मैंने देखा कि कार्यकर्त्ताओं पर इसका कोई बुरा असर नही पड़ा। मुझे जो भय हुआ था वह निराधार था।

विजयवाड़ा का कार्यक्रम, ३० जून तक, आंशिक रूप में पूरा हुआ। एक करोड़ से ज्यादा रुपये जमा हो गये। कांग्रेस-मेम्बरों की संख्या भी काफी हो गई। पर चरखे का काम अभी पूरा नही हुआ, पूरा हो भी नहीं सकता था; क्योंकि इस विषय के जानकार बहुत थोड़े लोग थे। इसका कार्यक्रम भी अभी पूरी तरह स्पष्ट नहीं था। जहाँ-तहाँ उत्साह में लोगों ने चरखे बनवाये, जो अन्त में किसी काम लायक नही निकले। सूत तैयार कराया गया; पर उसे बुनवाने इत्यादि का समुचित प्रबन्ध न होने और स्वयं सूत भी बुनने लायक न होने के कारण बहुत बरबाद गया। महात्माजी ने इस पर विशेष जोर दिया था कि राष्ट्रीय स्कूलों में चरखे को मुख्य स्थान दिया जाय। उन्होंने तो यहाँ तक कहा था कि विद्यापीठों को भी, चरखे को ही केन्द्र मानकर, अपने सारे पाठ्यक्रम का निर्माण करना चाहिए। चरखे सभी राष्ट्रीय स्कूलों में जारी तो किये गये, पर वहाँ भी उनके शास्त्र के ज्ञान के अभाव में बहुत प्रगति न हो सकी, यह कार्यक्रम निर्जीव-सा

ही रहा। विद्यापीठों के चलानेवाले अधिक करके शिक्षित-वर्ग के ऐसे ही लोग थे जो पुस्तकी ज्ञान को अधिक महत्त्व देते थे। चरखे के प्रति न तो उनका विश्वास था और न उन्हें उसका ज्ञान। जहाँ कोई ऐसा शिक्षक मिल गया, जिसकी इसमे कोई विशेष दिलचस्पी थी, वहाँ कार्यक्रम खूब चला। पर अधिकाश जगहों मे यह कार्यक्रम रहा तो सही, पर निर्जीव होकर ही। जब रुपये हाथ मे आ गये तब उनमे से एक अच्छी रकम लगाकर जहाँ-तहाँ खादी तैयार कराने का काम आरम्भ किया गया। ऐसे स्थानो मे, जहाँ के लोग चरखे को एकबारगी भूल नही गये थे, इसमे सफलता भी मिली और खादी बनने लगी। बिहार में यह काम अच्छा चला। मुझे याद है कि एक महीन धोती, जो मुझे चरखे के सूत की बनी बताई गई थी, महात्माजी के सामने मैंने पेश की। मौलाना मुहम्मद अली उसे देखकर बहुत खुश हुए। महात्माजी भी प्रसन्न थे। पर अब, जब मै सब बातों पर विचार करता और यह याद करता हूँ कि उसके कई वर्षो के बाद उस तरह का महीन सूत थोड़ी मिकदार मे बिहार मे तैयार होता रहा, तो मुझे आज सन्देह होता है कि हम यह बतलाकर उस समय शायद ठगे गये थे कि खादी का काम अच्छा चलने लगा!

उस समय हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही बड़े उत्साह के साथ, असहयोग मे शरीक हुए। दोनो मे, सभी कामों मे, एक प्रकार की होड़-सी लग जाती। कांग्रेस के अलावा सभी जगहो मे खिलाफत-कमिटियाँ भी कायम हो गईं। बहुत उत्साह के साथ हिन्दुओं ने खिलाफत-कमिटियो को सगठित करने और पैसे जमा करने मे मदद दी। मुसलमान तो कांग्रेस मे शरीक होते और मदद करते ही। ऐसा मालूम पड़ता था कि यह एकता कभी टूटने को नही। बहुतेरे ऐसा विश्वास भी करने लगे थे। बकरीद का दिन एक ऐसा होता है जब, विशेषकर उत्तर-भारत मे, गाय की कुर्बानी के कारण, हिन्दू और मुसलमान मे झगड़े हो जाया करते। उस वर्ष जब बकरीद का दिन नजदीक आया तो सबको यह चिन्ता हुई कि इस एकता में कोई विघ्न न पड़ने पावे। गाधीजी, मौलाना मुहम्मद अली के साथ, बिहार म फिर दौरा करने आये। कई दिनो तक कई जिलों मे फिरते रहे। सभी जगहो पर उनके और मौलाना के भाषण हुए। उन्होंने गाय की रक्षा मुसलमानो पर छोड़ दी। मुसलमानो की तरफ से एलान निकाले गये कि जहाँ तक हो सके, गाय की कुर्बानी न होनी चाहिए। इसका नतीजा यह हुआ कि उस साल बकरीद मे इतनी कम गायो की कुर्बानी की गई जितनी शायद पहले कभी नही हुई थी। इससे एकता पर और भी दृढ़ता की मुहर लगी। पर ऐसा पीछे जाकर मालूम हुआ कि यह एकता स्थायी नही थी! महात्माजी की उक्त यात्रा के समाप्त होने के पहले ही इसके चिह्न दीखने लगे थे।

बिहार से महात्माजी कलकत्ता गये। वहाँ से मद्रास की तरफ गये। रास्ते में ही मलाबार के मोपलो मे हलचल की खबर मिली। मौलाना मुहम्मद अली गिरफ्तार कर लिये गये। हिन्दू-मुसलिम मतभेद और अविश्वास के चिह्न इस मोपला-हलचल में देखने मे आये। मोपला लोग सीधे-सादे, पर जोशीले, होते हैं। उनका विद्रोह,

खिलाफत के कारण, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध था। उसमें धार्मिक भावना ही मुख्य कारण थी। धार्मिक भावना जब एक बार उमड़ जाती है तब उसके अनेकानेक रूप हो जाते है। इस बार मलाबार मे धार्मिक भावना ने एक अजीब रंग दिखलाया। मोपलों का झगड़ा तो ब्रिटिश सरकार के साथ था; पर कुछ ऐसे हिन्दुओं के साथ, जिन पर उनको सन्देह था कि ये ब्रिटिश गवर्नमेंट की मदद कर रहे हैं, उन्होंने सख्ती और ज्यादती की। इसका असर दूसरे हिन्दुओं पर पड़ा। मोपला लोगों का झगड़ा एक प्रकार से हिन्दुओं के साथ शुरू हो गया ! इसका नतीजा बहुत बुरा हुआ; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट से जो लड़ाई थी उसमें वे हिन्दू को भी एक पार्टी समझने लगे ! नतीजा यह हुआ कि अब इसका असर हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो पर भी कुछ-न-कुछ पड़ा। यद्यपि उस समय यह बात इतनी स्पष्ट नही थी तथापि खबर जोरों से फैली कि मोपलों ने बहुतेरे हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बना लिया है। इससे सारे देश में बहुत क्षोभ पैदा हो गया। पर अभी गांधीजी बाहर थे। तब भी कांग्रेस तथा खिलाफत-कमिटी का इतना जोर था कि यह विश्वास तथा दुर्भावना टिक न सकी, दूर हो गई।

अली-बन्धुओ और कुछ दूसरे लोगों पर, जिनमे श्रीशकराचार्य भी शामिल थे, कराची मे खिलाफत-कमिटी के जल्से मे भाग लेने तथा भाषण करने के आरोप लगाकर मुकदमे चलाये गये। आरोप यह था कि उनलोगों ने वहाँ एक ऐसे फतवे का प्रचार किया जिसपर गवर्नमेंट ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। कराची के मुकदमे के कारण सारे देश में बड़ी हलचल रही। श्रीशकराचार्यजी के भी एक मुजरिम होने के कारण हिन्दू-मुसलमान-ऐक्य को बड़ी पुष्टि मिली। पर जो फूट का बीज पड़ गया, वह समय पाकर पीछे अंकुरित हुआ।

उधर देश में बहुत जगहों से इस बात की माँग होने लगी कि अविलम्ब सत्याग्रह आरम्भ करना चाहिए। शाहजादे (प्रिन्स अफ वेल्स) की हिन्दुस्तान-यात्रा के भी दिन निकट आ गये। अहमदाबाद मे होनेवाली काग्रेस का समय भी आ पहुँचा। महात्माजी अभी तक सत्याग्रह छेड़ने के पक्ष मे नही थे। उन्होने इसके लिए कुछ शर्तें लगाईं। यह भी सूचना दी कि जबतक ये कड़ी शर्तें पूरी नही होती, वह सत्याग्रह के लिए इजाजत नहीं देते। उनमे एक शर्त यह भी थी कि उसी इलाके मे सत्याग्रह किया जा सकता है जहाँ खादी का काफी प्रचार हो चुका हो—रचनात्मक काम के अंग यथासाध्य पूरे किये गये हों। अब जगह-जगह इन शर्तों को पूरा करने की तैयारियाँ होने लगी। बिहार में छपरा-जिले के बसन्तपुर-थाने के लोगों ने यह दावा पेश किया कि वे शर्तों को पूरा कर चुके हैं, अतः उनको इजाजत मिलनी चाहिए।

शाहजादा बम्बई में उतरे। वहाँ पर बलवा हो गया। उसमे पारसियों के साथ, जिनके सम्बन्ध में यह सन्देह किया जाता था कि ये शाहजादे के स्वागत में शरीक हुए थे, ज्यादतियाँ की गईं। ऐसा मालूम हुआ कि यह फसाद बहुत दूर तक फैलेगा। पर महात्माजी इस कारण चिन्तित थे। उन्होंने उपवास किया। फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में बलवा-फसाद बन्द हो गया। यह एक नया अनुभव देश को मिला। वर्किङ्ग-कमिटी की एक

बैठक बम्बई में हुई। उसमें मैं भी शरीक था। उसमे एक छोटी-सी घटना हुई जिससे हम लोगों को महात्माजी की महत्ता और सहिष्णुता का एक ज्वलंत उदाहरण मिल गया। बम्बई में, बलवे के कारण, जो लोग पहले से ही शाहजादे के बहिष्कार के विरोधी थे वे और भी कहने लग गये कि इसका नतीजा यही हो सकता था जो हुआ। इस सारे कार्यक्रम के विरोध मे वे जोरों से बोलने और लिखने लगे। ऐसे लोगो मे श्रीमती बेसेण्ट भी थो। वह शुरू से ही इस कार्यक्रम का विरोध करती आ रही थी। इस बलवे के बाद उन्होंने एक कड़ा लेख अपने साप्ताहिक परचे मे लिखा। देशबन्धु दास का विचार हमेशा से श्रीमती बेसेण्ट के विरोध मे था। वह उस लेख को साथ लाये। महात्माजी से वर्किङ्ग-कमिटी मे उन्होंने कहा, मै आशा करता हूँ कि आप 'यंग इडिया' के अगले अंक मे इसका एक करारा उत्तर देगे और हमलोग उसे देख सकेगे। महात्माजी ने मुस्कुराकर कहा कि आप ऐसी चीज 'यग इडिया' मे पाने की आशा न रखे। यह नीति उसकी बराबर बनी रही। उन्होने अपने किसी प्रतिद्वन्द्वी को कभी कोई ऐसी बात न कही और न लिखी जिसमे कटुता हो या विरोधी लेखक के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना की गन्ध तक भी हो—यद्यपि देशबधु ने उसकी दलीलों को पूरी तरह अपने तरीके से काटा।

नवम्बर का महीना पहुँच चुका था। अब लोगो मे सत्याग्रह के लिए उत्सुकता तथा घबराहट बहुत बढती जा रही थी। सत्याग्रह के लिए कोई विशेष कार्यक्रम देने की अथवा उसको बाजाब्ता आरम्भ करने की जरूरत नही पड़ी, क्योंकि जहा-जहाँ शाहजादे को जाना था वहाँ-वहाँ वहिष्कार-सम्बन्धी प्रदर्शनों के कारण गवर्नमेंट ने गिरफ्तारियाँ शुरू कर दी थी। अब किसी स्थान पर शाहजादे के पहुँचने का इन्तजार गवर्नमेंट नही करती; वह उसके पहले ही प्रदर्शन रोकने के लिए गिरफ्तारियाँ करती; पर तो भी प्रदर्शन रुकते नही, जोरो से होते।

अखिलभारतीय काग्रेस-कमिटी ने देश की सभी सभाओ मे स्वयसेवक-दल का निर्माण करने की आज्ञा दी थी। सभी जगहो मे स्वय-सेवक भर्ती किये जा रहे थे। गवर्नमेंट ने इस दल को गैरकानूनी करार दे दिया। स्वयं-सेवक बड़ी संख्या में गिरफ्तार होने लगे। जो लोग स्वय-सेवक कभी बनते नही थे वे भा स्वयं-सेवक बनकर गिरफ्तार होने मे अपना गौरव मानने लगे। इसका नतीजा यह हुआ कि आप-से-आप सत्याग्रह छिड़ गया और वह भी गवर्नमेंट के कारण! लोगो मे इतना जोश फैला कि गवर्नमेंट भी घबरा गई। अत किसी प्रकार सुलह हो जाय, वह अब इस प्रयत्न मे लग गई। बड़े-बड़े नेता भी—जैसे देशबन्धु दास, प० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, मौलाना अबुलकलाम आजाद आदि—गिरफ्तार हो चुके थे। तो भी जनता के जोश मे कोई कमी नही हुई। उस समय के वायसराय लार्ड रीडिंग इस चिन्ता मे थे कि शाहजादे के कलकत्ता पहुँचने पर किसी तरह कोई गडबड़ न होने पावे। इसीलिए उन्होने सुलह की बातचीत चलाई। देशबन्धु दास कलकत्ता की ही जेल मे थे, इसके लिए उनसे बातचीत की गई। वह कुछ हद तक सुलह के लिए तैयार भी हुए। किन्तु जिन शर्तों पर वह सुलह करना चाहते थे वे महात्माजी को ना-काफी मालूम हुईं। उन्होने शर्तों को नामंजूर

कर दिया। आखिरी बातचीत अभी पूरी तरह हो ही नहीं पाई जब शाहजादा कलकत्ता पहुँच गये। इसका नतीजा यह हुआ कि कलकत्ता में भी खूब जबरदस्त प्रदर्शन हुआ। जहाँ-जहाँ शाहजादा गये, प्रदर्शन होता ही गया। आन्दोलन को दबाने के लिए पहले से जो कार्यवाही हो रही थी उसमे लार्ड रीडिंग ने और भी कड़ाई की। देशबन्धु दास, महात्माजी की इस कार्यवाही से, बहुत असन्तुष्ट हुए। जेल से निकलने के बाद तो उन्होंने इसकी कड़ी आलोचना भी की।

इस सम्बन्ध में एक घटना बिहार मे हुई, जो उल्लेखनीय है। वहाँ भी, और जगहों की तरह, खूब जोरों से गिरफ्तारियाँ हो रही थी। ऐसा मालूम होता था कि हम सब-के-सब गिरफ्तार कर लिये जायँगे। पर मैं बच गया, मेरी गिरफ्तारी नही हुई। मैंने सुना कि गलतफहमी की वजह से मैं गिरफ्तार नही किया गया। सिर्फ मैं ही नही बचा, सारे बिहार में गिरफ्तारियाँ बन्द हो गईं। वह गलतफहमी इस प्रकार हुई। जिस समय देशबन्धु दास के साथ लार्ड रीडिंग समझौते की बातचीत चला रहे थे, उन्होंने अपनी एक्जिक्यूटिव-कौंसिल का अधिवेशन कलकत्ता मे किया। उसका मुख्य उद्देश्य था उन शर्तों को बाजाब्ता मंजूर कर लेना जिनको देशबन्धु दास ने मंजूर कर लिया था। उस वक्त ऐसा मालूम होता था कि अब समझौता हो ही जायगा। सर तेजबहादुर सप्रू उस समय वायसराय की कौंसिल के एक सदस्य थे। इस सभा मे शरीक होने के लिए वह कलकत्ता जा रहे थे। वह पटना होकर गुजरे। वहाँ पर उनसे बिहार के गवर्नर की कुछ बातचीत हुई जिसकी कुछ ऐसी छाप गवर्नर पर पड़ गई कि उसने समझ लिया कि अब सुलह हो गई। इसलिए उसने गिरफ्तारियाँ बन्द कर दी। सुलह तो अन्त मे हुई नही; पर मैं और बहुतेरे लोग—जिनकी गिरफ्तारी होने जा रही थी—गिरफ्तार नही किये गये।

इसके थोड़े ही दिनो के बाद अहमदाबाद मे कांग्रेस का अधिवेशन बड़े ही समारोह के साथ हुआ। देशबन्धु दास सभापति निर्वाचित हुए थे। पर वह तो जेल मे थे, इसलिए हकीम अजमल खाँ ने सभापति का आसन ग्रहण किया। कांग्रेस के साथ-साथ प्रदर्शनी भी बड़े उत्साह के साथ की गई। यह पहला ही अवसर था जब कांग्रेस का अधिवेशन बड़े पैमाने पर किया गया हो। अबतक कांग्रेस मे लोग कुर्सी और बेंचों पर ही बैठा करते थे। अहमदाबाद मे पहले-पहल फर्श पर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। एक बड़े मार्के का प्रस्ताव, जिस पर बड़ी सरगर्मी के साथ बहस हुई, मौलाना हसरत मोहानी का था, जिसमे उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होकर भारत के स्वतन्त्र होने को कांग्रेस का ध्येय बनाये जाने की बात कही थी। महात्माजी ने इस प्रस्ताव का जोरों से विरोध किया था। उनके विरोध के कारण वह नामंजूर हो गया था।

एक छोटी-सी घटना विषय-निर्वाचनी समिति मे हुई, जो भी उल्लेखनीय है। उससे यह मालूम होता है कि महात्माजी उनलोगों के साथ किस तरह बर्त्ताव करते थे जो सत्याग्रह का मर्म समझे बिना ही उस पर चलना चाहते और दूसरों को मजबूर करना चाहते थे। एक सज्जन गो-रक्षा के बड़े प्रचारक थे। विषय-निर्वाचनी के बीच में आकर वह बैठ गये। उन्होंने घोषणा कर दी कि जबतक उनके लिए गोरक्षा-सम्बन्धी

संतोषप्रद कार्यवाही न की जायगी तबतक वह विषय-निर्वाचनी की कार्यवाही नहीं चलने देंगे ! यों तो अगर स्वयंसेवक चाहते तो उनको धर-पकड़कर आसानी से बाहर ले जा सकते थे, कार्यवाही भी वहाँ आसानी से चलाई जा सकती थी; पर महात्माजी को यह तरीका पसंद नही था। उन्होंने ऐसा नही करने दिया। सब लोगों को इस बात का कुतूहल था कि देखें ऐसे जिद्दी आदमी के साथ बिना जोर-जबरदस्ती किये महात्माजी क्या बर्ताव करते हैं—किस तरह कांग्रेस के काम में पड़ी इस बाधा को रोक सकते हैं। उन्होंने, और दूसरे लोगों ने भी, गोरक्षक महाशय को बहुत समझाया कि आप इस तरह काम में विघ्न न डालिए; पर वह कहाँ किसी की सुननेवाले थे ! अन्त में महात्माजी ने हँस करके कहा कि आप सत्याग्रह मुझसे ज्यादा नही जानते हैं, बस देखिए कि मैं किस तरह आप पर बिना हाथ लगाये अपना काम कर लेता हूँ। इतना कह उन्होंने वालंटियरों से कहा कि उनके चारों तरफ तुम लोग खड़े हो जाओ, फिर दूसरों से कहा कि हमलोग यहाँ से हटकर कहीं दूर जा अपना काम करें। नतीजा यह हुआ कि वह बीच मे ही घिरे पड़े रह गये। उन पर किसीने हाथ भी न लगाया। उधर कमिटी ने अपना काम अलग हटकर जारी रखा।

ग्यारहवाँ अध्याय

अहमदाबाद-कांग्रेस ने महात्माजी को सत्याग्रह-सम्बन्धी सब अधिकार दे दिया और ऐसा समझ लिया कि जल्दी सत्याग्रह कही-न-कही शुरू किया जायगा। महात्माजी के ध्यान मे सूरत-जिले का बारडोली-तालुका था, जिसको उन्होंने सत्याग्रह के लिए क्षेत्र चुना। और-और जगहो को भी तैयारी करने का आदेश था; पर बारडोली को ही सबसे पहला क्षेत्र चुनने का कारण यह था कि एक तो वहाँ के रहनेवाले जाग्रत और जोशीले थे—खादी के प्रचार तथा और बातों मे भी अपनी प्रगति दिखलाकर उन्होंने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी थी; दूसरे उस तालुके के अन्दर कुछ ऐसे लोग भी थे जो महात्माजी के साथ दक्षिण अफ्रिका मे काम कर चुके थे—वहाँ के सत्याग्रह में भाग लेकर उन्होंने सत्याग्रह का सक्रिय अनुभव पाया था। कुछ दिनों के बाद महात्माजी और दूसरे लोग उस तालुके में दौरा कर जनता की तैयारी से संतुष्ट हुए। निश्चय हुआ कि महात्माजी बारडोली मे सत्याग्रह आरम्भ करेगे। इसके लिए तालुके के प्रमुख लोगों की एक सभा वहाँ हुई। मै भी उस दिन मौजूद था। सत्याग्रह में अहिंसात्मक रहकर हर प्रकार से सरकारी दमन बरदाश्त करने का आदेश देकर महात्माजी ने उनलोगों से एक आम के गाछ के नीचे, जहाँ सभी बैठे थे, प्रतिज्ञा कराई कि लोग सत्याग्रह में विचलित नही होंगे—चाहे उनपर मार पडे या वे जेलखाने भेजे जायँ या उनके धन-माल गवर्नमेंट की ओर से जब्त कर लिये जायँ। उनमें जो कुछ अभी त्रुटियाँ देखी गई थी, उनको भी दूर करने पर जोर दिया गया। महात्माजी ने इसके बाद लार्ड रीडिंग को सत्याग्रह की सूचना भेज दी। उन्होंने जो पत्र लिखा उसमे सारी बाते बताई गई जिनके कारण सत्याग्रह करना अनिवार्य हो गया था।

मैं प्रतिज्ञा-सभा के बाद बिहार वापस आकर सूबे में दौरा करने लगा; क्योंकि सत्याग्रह जब आरम्भ होगा तब सभी जगहों पर पूरी शांति रहनी चाहिए और सत्याग्रह की तैयारी पूरी तरह होनी ही चाहिए। यही सन्देश मैं घूम-घूम कर पहुँचा रहा था। अचानक, सीतामढी के इलाके में, पुपरी की एक सभा में भाषण करते समय, मुझे एक तार मिला कि बारडोली में वर्किङ्ग-कमिटी की बैठक होनेवाली है—मुझे तुरन्त वहाँ

पहुँचना चाहिए। मैं वहाँ से सीधे पटना जाकर बारडोली के लिए रवाना हो गया। जब मैं रेल से बारडोली-स्टेशन उतरा तो मैंने पं० मदनमोहन मालवीयजी को उसी गाड़ी से रवाना होते देखा। उनसे बहुत थोडी बातें हो सकी। पर इतना मालूम हो गया कि वर्किङ्ग-कमिटी की बैठक समाप्त हो गई और यह निश्चय कर लिया गया कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। इस निश्चय का कारण यह था कि गोरखपुर-जिले के चौराचौरी स्थान मे एक बलवा हो गया था जिसमे वहाँ के लोगों ने वहाँ के पुलिस-थाने को जला दिया था और पुलिस के कई सिपाहियों को मार डाला था। वहाँ कुछ ऐसा जोश पैदा हो गया था कि लोगों ने अपने ऊपर काबू नही रखा, पुलिस-थाने पर धावा बोलकर फसाद कर दिया। इसकी सूचना पाते ही महात्माजी ने निश्चय कर लिया कि ऐसी अवस्था में, जब जनता ने अहिंसा को ठीक-ठीक न समझकर इतना बड़ा बलवा कर दिया, सत्याग्रह के लिए ठीक वायुमडल नही है—इसे स्थगित करना ही चाहिए। इसी बात पर विचार करने के लिए यह वर्किङ्ग-कमिटी बुलाई गई थी। उसने महात्माजी के विचार से सहमत होकर स्थगित करने का निश्चय वही कर दिया। जब मैंने मालवीयजी से इतना सुना तो मेरे दिल मे उठा कि इससे जो जोश देश मे पैदा हुआ था उसको ठेस लगेगी। मैं रास्ते मे यही विचार करता हुआ महात्माजी के पास पहुँचा। उन्होंने देखते ही कहा कि देर करके पहुँचे, फिर पूछा कि यहाँ का निश्चय मालूम हुआ या नही। मेरे यह कहने पर कि निश्चय का हाल सुन लिया है, उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा, क्या निश्चय से सहमत हो? मैं इस प्रश्न का कोई उतर न दे सका, इतना ही कहा कि इससे लोगो मे असन्तोष होगा। इस पर उन्होने मेरा विचार जानना चाहा। मैंने कहा कि सोचकर उत्तर दूँगा। उन्होने इस बात को पसद किया।

मैंने जब और लोगो से वर्किङ्ग कमिटी की पूरी कार्यवाही ब्योरेवार सुन ली तब और कुछ सोचकर अपने मन मे निश्चय कर लिया कि जो हुआ है, वह ठीक हुआ है। पीछे जाकर महात्माजी से कह दिया कि लोगों में असन्तोष तो होगा, पर जो हुआ है वह अच्छा हुआ है। देखा कि महात्माजी को मेरी राय से संतोष हुआ। उन्होंने अपने विचारो को मुझे विस्तार से बताया, जिसका साराश यह था कि सत्याग्रह के लिए अहिसा अनिवार्य है; इसमे यदि कोई यह समझता हो कि सत्याग्रह केवल प्रतिपक्षी को तंग करने के लिए और उससे जबरदस्ती अपनी बात मनवाने के लिए ही किया जाता है, तो यह गलत है; सत्याग्रह का उद्देश्य तो अपने ऊपर कष्ट सहकर भी प्रतिपक्षी के हृदय को जीत लेना है जिससे वह सत्याग्रही की बात को ठीक समझकर मान ले—दबाव मे पडकर नही, बल्कि उसकी सत्यता और औचित्य को मानकर; यह भावना जबतक साधारण तौर से लोगों मे न पैदा हो जाय और लोग यह न समझते रहें कि किसी-न-किसी तरह से गवर्नमेंट को तंग करना ही सत्याग्रह का ध्येय है तथा इस तंग करने में कही हिंसा करने की भी आवश्यकता हो तो वह जायज है, तबतक सत्याग्रह कभी नहीं चल सकता; चौराचौरी की घटना ने यह साबित कर दिया था कि अभी जनता की कौन कहे, कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने भी इस मर्म को नही समझा था, क्योंकि कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने ही जनता को उभाड़ने मे और उसके द्वारा थाना जलवाने तथा पुलिस के आदमियों को मरवा डालने में भाग लिया था।

महात्माजी का कहना था कि जिस तरह हांड़ी के एक-दो चावल देखकर ही यह जान लिया जाता है कि सारी हाँड़ी का चावल पक गया है या नहीं, उसी तरह एक घटना से ही सारे देश की स्थिति और जनता के मनोभाव का पता लग गया —इससे, यदि सत्याग्रह किया गया तो, चौराचौरी का उदाहरण अनेकानेक जगहों मे प्रगट होगा और बारडोली के सत्याग्रह के बदले मे अनेक चौराचौरी देखने मे आवेंगे। मैंने इसी प्रकार के विचारो से अपना निश्चय कर लिया था और महात्माजी की बातों को सुनकर इसमे और भी दृढ हो गया। पर मैं इतना जानता था कि इस निश्चय को बहुतेरे लोग पसद नही करेगे; क्योंकि वे इतनी सूक्ष्मता से इस पर विचार नही कर पायेंगे। ऐसा ही पीछे देखने मे आया।

बारडोली मे मेरे रहते समय ही, उसी आम्रवृक्ष के साये मे, फिर प्रमुख लोगों की सभा हुई। उसमे महात्माजी ने सत्याग्रह स्थगित करने का यह निश्चय को लोगों को बताया —उसके कारणों को समझाया। मैंने देखा कि उनलोगो के दिल मे निश्चय तथा औचित्य के सम्बन्ध मे सन्देह नही था, पर इस निश्चय से वे बहुत दु:खित थे। इसका कारण यह था कि वे मानते थे कि उनको देश के लिए कुछ करने का जो मौका मिला था वह सौभाग्य उनके हाथो से निकल गया। देश के उद्धार के लिए वे सर्वस्व की आहुति देने को तैयार थे, अब वे ऐसा नही कर पायेंगे। इसी का उनको दु:ख था। कई आदमी तो फूट-फूटकर रोने लग गये! महात्माजी ने भी समझा-बुझाकर उनको शान्त किया।

वही पर यह भी निश्चय किया गया था कि चन्द दिनों के अन्दर ही अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी का अधिवेशन किया जाय जिसमे बारडोली का निश्चय विचारार्थ रखा जायगा। यह अधिवेशन दिल्ली मे होना तय हुआ। जो तिथि मुकर्रर की गई थी वह इत्तिफाक से फाल्गुन की शिवरात्रि थी। कई आदमियो ने इस पर नाराजी जाहिर की। तार और चिट्ठियों से महात्माजी को सूचित भी किया कि इस पुण्य तिथि पर बहुतेरे हिन्दू उपवास कर शिव-उपासना मे लगे रहते है, इसलिए यह अधिवेशन इस तिथि को न होकर किसी दूसरी तिथि पर होना चाहिए। महात्माजी ने उसको नही माना। मुझे भी यह बात कुछ खटकी। महात्माजी से मैंने कहा कि इससे हिन्दुओ मे असन्तोष है और वह वाजिब भी है, तो एक-दो दिन टाल देने मे कोई हानि नही होगी। उन्होने मेरी बात न मानकर मुझे समझाया कि जब कोई निश्चय कर लिया जाय तो उसको भरसक तबतक नही बदलना चाहिए जबतक कोई बहुत संगीन कारण न हो, पर यहाँ कोई ऐसा कारण नही दीखता; क्योंकि जो उपवास करना चाहते हैं वे दिल्ली मे भी आसानी से उपवास कर सकते है—उपासना में भी कोई दिक्कत नही पड़ेगी; क्योकि अधिवेशन दिन-रात तो होगा नही, बचे समय मे उपासना कर सकते है। उन्होंने फिर कहा कि यह तो किसी शास्त्र मे नही लिखा है कि कोई अच्छा काम पुण्य तिथि के दिन नही करना चाहिए, विशेषकर जब इसका सार्वजनिक महत्त्व है। मैंने देख लिया कि महात्माजी किसी निश्चय को कितना महत्त्व देते हैं। मुझे चम्पारन की वह घटना याद आ गई, जब वह रात के समय अपनी गठरी-मोटरी उठाकर नये

मकान मे चल दिये थे; चूंकि नये मकान मे जाने का पहले निश्चय कर लिया गया था। दूसरी बात मैंने यह देखी कि हमारे व्रतो और त्यौहारों का वह कैसा सच्चा अर्थ लगाते हैं तथा हमारी उन भावनाओं को वह कैसे शुद्ध तर्क से गलत समझते है जो हमको व्रत के दिन एक प्रकार से निष्क्रिय और निकम्मा बना देती है।

निश्चय के प्रकाशित होते ही चारों ओर से इसके विरुद्ध आवाज उठने लगी। बड़े-बड़े नेता उस समय जेल मे थे। देशबन्धु दास तो पहले से ही नाराज थे—जब उनकी बात न मानकर महात्माजी ने लार्ड रीडिंग के साथ समझौता करने से इनकार कर दिया था। अब, इससे देशबन्धु और भी अधिक नाराज हुए; क्योंकि उनको ऐसा मालूम हुआ कि महात्माजी न तो समझौता करते है और न लड़ते ही है—सारे देश को जोश मे उठाकर उसे पटक देते है। पंडित मोतीलाल नेहरू भी ऐसे ही विचार के थे; उन्होंने भी अपने विचारों को दिल्ली के अधिवेशन के समय लिख भेजा। लाला लाजपत राय के भी ऐसे ही विचार थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, शायद अली-बन्धुओं ने भी महात्माजी से असहमति प्रकट की थी। मैंने सुना था कि जब एक जेल से कही दूसरी जेल मे तबादला होते समय किसी स्टेशन पर अली-बन्धुओं से किसीकी देखादेखी हो गई थी तब उनलोगो ने उसे अपनी राय बता दी थी। अखिलभारतीय कमिटी के पहले जो वर्किङ्ग-कमिटी को बैठक दिल्ली में हुई थी उसमे ये सभी बाते कही गई। पर महात्माजी सभी बातों को सुनकर भी अपने निश्चय पर अटल रहे।

अखिलभारतीय कमिटी मे बारडोली का निश्चय स्वीकार करने का प्रस्ताव महात्माजी ने उपस्थित किया। अपने विचारो को उन्होने खोलकर रख दिया। डाक्टर मुजे ने संशोधन के रूप मे प्रस्ताव पेश किया, जिसका आशय महात्माजी की सारी कार्यवाही और सारे कार्यक्रम की निन्दा करने का था। इस पर बहस छिड़ी। हकीम अजमल खाँ उस समय कांग्रेस-प्रेसिडेट थे। उन्होंने अचानक अपनी अस्वस्थता के कारण महात्माजी को अपने स्थान पर बैठा दिया और स्वयं उठकर चले गये। लोगों को कुतूहल हुआ कि महात्माजी का अपना ही प्रस्ताव है, उसके विरोध मे डाक्टर मुजे का संशोधन है, उसी पर बहस छिड़ी है, देखा जाय कि महात्माजी क्या करते है। पर उन्होने एक अजीब ढंग अख्तियार किया। जब कोई उठता तो उससे पूछते कि आप किस पक्ष मे बोलना चाहते है। जब वह कहता कि हम डाक्टर मुजे के विरोध मे बोलना चाहते है तो उसे वह कहते कि आप ठहर जाइए। अगर वह कहता कि मै डाक्टर मुजे के संशोधन के पक्ष में बोलना चाहता हूँ तो उसको बोलने की इजाजत दे देते। इस प्रकार, सभी भाषण महात्माजी के विरोध मे ही होने लगे। कुछ देर के बाद, महात्माजी के पक्ष में जो लोग बोलना चाहते थे उन्होंने—यह समझकर कि महात्माजी तो हमें बोलने देगे नहीं—उठकर अपनी इच्छा प्रकट करना भी बन्द कर दिया। इससे ऐसा मालूम होने लगा कि महात्माजी के प्रस्ताव के पक्ष में कोई है ही नही, उनका प्रस्ताव शायद अस्वीकृत हो जायगा। रात के दस बज गये। एक पर एक महात्माजी के विरोध मे बोलनेवाले बोलते ही चले गये। मै भी बैठे-बैठे सब सुनता रहा। मुझे भी यह बुरा लगा कि इस तरह

महात्माजी अपने पक्ष को क्यों निर्बल कर रहे है, जब सचमुच वही पक्ष ठीक है। जो कुछ मैंने वर्किङ्ग-कमिटी में, और उस वक्त तक अखिल-भारतीय कमिटी मे, सुना उससे मेरा अपना विचार और भी दृढ़ हो गया कि निश्चय ठीक हुआ था। अन्त मे महात्माजी ने किसी को भी अपने प्रस्ताव के पक्ष मे बोलने का अवसर दिये बिना ही मत लेना आरम्भ कर दिया। यह देखकर मुझे कुछ और भी बुरा मालूम हुआ। पर महात्माजी ने या तो सभा का रुख जान लिया था या यह सोच लिया था कि हमारे पहले भाषण से लोगों ने अगर इस प्रस्ताव को अच्छी तरह नही समझा है, तो उसके पक्ष मे भाषण दिलाकर उसपर जोर डालना कहाँ तक ठीक होगा और इससे उनकी बुद्धि को समझाया नहीं जा सकेगा। कुछ लोगों के यह कहने पर भी कि दूसरे पक्ष को कुछ कहने का मौका नही दिया गया—उनको मत प्रगट करने का मौका मिलना चाहिए, महात्माजी ने अपना विचार नही बदला। उन्होंने उन लोगो को, जो डाक्टर मुजे के सशोधन के पक्ष मे हो, हाथ उठाने को कह दिया। जब हाथ गिने गये तो मालूम हुआ कि प्रायः उतने ही हाथ उठे जितने उस सशोधन के पक्ष मे भाषण हुए थे! इस तरह, संशोधन का प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से नामंजूर हो गया और महात्माजी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया! मेरा खयाल है कि महात्माजी के कार्यक्रम और बारडोली के निश्चय की जितने जोरों से कड़े शब्दो मे आलोचना की गई उतना ही लोग महात्माजी के प्रस्ताव के पक्ष मे और डाक्टर मुजे के सशोधन के विरोधी होते गये। इसका कारण यह भी था कि डाक्टर मुजे और उनके पक्ष के लोगो ने कभी भी असहयोग के कार्यक्रम को पूर्णरूपेण स्वीकार नही किया था। वे जनमत को उसके पक्ष में देखकर चुप हो गये थे, पर जब कभी मौका मिलता था तो उसकी कड़ी आलोचना किया करते थे। उस अधिवेशन मे सदस्यों पर यह असर पड़ा कि ये लोग तो हमेशा महात्माजी का विरोध किया करते है, इसलिए यह एक मौका देखकर कि कुछ और लोग भी उनके विरोध मे है—डाक्टर मुजे ने खुलकर निन्दा का प्रस्ताव पेश करने का सुयोग ढूंढ निकाला। इससे, जो कोई बारडोली के निश्चय के विरोध मे भी था वह भी डाक्टर मुजे के सशोधन का विरोधी और महात्माजी के प्रस्ताव का समर्थक बन गया!

इसके बाद यह स्पष्ट हो गया कि काग्रेस मे दो विचार-धाराएँ चल रही है और आपस मे काफी मतभेद पैदा हो गया है, गवर्नमेंट इस बात से जरूर लाभ उठायेगी। शाहजादे का दौरा भी समाप्त हो चला था; इसलिए अब काग्रेस के साथ सरकार के समझौता करने का कोई कारण नही रह गया था। बहुतेरे लोग पहले से ही जेल मे थे। अब महात्माजी के गिरफ्तार कर लेने में कोई विशेष भय की बात नही थी। ऐसा मैंने दिल्ली मे ही एक ऐसे मित्र से सुना जिनकी पहुँच गवर्नमेंट के लोगो तक थी। थोड़े ही दिनों के बाद 'यंग इंडिया' में प्रकाशित महात्माजी के दो लेखों के कारण गवर्नमेंट ने उनको गिरफ्तार कर लिया। १२४-ए-धारा के अनुसार सेशन-जज के सामने उनपर मुकदमा भी चलाया गया। महात्माजी गिरफ्तार करके साबरमती-जेल मे उस वक्त रखे गये। खबर पाते ही मै साबरमती गया। एक बार दूर से ही, जेल के फाटक से ही, महात्माजी का दर्शन किया। पूरा दर्शन और मुलाकात तो तब हुई जब सेशन-जज के सामने मुकदमा पेश हुआ।

यह पहला मौका था कि असहयोग-आन्दोलन के बाद महात्माजी अदालत के सामने अभियुक्त-रूप मे लाये गये। चम्पारन मे तो उनपर मुकदमा चला ही था, पर आज की और उस समय की स्थिति में बहुत अन्तर था। उस समय गांधीजी को कुछ ही लोग जानते थे, सारा हिन्दुस्तान अच्छी तरह नही जानता था; पर अब तो वह भारतवर्ष में दो चमत्कार दिखा चुके थे—एक तो हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य का और दूसरा सारे देश में अद्‌भुत जागृति का। चम्पारन में जिस दिन उन्होंने सरकारी आज्ञा न मानकर जेल की सजा भुगतने का निश्चय किया था उस दिन उनके साथ एक-दो अनजान लोग थे, जो न तो उनकी कार्य-पद्धति जानते थे और न उनसे कोई विशेष परिचय ही रखते थे; पर आज तो उनकी पुकार पर हजारों-हजार लोग सारे देश मे अपना सारा समय देकर काम कर रहे थे और हजारों-हजार ऐसे लोग उनके कहने से जेलखाने मे पड़े हुए थे जिन्होंने कभी स्वप्न में भी नही सोचा था कि उनको ऐसा करना पड़ेगा।

यह सब होते हुए भी, उस दिन में और आज मे बहुत सामंजस्य भी था। आज भी महात्माजी वैसे ही ब्रिटिश साम्राज्य का मुकाबला करने को तैयार थे जैसा उस दिन। आज भी उनका भरोसा ईश्वर पर और कष्ट सहने की शक्ति पर था। आज भी अदालत के सामने जो बयान उन्होंने दिया उसमें वही दृढता और वही विश्वास झलक रहे थे जो मोतीहारी की अदालत के बयान मे थे।

अदालत मे सबको जाने की इजाजत नही थी। कुछ लोगों को, जिनमे एक मै भी था, पास मिला था। हमीलोग अन्दर जा सके थे। इसलिए, वहाँ बहुत भीड़ तो नही थी। पर देश के श्री केलकर-जैसे गण्यमान्य नेता, जो जेल के बाहर रह गये थे, वहाँ उपस्थित थे। चम्पारन मे तो सजा नही हुई थी; पर अहमदाबाद के जज ने छः साल की सजा दे दी। बिदा लेने के वक्त मेरे-ऐसे लोग अपने को सँभाल न सके, बेकाबू हो फूट-फूट कर रो पड़े। वहाँ से हम लोग एक प्रकार से अनाथ होकर घर लौटे।

महात्माजी ने चलने के समय आदेश दे दिया था कि सत्याग्रह नही करना चाहिए। हमारे सामने यही बड़ा प्रश्न था कि जो उत्साह लोगो मे आ गया था वह किस तरह कायम रखा जाय। पर इसके चिह्न स्पष्ट दीखने लगे थे कि यह बहुत ही कठिन काम था। हमने रचनात्मक काम पर जोर देकर उसके द्वारा लोगों का जोश कायम रखने का प्रयत्न किया। पर दिन-दिन वह जोश गिरता गया। गवर्नमेंट भी अपनी तरफ से, जहाँ भी कुछ जोश देखने मे आता था उसे दमन द्वारा दबाने मे, बाज नही आई। थोड़े ही दिनों मे यह स्पष्ट हो गया कि काम ढीला पड़ जायगा। मै अहमदाबाद से लौटकर बिहार के जिलों का दौरा करने लगा। हमारे सामने काम भी ऐसा था जिसमे हमारा सारा समय लग सकता था। अहमदाबाद-कांग्रेस मे ही हमने कांग्रेस के अगले अधिवेशन को बिहार में आमंत्रित किया था। अब पहले यह निश्चय कर लेना था कि बिहार मे कहाँ पर कांग्रेस हो, उसके लिए किस तरह रुपये जमा किये जायँ और क्या प्रबंध किया जाय। बिहार में जोश काफी था; इसलिए इस बात की पूरी आशा थी और दृढ़ विश्वास भी था कि हम प्रबन्ध कर लेंगे।

बारहवाँ अध्याय

हमारे सामने प्रश्न यह था कि अब क्या किया जाय। कांग्रेस के जो कार्यकर्त्ता बाहर थे वे इस पर बहुत जोर देते थे कि अब सत्याग्रह आरम्भ किया जाय। महात्माजी ने देश में अहिसा का वायुमंडल न होने के कारण, वायसराय को नोटिस देने के बाद भी, बारडोली का सत्याग्रह रोक दिया था। वह जेल जाने के वक्त भी सत्याग्रह करने की मनाही कर गये थे—रचनात्मक काम मे लग जाने का आदेश दे गये थे। पर रचनात्मक काम बहुत ही नीरस और धीमा होता है। उसमे वह चटपटा मजा और उत्तेजना नहीं मिलती। इसलिए उसमें बहुतेरों का जी नही लगता। यह बात उसी समय देखने में आ गई। पिछले छब्बीस-सत्ताइस वर्षों के अनुभव ने भी इसी धारणा की पुष्टि की है। जब सत्याग्रह नही किया जा सकता था और रचनात्मक काम मे बहुतों का जी नहीं लगता था, तो फिर किया क्या जाय। कहीं-कहीं धीमी आवाज—विशेषकर महाराष्ट्र में—उठी कि कौंसिल-बहिष्कार का कार्यक्रम अब छोड़ देना चाहिए, अब अगले चुनाव में शरीक होने के लिए कांग्रेस को अभी से तैयारी करनी चाहिए। पर जन-साधारण और कांग्रेस के कार्यकर्त्ता अभी इस बात को सुनने के लिए तैयार नही थे। पर बात उठी। इसके जो पक्षपाती थे वे इस फिक्र मे लग गये कि कांग्रेस किस तरह इस ओर खींची जाय।

अहमदाबाद-कांग्रेस में श्रीविट्ठल भाई पटेल कांग्रेस के मंत्री चुने गये थे। यह बात सब लोग जानते थे कि वह असहयोग के कार्यक्रम को पूरी तरह—विशेषकर कौंसिल-बहिष्कार को दिल से नहीं मानते थे। जब यह बात अहमदाबाद मे कही गई कि महात्माजी के साथ उनका कैसे निभेगा, तो महात्माजी ने उत्तर दिया था कि मंत्री चाहे जो कोई भी हो उससे वह अपना काम निकाल ही लेंगे, इसलिए इसकी चिन्ता किसी को नहीं करनी चाहिए। विट्ठलभाई बहुत करके बम्बई मे रहा करते थे। उनके छोटे भाई वल्लभ भाई पटेल गुजरात में रहा करते थे, जो महात्माजी के अनन्य भक्त थे और सारे कार्यक्रम को पूरी तरह मानते थे—अहमदाबाद-स्वागत-कारिणी के अध्यक्ष भी वही थे और वह भी गिरफ्तार नहीं हुए थे। दक्षिण में श्रीराजगोपालाचार्य और उत्तर में डा० अन्सारी भी बाहर ही थे।

थोड़े ही दिनो के बाद अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक हुई। उसमें श्रीविट्ठल भाई पटेल की ओर से यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि एक कमिटी मुकर्रर की जाय, जो इस बात की जाँच करे कि किस जगह के लोग कहाँ तक सत्याग्रह के लिए तैयार हैं, और उस कमिटी की सिफारिश के अनुसार जहाँ हो सके वहाँ सत्याग्रह आरम्भ किया जाय। श्रीविट्ठल भाई पटेल बहुत ही चतुर थे। उनका मतलब यह था कि कमिटी ने अगर कहा कि कही सत्याग्रह नही किया जा सकता है तो यह स्वभावत: कहा जा सकेगा कि तब कौसिलो मे जाने का कार्यक्रम फिर जारी किया जाय। जो लोग कौसिलों के विरोधी थे, पर सत्याग्रह चाहते थे, उन्होंने इस प्रस्ताव को अच्छा माना, क्योंकि वे आशा रखते थे कि कमिटी की रिपोर्ट पर सत्याग्रह हो सकेगा। पर हममे से बहुतेरे कौसिल को भी नही चाहते थे और महात्माजी के आदेशानुसार सत्याग्रह भी नहीं चाहते थे; उनके लिए भी इस प्रस्ताव को मानने के सिवा और कोई दूसरा रास्ता न था।

खैर, कमिटी मुकर्रर हुई। वह सारे देश का भ्रमण करके सत्याग्रह की तैयारी-सम्बन्धी बातो की जाँच करने लगी। यह सिलसिला कई महीनों तक जारी रहा। कमिटी से इतना काम तो जरूर हुआ कि इसके सदस्य जहाँ जाते वहाँ जागृति हो जाती, जनता मे उत्साह बढ जाता। साथ ही, वह कौसिल के सम्बन्ध मे भी प्रश्न करती और कार्यकमिटी की राय तथा इस बात की जानकारी हासिल करती कि कहाँ तक कौसिल के चुनाव मे कांग्रेस को सफलता मिलने की सम्भावना है।

असहयोग मे मुसलमानो ने बहुत काम किया था। कांग्रेस की कमिटियो के साथ-साथ खिलाफत-कमिटियाँ भी हुआ करती थी। खिलाफत-कमिटी ने भी इसी बात के लिए कमिटी मुकर्रर कर दी, जो कांग्रेस-कमिटी के साथ-साथ सभी जगहो मे जाकर जाँच करती रही। अन्त मे कांग्रेस की जाँच-कमिटी मे बडा मतभेद देखने मे आया। कमिटी के छ: सदस्यों मे प्राय: सभी इस बात मे तो एक राय के थे कि सत्याग्रह नही किया जा सकता है; पर कौसिल-वहिष्कार के सम्बन्ध मे तीन सदस्य वहिष्कार जारी रखने के पक्ष मे और तीन निषेध उठा देने के पक्ष मे थे। उन्होने कांग्रेस को उन प्रस्तावो से बचने के लिए, जिनमे कौसिल-वहिष्कार का साफ-साफ समर्थन किया गया था, यह रास्ता सुझाया कि वहिष्कार वे भी चाहते हैं; पर वे वहिष्कार का तरीका बदलना चाहते हैं, वे चुनाव का वहिष्कार न करके कौंसिल मे पहुँचकर कौसिलों का वहिष्कार करेंगे। अर्थात्— जो लोग कांग्रेस के कार्यक्रम को नही मानते उनको कौसिलो में न जाने दे और इस तरह यह दिखला दे कि देश असहयोग के पक्ष मे है। जब हम सब लोगों को रोक नही सकते, और सभी जगहों के लिए उम्मीदवार खडे हो ही जाते है, तथा कोई विरोध न होने के कारण निर्विरोध चुने भी जाते है, तो ब्रिटिश गवर्नमेंट भले कह सकती है और कहती भी है कि कौसिल-वहिष्कार का कार्यक्रम बिल्कुल सफल नही हुआ; क्योंकि एक भी जगह खाली नहीं है और सभी प्रान्तो में मंत्रिमंडल भी बन गये है जो काम कर रहे हैं। उनका कहना था कि हमलोग चुनाव लड़कर ऐसे लोगों को आने न दें, अपना बहुमत प्राप्त करके कोई मंत्रिमंडल बनने ही न दे—इस प्रकार का असहयोग अधिक कारगर होगा; तब ब्रिटिश

गवर्नमेंट भी यह न कह सकेगी कि नये विधान के अनुसार सभी जगहों में मंत्रिमंडल काम कर रहे है और वहिष्कार की नीति असफल हो गई।

विपक्षियों का कहना था कि हमको ब्रिटिश गवर्नमेट की संस्थाओ का वहिष्कार करना चाहिए, इसीलिए अदालतों, शिक्षा-सस्थाओ और कौसिलो का वहिष्कार किया गया है; क्योकि जनता को इन्ही सस्थाओ के साथ प्रतिदिन काम पडता है—इन्हो के द्वारा ब्रिटिश गवर्नमेट की प्रतिष्ठा बढती है। अगर हमने एक वार जाना स्वीकार किया तो उन सस्थाओं के साथ हमारा सम्पर्क फिर से जुट जायगा और गवर्नमेट की प्रष्ठिा जनता की आँखो में बढ जायगी, गवर्नमेट की वह दोधारी नीति भी सफल हो जायगी, जिसके द्वारा एक तरफ तो वह हमारे आन्दोलन को दमन द्वारा दबाती थी और दूसरी तरफ यह दिखलाती थी कि उसने जो वैधानिक सुधार दिये है उनसे कुछ थोड़े लोगों के सिवा—जो केवल आन्दोलन करना ही जानते है—सब लोग संतुष्ट हो गये है। हम यह भी मानते थे कि असहयोग के कार्यक्रम से इसी तरह एक-एक चीज को हटा-हटा कर हमलोग सारे कार्यक्रम को छोड़ देगे। हम तो यह भी मानते थे कि कौसिलों के अन्दर जाकर वहिष्कार की नीति नही चल सकेगी, क्योकि विधान मे इस बात का मौका था कि बहुमत अगर मिनिस्ट्री के विरोध मे हो, तो भी गवर्नमेट का काम नही रुकेगा। यदि गवर्नमेट मुनासिब समझे तो कौसिल को तोड़कर नया चुनाव करा सकती है। अगर उसने ऐसा किया तो बार-बार चुनाव लड़ना असम्भव हो जायगा। इस तरह, कमिटी मे दो पक्ष हो जाने के कारण इस विषय पर उसके बहुमत से भी कोई सिफारिश नही हो सकती थी।

इस विषय का निश्चय करना फिर कांग्रेस पर ही रह गया। कमिटी के मेम्बरों मे पण्डित मोतीलाल नेहरू—जो जेल से मियाद पूरी कर निकल आये थे, श्री विट्ठल भाई पटेल और हकीम अजमल खाँ कौसिल-प्रवेश के पक्ष मे थे, श्री राजगोपालाचार्य, डाक्टर अन्सारी और श्रीकस्तूरीरंग आयगर वहिष्कार के पक्ष मे। पहले पण्डित मोतीलाल नेहरू के विचार साफ मालूम नही थे। जहाँ तक पता लग सकता था, वह वहिष्कार के पक्ष मे ही थे, पर अन्त मे रिपोर्ट लिखे जाने के समय वह बड़े जोरों से कौसिल-प्रवेश के पक्ष मे आ गये। देशबन्धु दास भी जेल से निकलने के बाद प्रवेश के पक्ष में हो गये। वह तो जेल से निकलने के पहले से भी पक्ष मे थे। पण्डितजी के विचार स्थिर करने मे वह बहुत अंशो मे सफल हुए थे। इस तरह तीनो बड़े नेता, जिनका स्थान गाधीजी के बाद का समझा जाता था, एक तरफ हो गये। पर जन-साधारण और काग्रेसी कार्यकर्त्ता बहुत करके असहयोग के कार्यक्रम मे हेरफेर करने के विरोधी रह गये। यह झगड़ा पहले तो अखिल-भारतीय काग्रेस-कमिटी के सामने आया, पर उसने इसको टाल करके गया में होनेवाले कांग्रेस-अधिवेशन के लिए छोड रखा। देशबन्धु दास अहमदाबाद-काग्रेस के सभापति चुने गये थे, पर अधिवेशन मे उपस्थित न हो सके थे। हकीम अजमल खाँ ने उनकी गैर-हाजिरी में सभापति का काम किया था। स्वभावतः लोगों ने उनको ही गया-कांग्रेस का सभापति चुना। अधिवेशन के पहले ही यह बात जाहिर हो गई कि सभापति और साधारण प्रतिनिधियों के बीच मतभेद होगा।

मैं इस वाद-विवाद में कट्टर अपरिवर्तनवादी समझा जाता था। हमारे पक्ष के तीन प्रमुख नेता थे—श्रीराजगोपालाचार्य, सरदार वल्लभ भाई पटेल तथा डाक्टर अन्सारी। कांग्रेस का प्रबन्ध हम बिहारवालों को ही करना था। मेरा अधिक समय इसीमें लगता था। इस सम्बन्ध में एक घटना उल्लेखनीय है। जो स्वागत-समिति बनी उसका मैं ही मंत्री था। अभी सभापति का चुनाव नहीं हुआ था। महात्माजी ने हमको एक बात सिखा दी थी जो बहुत काम की निकली। उन्होंने कहा था कि सार्वजनिक काम जितन कम-से-कम खर्च में हो सकता हो उतना ही करना चाहिए—अर्थात् एक पैसे की भी फिजूल-खर्ची नहीं होनी चाहिए; सार्वजनिक काम तभी चल सकता है जब सब लोग उसकी मदद करें और जो खर्च पड़े वह जनता दे; अगर कोई काम ऐसा है जिसके खर्च के लिए जनता पैसे नहीं देना चाहती तो समझ लेना चाहिए कि जनता उस काम को पसन्द नहीं करती या नहीं चाहती। इसलिए वह इसके भी विरोधी थे कि किसी सार्वजनिक संस्था के लिए ऐसा भी प्रबन्ध होना चाहिए कि उसके लिए एक बार पैसे जमा करके रख लिये जायँ और सूद से ही काम चलता रहे; ऐसा करने से संस्था निश्चित रूप से ढीली पड़ जायगी और अपने ध्येय से अलग भी हो जा सकती है; इसलिए संस्था को अपनी उपयोगिता तथा सेवा द्वारा जनता से खर्च पाने का हकदार साबित करते रहना चाहिए; जब उसको जनता बेकार समझेगी तो वह खर्च देना बन्द करके उसको समाप्त कर देगी; मगर वह भार-स्वरूप होकर नही रह जायगी।

इसी सिलसिले में यह बात भी थी कि किसी सार्वजनिक सेवक को कोई ऐसा काम नही उठाना चाहिए जिसके लिए जनता पैसे देने को तैयार न हो और जो पैसे के बिना नही हो सकता। हम अक्सर ऐसी ही भूल कर लेते है—इस आशा से कि आज अगर जनता ने पैसे नही दिये तो कोई हर्ज नही, सार्वजनिक काम रुकना नहीं चाहिए, वह पीछे चलकर पैसे दे देगी; तत्काल अगर दूसरी तरह से नहीं हो सकता तो कर्ज लेकर भी काम चला लेना चाहिए—अर्थात् सार्वजनिक काम के लिए सिर्फ निजी जवाबदेही पर, जबतक हम इसके लिए तैयार न हों कि जनता यदि पैसे न दे तो भी हम अपने पास से और अपनी सम्पत्ति बेचकर ही कर्ज अदा कर देंगे, किसी को कर्ज नहीं लेना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से आदमी झूठा बन सकता है और वादा-खिलाफी पर भी मजबूर हो सकता है। उनका यह भी कहना था कि किसी कार्यकर्त्ता पर जवाबदेही उतने ही काम तक की है जितने काम के लिए जनता उसको खर्च के रूप में साधन देती है; यदि जनता खर्च नही देती तो उसको भी कार्यकर्त्ता से यह दावा करने का हक नही है कि उसने क्यों कर्ज लेकर या और किसी प्रकार से काम नहीं कराया।

मुझे महात्माजी की यह सीख बराबर याद रहती है और उस समय भी याद थी। बिहार मे कांग्रेस के पटना-अधिवेशन के इस प्रकार के कटु अनुभव को, जिनका जिक्र मैंने ऊपर किया है, मै भूला नहीं था। इसलिए मैंने आरम्भ में ही स्वागत-समिति से साफ-साफ कह दिया था कि मंत्री की हैसियत से मै अपनेको उतने ही खर्च का जवाबदेह बनाऊँगा जितने पैसे स्वागत-समिति के हाथ में आ जायँगे; कोई चीज इस आशा से उधार न लूँगा और न कोई

काम उधार कराऊँगा कि आज पैसे न भी है तो भी काम रुकना नही चाहिए, क्योंकि स्वागत-समिति को पैसे मिल ही जायँगे। नतीजा यह हुआ कि मैं न तो कोई ऐसी चीज उधार लेने को तैयार था और न किसी ऐसे काम के लिए ठेका देने को, जिसके लिए स्वागत-समिति के पास पैसे आ नहीं गये थे। बिहार में वर्षा के दिनों में बहुत सफर भी नही किया जा सकता था। बरसात में पैसे भी नहीं मिल सकते थे; क्योंकि उस मौसम मे न तो किसान के पास पैसे होते हैं और न जमीदार के पास। व्यापार और कारखाने भी उन दिनों बहुत ही कम थे। इसलिए जो कुछ थोड़ा-बहुत हमलोग जमा कर सके थे वह बरसात के पहले ही। हमलोगों का ध्यान पैसे जमा करने की परमावश्यकता पर उतना नही था।

बरसात समाप्त होते ही समय नजदीक आ गया; क्योकि उन दिनो अधिवेशन दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में ही हुआ करता था। अब इस बात की चिन्ता होने लगी कि तुरत सब चीजों के लिए अगर ठेके न दे दिये जायँगे तो, न तो प्रतिनिधियों के ठहरने के लिए झोपड़े तैयार हो सकेंगे, न प्रदर्शनी इत्यादि के लिए, और न दूसरा सामान ही हम समय पर जुटा सकेंगे। अतः स्वागत-समिति की कार्यकारिणी की एक बैठक हुई। उसमे, यह देखकर कि मै कोई चीज या ठेका तबतक उधार नही लेना-देना चाहता जबतक रुपये स्वागत-समिति के हाथ मे न आ जायँ, कार्यकारिणी को यह निश्चय करना पड़ा कि उसके मुख्य व्यक्ति जब बिहार-बैंक से अपनी निजी जवाबदेही पर कर्ज ले तब खर्च किया जाय। इसका अर्थ यह था कि हमको कर्ज देनेवाला एक ही होगा, हमको बहुत लोगो के पैसे के लिए तकाजे नही सुनने होंगे, बैंक को भी अदा करना होगा तो जो लोग कर्ज ले रहे है वही किसी-न-किसी तरह उसको अदा कर देंगे, इस तरह बैंक को भी बहुत लोगो पर मुकदमे करने की जरूरत नही पड़ेगी! हमने साथ ही यह भी निश्चय किया कि सभी जगहों के कार्यकर्ता स्वागत-समिति के—जितने अधिक हो सके—सदस्य अपने-अपने स्थानो पर बनाये और धनीमानी लोगो से अधिवेशन के लिए चन्दे भी माँगें। अभी तक काग्रेस-कार्यकर्त्ता, स्थिति ठीक न समझने के कारण, कुछ उपेक्षा का भाव रखते थे। पर जब यह प्रस्ताव प्रकाशित हो गया तो सबकी आँखे खुल गईं। तब लोगों ने देखा कि उन्होने अगर उत्साह से काम नही किया तो सारे सूबे की बदनामी होगी। फिर वे देश में और अपने सूबे मे भी मुँह नही दिखा सकेंगे; क्योंकि सूबे की जनता भी कह सकेगी कि तुमने हमसे कभी पैसे माँगे ही नही। इसलिए, सब लोग बहुत उत्साह से पैसे जमा करने मे लग गये। बहुत जल्द पैसे जमा होने भी लगे।

गवर्नमेंट के नीचे दर्जे के अधिकारी कुछ सोचने लग गये थे कि गाधीजी के जेल के बाद अब काग्रेस की ऐसी हालत हो गई है कि अधिवेशन के लिए भी पैसे जमा नही हो सकते है—कर्ज लेने की नौबत आ गई है! पर, जैसा ऊपर कहा है, सब लोग पैसे जमा करने में लग गये। मै भी इस काम के लिए दौरे पर निकल गया। बैंक से भी बातचीत तो हो गई थी और वह पैसे देने पर राजी भी हो गया था; पर अभी पैसे लिये नहीं गये थे। मै चार-पाँच दिनों के सफर के बाद कई हजार की एक अच्छी रकम लेकर गया लौटा। दिन में तीन-चार बजे का समय था। पुलिस के लोग इस

बात का पता लगाने की फिक्र मे थे कि अब देखे, कॉंग्रेस होती है या नही—इन लोगों को कर्ज मिलता है या नही। जब स्टेशन पर उतरा तो मैंने पहले ही सोच रखा था कि जो रुपये मै लाया हूॅं उनको मै बैंक में पहले जमा कर दूॅंगा; क्योंकि कांग्रेस के अधिवेशन का स्थान शहर से बाहर कुछ दूर पर था, वही पर एक बगीचे में एक छोटे-से मकान मे स्वागत-समिति का दफ्तर था, जहॉं रुपये रखने मे खतरा था। इसलिए, मै ज्यो ही उतरकर गाड़ी पर रवाना हो रहा था कि पुलिस का दारोगा मेरे नजदीक आया। उसने मुझसे यह पूछा कि कर्ज लेने की जो बात थी उसमे आप कहाँ तक सफल हुए है और काग्रेस का काम कैसे चलेगा। मैंने देखा कि उसके दिल की बात तो यह थी कि हम लोग मुश्किल मे फॅंस गये है और अब शायद गया मे काग्रेस होगी ही नही। मैंने उसको साफ-साफ जवाब दे दिया कि हमको अब कर्ज लेने की जरूरत नही है। यह सुनकर उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने उसको बता दिया कि रुपये जमा होने लग गये है और मै खुद एक अच्छी रकम चार-पॉंच दिनो के सफर मे जमा करके साथ लाया हूॅं। इस बात पर उसको विश्वास नही हुआ। उसने समझा कि मै उसको चकमा दे रहा हूॅं। तब मै सीधे बैंक गया। वह भी मेरी गाडी के साथ-साथ साइकिल पर गया। जब मैंने रुपये जमा करा दिये और स्वागत-समिति के दफ्तर के लिए रवाना हुआ, जहां मै ठहरा करता था, तब उसको मेरी बात पर विश्वास हुआ। दफ्तर पहुॅंचने पर मुझे मालूम हुआ कि रुपयो के सम्बन्ध मे जो सफल प्रयत्न हो रहे थे उनकी खबर कई जिलो से आ गई है। अब निश्चिन्त होकर मै प्रबध के काम मे लग गया। सब सामान खरीदे जाने लगे। झोपडे इत्यादि भी तेजी से बनने लग गये।

इस प्रकार, महात्माजी की सीख को, जिसे बहुतेरे लोग ठीक समझ नही पाये थे, हमने अनुभव से ठीक पाया। अबतक उसीके अनुसार चलकर मै अपने को बहुत-सी कठिनाइयों से सुरक्षित रख सका हूॅं।

गया-काग्रेस मे कौसिल-प्रवेश के प्रश्न पर बहुत बहस हुई। काग्रेस कई दिनो तक होती रही। अन्त मे, सम्मति लेने पर, मालूम हो गया कि प्राय दो-तिहाई प्रतिनिधि कौसिल-प्रवेश के विरोध मे है और एक-तिहाई प्रवेश के पक्ष मे। इस तरह, बडे बहुमत के साथ, प्रवेश की मनाही गया-काग्रेस ने भी कायम रखी। पर झगडा इतने मे ही समाप्त नहीं हो गया। देशबन्धु दास ने सभापति-पद से त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि बहुमत उनके विरोध मे था। बहुत कहने पर भी वह सभापति रहना नही चाहते थे। पं० मोतीलाल नेहरू के साथ मिलकर उन्होंने स्वराज्य-पार्टी कायम की। यह घोषणा भी की कि वह पार्टी काग्रेस को अपने पक्ष मे लाने का प्रयत्न और कौसिल-प्रवेश की तैयारी करेगी। मै अखिल-भारतीय काग्रेस-कमिटी का मंत्री चुना गया। श्रीराजगोपालाचार्य के साथ मैंने कई सबों का दौरा किया। यह आपस का झगडा किसी-न-किसी रूप मे चलता रहा। इसी बीच नागपुर मे झंडा-सत्याग्रह छिड़ गया। मध्यप्रदेश की गवर्नमेंट ने पहले जबलपुर मे और उसके बाद नागपुर मे राष्ट्रीय झडे के साथ जुलूस निकालने पर रोक लगा दी। इसलिए नागपुर मे सेठ जमुनालाल बजाज ने सत्याग्रह जारी कर

दिया। यह महीनों तक चलता रहा। इसमें दूर-दूर से स्वयंसेवक आकर भाग लेते रहे। बिहार के स्वयंसेवकों के साथ मैं भी कई बार नागपुर गया-आया। पर मैं स्वयं सत्याग्रह में शरीक न हुआ। सेठजी की गिरफ्तारी के बाद श्रीवल्लभ भाई पटेल नागपुर में रहकर सत्याग्रह का नेतृत्व करने लगे। पीछे श्रीविट्ठलभाई पटेल भी उनकी मदद में आ गये। अन्त में गवर्नमेंट ने झंडे का जुलूस उन रास्तों से बिना रोक-टोक जाने दिया, जिनसे वह पहले नहीं गुजरने पाया था। इस तरह सत्याग्रह समाप्त हुआ। जो लोग जेलखाने में थे, थोड़े ही दिनों में, सब छोड़ दिये गये।

कौंसिल-सम्बन्धी मतभेद इतना बढ़ गया था कि अब कांग्रेस के अधिवेशन बगैर इसका निबटारा सम्भव नहीं था। १९२३ के नवम्बर में नया चुनाव होनेवाला था। चूँकि इसका फैसला उसके पहले ही होना था, इसलिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन करने का निश्चय हुआ। वह मौलाना अबुल कलाम आजाद के सभापतित्व में दिल्ली में हुआ। मौलाना हाल ही में जेल से निकले थे। वह कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में थे। अधिवेशन के पहले ही मौलाना मुहम्मद अली भी जेल से निकले। वह सीधे अधिवेशन में पहुँचे। कौंसिल-प्रवेश के वह विरोधी थे। उनकी सम्मति से एक समझौता हुआ। उसका सारांश यह था कि कांग्रेस की तरफ से चुनाव न लड़ा जाय, पर यदि कोई कांग्रेसी कौंसिल में जाना चाहे तो उसको इस बात की इजाजत है। इस प्रकार, स्वराज्य-पार्टी को अपने बल-बूते पर चुनाव लड़ने का मौका मिला। उसकी तरफ से बहुतेरे कांग्रेसी लोग चुनाव के लिए खड़े हुए। केवल एक मध्यप्रदेश में स्वराज्य-पार्टी को बहुमत मिला। बंगाल में बहुमत तो नहीं, पर अच्छी तादाद में जगह मिल गई। किन्तु और सूबों में कुछ ऐसे स्वराजी चुने गये, जो न तो मंत्रि-मंडल बना सकते थे और न दूसरों को मंत्रिमंडल बनाने से रोक सकते थे। मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडल नहीं बना। बंगाल में कुछ दिनों के बाद दूसरे लोग फूटकर स्वराजियों के साथ मिल गये। वहाँ का मंत्रिमंडल भी टूट गया। कोकनाडा में कांग्रेस का अधिवेशन मौलाना मुहम्मद अली के सभापतित्व में हुआ। उसने भी कौंसिल-प्रवेश का निषेध कायम रखा।

तेरहवाँ अध्याय

जब से यह कौसिल का झगड़ा छिडा और महात्माजी ने १९२४ मे जेल से निकलने के बाद इसका निबटारा नही कर लिया, तब से इस प्रश्न पर सारे देश में वाद-विवाद तो होता ही रहा, दूसरा कोई काम भी तेजी के साथ उत्साह-पूर्वक न हो सका। महात्माजी ने रचनात्मक काम पर जोर दिया था। हमलोगों से जहाँतक बन पड़ा, उसमे हमने जोर लगाया। खादी के काम को संगठित करने के लिए कोकनाडा-कांग्रेस मे खादी-बोर्ड की स्थापना की गई। सेठ जमुनालाल बजाज के नेतृत्व मे यह काम सगठित रूप से चलने लगा। मेरा भी अधिक समय खादी-प्रचार और राष्ट्रीय शिक्षा-प्रसार में ही लगता रहा। खादी मे दिन-दिन उन्नति होती गई। पर राष्ट्रीय शिक्षा का काम ढीला पड़ता गया। इसी तरह, दूसरी तरफ कौसिल-प्रवेश के पक्षपातियो का जोर बढता गया। जितने लोग जेल से निकलते, उनमें बहुतेरे स्वराज्य-पार्टी के कार्यक्रम को ही अधिक पसंद करते। राष्ट्रीय शिक्षा में हमलोगों ने आरम्भ से ही एक भारी भूल की थी; वही इसके असफल होने का कारण हुई। हमने बहुत करके सरकारी कालेजों और युनिवर्सिटियों की नकल की थी। पर हमारे पास न इतने साधन थे और न इतना धन था कि हम उनका मुकाबला कर सकते। साथ ही, राष्ट्रीय विद्यालयों मे शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों को सरकारी या गैर-सरकारी नौकरियाँ पाने की वह सुविधा भी नही थी जो सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों को प्राप्त थी। हाँ, हमने एक-दो बातो में कुछ अपनी विशेषता रखी थी। जैसे, सभी राष्ट्रीय संस्थाओं के विद्यार्थियो के लिए चरखा चलाना अनिवार्य था। अतः उनकी रहन-सहन में भी अन्य विद्यार्थियों से बहुत फर्क पड़ता था; क्योंकि वे सादगी और महात्माजी के सत्य तथा अहिंसा के वातावरण मे रहते थे। इसलिए उनका जीवन सादा और चरित्र उज्ज्वल हुआ करता था। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी थे, जिन्होंने गवर्नमेंट की युनि-वर्सिटियों के मुकाबले की विद्वत्ता भी प्राप्त कर ली। पर ऐसे विद्यार्थियों के लिए कोई ऐसा कार्यक्षेत्र नहीं मिला जहाँ वे पैसे भी कमा सकें और देश का काम भी कर सकें। इसलिए अब केवल ऐसे ही विद्यार्थी आने लगे, जो पहले से देश-सेवा को अपना ध्येय बना चुके थ, अथवा जिनके माता-पिता उनको ऐसे काम में लगाना चाहते थे। संख्या

विद्यार्थियों की घटती गई। हमने शिक्षा-पद्धति में भी जब-तब हेर-फेर किया। सरकारी युनिवर्सिटी का अनुसरण छोड़कर, जैसा गांधीजी ने आरम्भ में कहा था, हमने सेवक तैयार करने की तरफ अधिक ध्यान अपनी पद्धति में दिया। पर यह काफी न हुआ, दिन-दिन राष्ट्रीय विद्यालयों का ह्रास होता ही गया। बहुतेरे बन्द हो गये। जो चलते रहे वे अधमरे होकर। यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय विद्यालयों को केवल सेवक तैयार करने के काम में लग जाना चाहिए। स्पष्ट भी है कि इस प्रकार के विद्यार्थी, जो देशसेवा को ही अपना ध्येय बना लें, कम संख्या में मिलेंगे। इस तरह, विद्यार्थियों की संख्या दिन-दिन कम होती ही गई।

हाँ, खादी का काम बढ़ता गया। स्वराज्य-पार्टी ने भी खादी को अपनाया; क्योंकि दूसरे दलवालों से उनको मुकाबला करना था। खादी ही एक ऐसी चीज थी जो उनको दूसरों से बिलगा सकती थी। उस समय खादी महीन और अच्छी बनाने का प्रयत्न किया गया। बिक्री भी बढ़ाई गई। बिक्री और प्रचार के खयाल से जहाँ-तहाँ खादी-प्रदर्शनी की जाती थी, जिसमे अच्छी से अच्छी खादी रखी जाती थी। ऐसे लोग भी, जो कांग्रेस से कोई सम्बन्ध नही रखते थे, उस प्रदर्शनी में आते और खादी खरीदते। मैं इन प्रदर्शनियों में, विशेष करके बिहार में, बहुत भाग लेता और अपने हाथों से बहुत खादी बेचा करता। उत्पत्ति-केन्द्रों मे भी बहुत जाया करता। वहाँ ऐसे-ऐसे दृश्य देखने में आते, जिनसे खादी के प्रति और भी प्रेम तथा उत्साह बढ़ता। हमने इन केन्द्रों में देखा कि गरीब स्त्रियाँ चार-चार, पाँच-पाँच मील की दूरी से, चिथड़े पहने हुए, एक चिथड़े में अपना काता हुआ सूत लपेटकर लाती और उसके बदले में कुछ नकद पैसे तथा रूई ले जातीं। कहीं-कहीं तो दिन-भर यह सिलसिला जारी रहता; केन्द्र के कार्यकर्त्ता सूत तौलकर लेने और रूई तौलकर देने में दिन-भर लगे रहते। यदि किसी दिन इत्तिफाक से रूई घट जाती या पैसे घट जाने से सूत खरीदना बन्द करना पड़ता तो उन गरीबों का नैराश्यपूर्ण चेहरा देखकर बहुत दु:ख होता! हमने समझ लिया कि खादी के प्रचार बगैर इन गरीबों का कोई दूसरा सहारा नहीं हो सकता। जहाँ-कही केन्द्र खोला जाता वहाँ गरीबों के दिल में नई आशा झलकने लगती। उन दिनों खादी के सम्बन्ध में, खास करके बिहार में, सबसे बड़ा प्रश्न खादी बेचने का रहता। हम जितनी खादी बेच सकते थे, उससे कहीं अधिक खादी पैदा कर सकते थे। प्रान्त के बाहर और प्रान्त के भीतर हमारा बहुत समय खादी के बेचने और बिकवाने में ही लगता; क्योंकि हम देखते थे कि इसकी बिक्री अगर बढ़ जायगी तो उत्पत्ति में कोई विशेष कठिनाई नही आयेगी। जो लोग इन बातों को ठीक नहीं समझते थे, उनको यह आश्चर्य होता था कि हमारा समय कैसे बीतता है। पर हमको अपनी इच्छा पूरी करने के लिए काफी समय ही नहीं मिलता था। इस काम में लग जाने पर कौंसिल के झगड़े से भी कुछ छुटकारा मिलता। हमने देखा, कांग्रेस के अधिकांश लोग चटपटे काम में ही अधिक दिलचस्पी लेते थे। इस तरह के रचनात्मक काम में, जिसमें शांत होकर समय लगाना होता, उनका कम जी लगता था!

कौंसिल-प्रवेश-सम्बन्धी वाद-विवाद के समय हमलोगों को एक बात की चिन्ता

रहती। हम इस बात को जानने के लिए उत्सुक रहते थे कि महात्माजी का क्या विचार है। क्या वह सभी बड़े-बड़े नेताओं का विरोध, जो हम कर रहे थे, पसंद करेंगे ? कौंसिल-प्रवेश के सम्बन्ध मे उनके विचार क्या होंगे ? हमारे दिल मे सन्देह नही होता था। हमलोगो के दिल मे विश्वास था कि वह प्रवेश का विरोध करते ही। पर सन्देह इसी बात का होता था कि सभी बड़े-बड़े नेताओं का विरोध करना हमारे लिए उचित था या नही—विशेषकर ऐसी अवस्था मे, जब विरोध के कारण कांग्रेस के अन्दर इतनी बड़ी फूट पड़ गई कि एक दल अलग पार्टी बनाकर काम करने पर उतारू हो गया। महात्माजी के विचारों को जानने का कोई साधन नही था; क्योंकि उनसे किसी कैदी को भी जेल में मिलने का मौका नहीं दिया जाता था, जो छूटने पर किसी को उनके विचार बता सकता। जो लोग कभी उनसे बाजाब्ता मिलने जाते थे, उनसे वह कभी कुछ कहते नही; क्योंकि जो बात कहने का उनको बाजाब्ता अख्तियार न था उसे किसी तरह कभी इशारे से भी कह नहीं सकते थे। पहले-पहल हमलोगों को कुछ पता तब लगा जब श्रीशंकरलाल बैंकर, जिनको 'यंग इंडिया' के प्रिंटर तथा पब्लिशर की हैसियत से महात्माजी के साथ ही उसी मुकदमे में दो साल की सजा मिली थी, अपनी मीयाद पूरी करके बाहर निकले थे। अब हमलोगों को यह जानकर बड़ा सतोष हुआ कि महात्माजी के कौंसिल-प्रवेश-सम्बन्धी विचारों में कोई परिवर्तन नही हुआ था।

जिस समय दिल्ली के विशेष अधिवेशन में मौलाना मुहम्मद अली ने समझौते की बात पेश की, हमलोग उसे बिल्कुल नापसद करते थे। श्रीराजगोपालाचार्य उस समय तक हम अपरिवर्तन-वादियों का नेतृत्व कर रहे थे। वह जानबूझकर दिल्ली-कांग्रेस में नही आये। सरदार वल्लभ भाई पटेल और मैं इस समझौते से बहुत दुखी थे। पर हम लोगों के सामने दूसरा कोई चारा नही था। हमने मजबूरी उस प्रस्ताव को मान लिया; क्योंकि हमने सोचा कि हम अगर इसको नही मानते तो एक और चोटी का नेता हमारा विरोधी हो जायगा। मौलाना मुहम्मद अली का निजी विचार बिल्कुल खिलाफ था। पर उन्होने स्वराजियों को, बिना कांग्रेस का नाम लिये, कौंसिल मे जाने की इजाजत दे दी। जो भाषण उन्होंने किया उसमे उन्होने, कौंसिल मे जाने से जितनी बुराइयाँ हो सकती थी, सभी बताईं। अन्त में यह भी कहा कि यह सब होते हुए भी अगर कुछ लोग उस घृणित काम को करना ही चाहते हैं तो उन्हे करने दो, मरने दो। उस विषय पर बातचीत के समय उन्होंने एक बात और कही जिसका असर हमारे बहुतेरे लोगो पर पड़ा था। उन्होने यह कहा कि कही से उनको बे-तार के तार से खबर आई है कि इस झगड़े को खतम करना चाहिए—जो जाना चाहते है उनको जाने देना चाहिए। लोगों ने समझा कि उनका इशारा महात्माजी का तरफ था। इसलिए भी लोगों ने उनकी बात मान ली। पर पीछे मालूम हुआ कि कोई ऐसी बात नही थी !

चौदहवाँ अध्याय

१९२४ के आरम्भ से ही मै उस मुकदमे मे हाइकोर्ट मे काम करने लगा, जिसमें मैंने १९२० में काम किया था और जो इस वक्त हाइकोर्ट मे अपील की शक्ल में पेश हुआ था। जिला-अदालत में हमारे मुअक्किल हार गये थे। असहयोग शुरू करने के पहले मैंने उनको वचन दे दिया था। अपने सब मित्रों से भी कह दिया था कि इस मुकदमे मे जब जरूरत पड़ेगी तब मैं काम कर दूंगा। इस बीच मे, मुझे जहाँ तक याद है, मैंने एक बार हाइकोर्ट में काम किया था—जब प्रतिपक्षी हमारे मुअक्किल की सभी जायदादो पर दखलदिहानी कराना चाहता था। अब, जब अपील पेशी में आई तब, मुझे विशेषकर इसलिए काम करना पडा कि हमारे मुअक्किल पहली अदालत मे हार गये थे। यदि वह अपील मे न जीतते तो सर्वस्व खो बैठते। मेरा उनका उस वक्त से सम्बन्ध था जब मै पढ़ रहा था। इङ्गलैंड भागकर मेरे जाने के समय उन्होने कुछ पैसों से मेरी मदद की थी। वकालत शुरू करते ही एक वही धनी लोगों मे ऐसे थे, जिन्होने हाइकोर्ट के अपने सभी मुकदमो मे मुझे वकील मुकर्रर कर लिया था। जब यह मुकदमा उनपर चलाया गया तब आरम्भ मे मुझे इसमे लगा रखा था। मै अपना धर्म समझता था कि मुझसे जो कुछ हो सके, उनके लिए कर देना चाहिए—विशेषकर जब वह कठिनाई मे थे। इसलिए मैंने अपील में काम करना शुरू कर दिया था।

अभी बहस के आरम्भ हुए चन्द ही दिन बीते थे कि समाचार-पत्रों से मालूम हुआ, महात्मा गांधीजी जेल मे बहुत बीमार पड़ गये है और पूना के अस्पताल मे ले जाकर उनके पेट मे चीरा लगाया गया है! बडी चिन्ता हुई। मैंने पूना जाने का निश्चय किया। दो-चार दिनो की छुट्टी लेकर रवाना हो गया। पूना पहुँच कर मैंने अस्पताल मे महात्माजी से मुलाकात की। बहुत कमजोर थे, पर कोई खतरा जिन्दगी का नही था। मुझे देखकर वह बहुत खुश हुए। पर, मैंने उनकी उस कमजोरी की हालत मे कोई बाते करना मुनासिब नही समझा। अगर मैं चाहता भी तो शायद वह किसी राजनीतिक विषय पर खुद बाते नहीं करते; क्योंकि वह अभी तक कैदी थे। मैं मुलाकात करके वापस चला आया। उधर गवर्नमेंट ने उनको रिहा कर दिया। अच्छे

होने तक वह पूना में हा रहे। पीछे 'जूहू' में, समुद्र के किनारे, स्वास्थ्य-लाभ के लिए, चले गये। ज्योंही वह राजनीतिक विषयों में भाग लेने के योग्य हुए कि उन्होंने कौसिल-सम्बन्धी वाद-विवाद मे हमलोगों के पक्ष का समर्थन किया। पर, साथ ही, यह भी कह दिया कि उनका यह उस समय का विचार था, अब वह देशबन्धु दास और पडित मोतीलाल नेहरू से भेट होने के बाद ही अन्तिम राय कायम करेगे।

मै तो मई के अखीर तक उस मुकदमे में ही लगा रहा। इस बीच मे महात्माजी की बातचीत लोगों से हुई। उन्होंने एक प्रकार का समझौता करना चाहा, जिसका सारांश यह था कि स्वराज्य-पार्टी कौंसिल का काम जैसा करना चाहती है वैसा करे, पर कांग्रेस के रचनात्मक काम मे भी वह सहायता दे। रचनात्मक कार्यक्रम का मुख्य काम खादी-प्रचार था। इसलिए उन्होंने प्रस्ताव किया कि सभी लोगों को चरखा चलाना और कांग्रेस का चन्दा सूत के रूप मे देना चाहिए। इस चीज को वे लोग मानने को तैयार नही थे; क्योकि सबका चरखे में पूरा विश्वास नहीं था। बहुतेरे तो चरखा चलाने में समय की बरबादी मानते थे! बहुतेरों के दिल में तो यह भी सन्देह था कि इस प्रकार से यदि कांग्रेस का चन्दा अपने हाथ के कते सूत के रूप में ही देने का नियम हो गया तो कांग्रेस चरखावालों के ही हाथ मे चली जायगी और वे न मालूम स्वराज्य-पार्टी के साथ क्या बर्त्ताव करेगे।

इन्ही सब बातो पर विचार करने के लिए अखिल-भारतीय कमिटी की बैठक हुई, जिसमें महात्माजी ने अपना प्रस्ताव उपस्थित किया। स्वराज्य-पार्टी के नेताओं ने इसका विरोध किया, तो भी थोड़े वोटों से महात्माजी का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। पर उन्होंने इस जीत को अपनी हार बताया और 'यंग इंडिया' मे बहुत ही मर्मस्पर्शी लेख लिखा। इसके बाद वह इस फिक्र मे लग गये कि स्वराज्य-पार्टी के साथ किस तरह समझौता हो। अन्त में एक समझौता हुआ। पटना मे अखिलभारतीय कांग्रेस की फिर बैठक हुई। समझौते के साथ-साथ अखिल-भारतीय चरखा-सघ की स्थापना हुई, जो कांग्रेस द्वारा प्रमाणित—पर अपने कारबार में स्वतत्र—संस्था मानी गई। काग्रेस का जो कुछ धन खद्दर-बोर्ड मे लगा था वह सब चरखा-सघ के सुपुर्द कर दिया गया। इस समझौते का साराश यह हुआ कि काग्रेस के एक प्रकार से दो विभाग मान लिये गये—एक कौसिलों मे काम के लिए जिसका संचालन स्वराज्य-पार्टी के हाथ में दे दिया गया और दूसरा रचनात्मक काम के लिए जो गाधीजी के हाथ मे रहा। जिन लोगों को कौसिलों मे जाने और उस सम्बन्ध में कोई मदद करने में नैतिक कठिनाई मालूम पड़ती उनको अधिकार दिया गया कि वे तटस्थ रह सकते है, पर दूसरे जो मदद करना चाहते है वे मदद दे सकते है, और जो स्वयं खड़ा होना चाहते है वे उम्मीदवार भी बन सकते है। स्वराज-पार्टी के लोगों ने वादा किया कि कौसिल के अन्दर अथवा बाहर, उनसे जहाँ तक हो सकेगा, रचनात्मक कार्यक्रम की मदद करेगे। बेलगाँव में उस साल कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था। महात्माजी उसके सभापति हुए। उक्त समझौता वहीं मजूर किया गया।

अखिलभारतीय कमिटी की उक्त सभा में, जिसमे अपने प्रस्ताव को मंजूर होने

के बाद भी महात्माजी ने अपनी हार मानी थी, एक ऐसी घटना हुई जो बहुत कटुता-जनक थी और जिसकी छाप भी बहुतों के दिल पर बहुत गहरी पड़ी। महात्माजी इसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में कुछ कह रहे थे। एक सदस्य ने बीच मे कुछ कहकर छेड़छाड़ की, जिसका असर उनके दिल पर इतना पड़ा कि बोलते-बोलते उनकी आवाज भर्रा आई। कुछ देर के बाद वह बिल्कुल चुप हो गये। उनकी आँखों से आँसू टपकने लग गये। मैंने ऐसा एक दृश्य और भी देखा था, जिसका जिक्र पहले एक जगह कर चुका हूँ। महात्माजी की यह अवस्था देखकर उस सभा मे बहुतेरे लोग विकल हो गये। बहुतों की आँखों से आँसू बहने लगे। महात्माजी के विकल होने का एक कारण यह भी था कि जिस सज्जन ने छेड़खानी की थी वह महात्माजी के विश्वासपात्रों में थे! उनको इस बात की चोट अधिक थी कि एक ऐसे आदमी ने इस तरह की बात क्यो उठाई। वह बेचारे भी बहुत दुखी हुए। उन्होने बहुत माफी माँगी। महात्माजी इस घटना के पहले से ही बहुत प्रभावित थे; क्योंकि उस प्रस्ताव के थोड़े वोटो से पास हो जाने के बाद स्वराज्य-पार्टी के लोग देशबन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू के साथ सभा छोडकर चले गये थे। सभा मे ऐसे ही लोग रह गये थे जिनके सम्बन्ध मे यह समझा जाता था कि वे महात्माजी के साथ है। यह बैठक अहमदाबाद मे हुई थी। इन सभी बातों का यह नतीजा हुआ था कि गांधीजी ने अपनी जीत को हार माना और अधिक जोरो से इस प्रयत्न मे लग गये कि किसी-न-किसी तरह आपस के झगड़े को खत्म करके स्वराज्यपार्टी के साथ कोई समझौता कर ही लेना चाहिए। हमने देखा, अगर महात्माजी चाहते और जोर लगाते तो काग्रेस स्वराज्यपार्टी के साथ नही जाती और स्वराज्य-पार्टी के लोगो को काग्रेस से अलग होकर ही काम करना पड़ता। पर वह जहाँ अपने विचारो मे दृढ रहना चाहते थे वहाँ दूसरे के विचारों का भी पूरा आदर करते थे। अब, जब उन्होंने यह देख लिया कि देशबन्धु दास और पडित मोतीलाल नेहरू-जैसे लोग अपने विचार मे दृढ रहना चाहते है, तो उन्होंने विरोध छोड़ दिया—उनके कामों मे, अपने विचार पर डटे रहकर भी, काग्रेस-जनो को, जो चाहते थे उनको ही, स्वराज्य-पार्टी की मदद करने की इजाजत दे दी। इससे उनकी महत्ता और भी स्पष्ट सर्वोपरि हो गई। इससे भी बढकर दूसरा उदाहरण १९४७ मे देखने में आया, जिसका जिक्र आगे प्रसगानुसार किया जायगा।

महात्माजी के जेल चले जाने के बाद हिन्दू-मुसलमानो मे जो मेल देखा गया था, उसमे कमी आने लगी। जो लोग काग्रेस और खिलाफत-कमिटी मे थे उनमे तो कोई विशेष अन्तर अभी देखने मे नही आया था, पर जन-साधारण मे एक दूसरे पर सन्देह की आग आहिस्ता-आहिस्ता सुलगने लगी। मै ऊपर बता चुका हूँ कि मलाबार के मोपलो के सम्बन्ध मे तरह-तरह की बाते किस तरह कही जाने लगी थी। इसमे सन्देह नही कि कारण चाहे जो भी हो, मोपलो ने कुछ हिन्दुओं के साथ ज्यादतियाँ की थी। पर वे बाते बहुत बढ़ा-चढ़ा कर और-और जगहों में कही गईं। हिन्दुओं के दिल मे यह भावना उठने लगी कि मुसलमानो को, उनके खिलाफत के मामले में सहायता देकर, गांधीजी ने और उनके नेतृत्व मे काम करनेवाले दूसरे हिन्दू नेताओं ने भारी भूल की—इन लोगो के ही कारण मुसलमानो में इतनी जागृति

हुई और उस जागृति का ही यह नतीजा है कि वे इस प्रकार से हिन्दुओ के साथ ज्यादती करने लगे। जो लोग अधिक समझदारी से बाते करने का दावा रखते थे, वे यह भी कहने लगे कि इस्लाम कट्टरपथी सिखलाता है, और चूंकि सारा खिलाफत-आन्दोलन धार्मिक आन्दोलन था, इसलिए उसका एक ही नतीजा हो सकता था—वह यह कि मुसल्मानों म कट्टरपन बढे। इस कट्टरपन का ही नतीजा मलाबार मे हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाने और एक-मात्र हिन्दू होने के कारण उनके घर-बार लूटे जाने के रूप मे देखने मे आया। दूसरी ओर, मुसलमानो का कहना था कि मलाबार की बाते बहुत बढ़ा-चढा कर, हिन्दुओ मे मुसलमानो के विरुद्ध भावना जाग्रत करने के लिए, कही गई है; अगर कही मुसल्मानो ने किसी हिन्दू के साथ ज्यादती की तो इसलिए नही कि वह हिन्दू था, बल्कि इसलिए कि उसने मोपलों के खिलाफ ब्रिटिश गवर्नमेट की मदद की। अली-बन्धुओं का कहना था कि काग्रेस और हिन्दुओं के कारण मुसलमानो मे जागृति नही हुई है; उस जागृति का कारण उनके धार्मिक एतकादो पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने जो अपनी नीति से गहरी चोट की थी वह था; यदि काग्रेस या गाधीजी कोई भी उनका साथ न देता तो भी वे इस विषय को लेकर ब्रिटिश गवर्नमेंट से जरूर लडते—चाहे उस लड़ाई का तरीका कोई दूसरा भी होता और उसका नतीजा भी चाहे जो कुछ हुआ होता; कांग्रेस और हिन्दुओ ने जो मदद की थी उसके लिए वे कृतज्ञ जरूर थे, पर हिन्दुओं और काग्रेस को भी यह नहीं भूलना चाहिए कि मुसलमानो के आ जाने से उनकी भी शक्ति कितनी बढ गई और वे इस योग्य हो गये है कि ब्रिटिश गवर्नमेट से लोहा लेने को तैयार है।

१९१९ मे, दिल्ली मे, जलियाँवाला-बाग मे और अनेकानेक जगहो मे हिन्दू और मुसलमान के खून एक साथ बहे थे। दोनो ने मिलकर ब्रिटिश गवर्नमेट का मुकाबला किया था। जलियाँवाला बाग के बाद तो दोनो की मेल-मुहब्बत इतनी बढ गई कि मालूम होता था, अब यह एकता कभी टूटेगी ही नही। पर एक स्थान पर दुर्घटना होने से आहिस्ता-आहिस्ता उस दूध और पानी के मेल मे खटाई पड गई। यद्यपि उसका असर तुरत देखने मे नही आया, तथापि थोडे ही दिनों के बाद स्पष्ट दीखने लगा। इसका सबसे पहला और सबसे नुमायाँ उदाहरण, १९२२ मे महात्माजी के जेल जाने के पाँच-छः महीने के अन्दर ही, मुलतान मे देखने मे आया। वहाँ मुसलमानों की आबादी बहुत है, हिन्दुओ की कम। मुसलमानों ने मुहर्रम मे बहुत धूम-धाम से ताजिया का जुलूस निकाला। बस हिन्दुओ से झगड़ा छिड गया। नतीजा यह हुआ कि बहुतेरे निरीह हिन्दू मारे गये। बहुतो के घर लूटे और जलाये गये। नाना प्रकार के अत्याचार उनके साथ किये गये। मुसलमानों का कहना था कि हिन्दुओ ने ताजिया की बेहुर्मती की—उसपर ढेले और पत्थर फेके, जिससे मुसलमानों मे उत्तेजना हुई, तब उन्होने बलवा-फसाद किया। हिन्दुओं का कहना था कि उनको इस तरह के पागलपन की कार्यवाही करने की कोई जरूरत नही थी और न वे ऐसा कर ही सकते थे; क्योकि उनकी ओर से लडाई करने की कोई तैयारी नही थी, मुसलमान शहर के और बाहर के बहुत बडी संख्या मे हथियार बन्द होकर—जैसा ताजिया के जुलूसो मे हुआ करता है—जुलूस मे शरीक थे, हिन्दू ऐसे

बेवकूफ और नासमझ नहीं थे कि ऐसे जुलूस के साथ छेडछाड़ करते; मुसलमान हिन्दुओं को लूटने-पाटने के लिए तैयार आये थे, अत: उन्होंने ताजिया पर ढेला-पत्थर फेकने का केवल एक बहाना बनाकर लूट-मार शुरू कर दी थी।

कांग्रेस और खिलाफत के लोगों का कहना था कि इसमे न हिन्दुओं का कसूर था और न मुसलमानों का; ब्रिटिश गवर्नमेंट ही हिन्दू-मुसलिम एकता देखकर घबरा गई थी; उसीके कर्मचारियों ने यह झगड़ा करा दिया। हो सकता है कि ढेला-पत्थर ताजिया पर, जैसा मुसलमान कहते थे, फेंका गया हो, पर हिन्दुओं ने नही फेका था; यह काम गवर्नमेंट के आदमियों की तरफ से किया या कराया गया था। उन्होने ही मुसलमानों में उत्तेजना पैदा कर हिन्दुओं को लुटवाया, पिटवाया और मरवाया। उस समय वहाँ के डिप्टी कमिश्नर मि० एमर्सन थे। वह बहुत होशियार और चालबाज अफसर समझे जाते थे। बहुत लोगों का तो कहना था कि इस फसाद की जड मे वही थे। उनकी तरक्की भी पीछे बहुत हुई। वह थोड़े ही दिनों के बाद गवर्नमेंट-आफ-इंडिया मे होम-सेक्रेटरी और बाद मे पंजाब के गवर्नर भी हो गए।

जो भी हो, इसमें शक नही कि हिन्दुओं के साथ बहुत ज्यादती हुई थी। जब इसकी खबर मिली तब हकीम अजमल खाँ के साथ, जो कांग्रेस के सभापति थे, पण्डित मदनमोहन मालवीय, सेठ जमुनालाल बजाज, श्री प्रकाशम् आदि, और मै भी, मुलतान गये। वहाँ स्टेशन पर उतरते ही हमलोगों को मालूम हो गया कि हिन्दू और मुसलमानो के बीच बहुत बडा मनमुटाव हो गया है। अब वे इसी बात पर झगड़ने लग गये कि हम लोग कहाँ ठहराये जायँ। हिन्दू समझते थे कि हमलोग अगर मुसलमानो के प्रबन्ध मे ठहराये गये तो केवल मुसलमानों की ही बात सुनकर हम अपनी राय कायम कर लेगे और मुसलमानो को निरपराध मान लेगे। उसी तरह, मुसलमान समझते थे कि हम अगर हिन्दुओं के इन्तजाम मे ठहराये गये तो हिन्दुओं की बात सुनकर हम मुसलमानो को ही अपराधी मान लेगे। किन्तु, हमलोग अपराध की जाँच करके दोषी निर्धारित करने के लिए ही वहाँ नही गये थे, बल्कि दुखियों को सान्त्वना देने और आपस के फटे हुए दिलो को फिर से जोड़ने के लिए गये थे। हमने फैसला किया कि हमे दो दलों मे बाँट कर एक को हिन्दू ठहरावें और दूसरे को मुसलमान। मै हकीम अजमल खाँ के साथ एक मुसलमान नवाब के यहाँ ठहरा। दूसरे लोग मालवीयजी के साथ किसी हिन्दू के बगीचे में ठहरे।

हम सब साथ मिलकर उन स्थानों को देखने गये जिनको मुसलमानो ने लूटा-खसोटा और जलाया था। उन हिन्दू पुरुषों और स्त्रियों से भी मुलाकात की, जिनके घर के लोग मारे गये थे। दृश्य बहुत ही दुखदायी था। घर के जो सामान न लूट ले जा सके, उन्हें इकट्ठा करके आग लगाकर जला दिया था। जहाँ आग नही लगाई वहाँ सब चीजों को एक-एक करके तोड़ डाला था। यहाँ तक कि गेहूँ पीसने की चक्की और मसाला पीसने के सिल-बट्टे को भी नहीं छोड़ा था! एक जगह तो मैंने यह भी देखा कि एक पीजड़े को, जिसमें तोता पाला गया था, तोते के साथ ही घर के जलते हुए सामान की आग मे डाल दिया था! स्त्रियों ने रो-रोकर अपने दुखड़े सुनाये। इसका

इतना प्रभाव पड़ा कि हकीम अजमल खाँ की आँखों में आँसू आ गये; हम हिन्दुओं के दिल पर तो बड़ा गहरा असर पड़ ही रहा था। डिप्टी-कमिश्नर से भी हम लोगों की मुलाकात हुई। मालवीयजी ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि अपराधियों को कड़ा दंड मिलना चाहिए। यह बात मुझे खटकती थी, पर वहाँ कोई दूसरा चारा नहीं था। पहले हमलोगों ने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग-अलग सभाएँ कीं। दोनों को हकीम साहब ने और मालवीयजी ने समझाया। पीछे दोनों को मिलाकर सभाएँ हुईं। इससे कुछ हद तक दोनों मे वैर-भाव कम हुआ। हमलोगों के वहाँ जाने का असर अच्छा हुआ। वहाँ कुछ शान्त वातावरण छोड़कर हम लोग वापस आये। मालवीयजी ने वहाँ भी एक बात कह दी थी कि हिन्दुओं के संगठित न होने के कारण ही उनके साथ इस प्रकार की ज्यादती हुई है, अतः उनको अब सगठित हो जाना चाहिए। इस बात को उन्होंने बडी खूबी के साथ कहा, जिससे हिन्दू-मुसलमान-वैमनस्य बढने की आशंका पैदा नही होती थी और न कोई यही कह सकता था कि हिन्दुओं का संगठन मुसलमानो से लडने के लिए या उनके विरुद्ध किया जायगा।

मुसलमानो में वातावरण कुछ सुधर गया। पर यह बात छिपी न रही। दूसरा जगहों के हिन्दुओं मे भी कुछ आवेश पैदा हुआ। हिन्दुओं को संगठित करने की आवश्यकता महसूस की गई। थोड़े ही दिनो के बाद गया मे कांग्रेस होनेवाली थी। कुछ हिन्दुओं ने हिन्दू-सभा करने का विचार किया। पूज्य मालवीयजी को सभापति बनाने का निश्चय हुआ। मालवीयजी ने सभापति होना इस शर्त पर मंजूर किया कि मै भी उस सभा मे शरीक होऊँ और उनको निमंत्रण दूँ। मैंने इस बात को मंजूर कर लिया; क्योंकि मुझे इसमें कोई बुराई नजर नहीं आई। पीछे, जब हिन्दू-सभा का कांग्रेस के साथ मतभेद हुआ तब, मालवीयजी ने इस बात की मुझे याद दिलाई—कहा कि मेरे कहने पर ही उन्होंने गया मे सभापति होना स्वीकार किया था। जो हो, सभा सफलता-पूर्वक गया में समाप्त हुई। मुख्य बात, वहाँ हिन्दुओं का अलग संगठन करना तय हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्दजी ने मालवीय राजपूतों को—जो मुसलमान तो हो गये थे, पर जिनके बीच अब भी हिन्दू-संस्कृति के चिह्न मौजूद थे और हिन्दुओं के रस्म-रिवाज को बहुत बातों में मानते थे—शुद्ध करके हिन्दू बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया। मुसलमान तो चाहे किसी भी दल और विचार का क्यों न हो, किसी हिन्दू को मुसलमान बनाना बुरा नही मानता; पर स्वामी श्रद्धानन्दजी के शुद्धि-आन्दोलन के कारण उनसे मुसलमान बहुत बिगड़ गये—उनके जानी दुश्मन तक हो गये। जहाँ-तहाँ हिन्दू-मुसलिम बलवा भी होते ही रहे। नतीजा यह हुआ कि आपस का द्वेष बढने लगा।

स्वामी श्रद्धानन्द, १९१९ में, जब दिल्ली मे रौलट-कानून के विरुद्ध आन्दोलन मे मुसलमान भी शरीक थे, पुलिस की बन्दूकों के सामने सीना खोलकर खड़े हो गये थे। उस वक्त वह मुसलमानो मे इतने लोकप्रिय हो गये थे कि मुसलमानों ने उनको जामा-मस्जिद के अन्दर खड़े होकर भाषण करने के लिए बाध्य किया था। वही स्वामीजी इस शुद्धि-आन्दोलन के कारण मुसलमानो के सबसे बड़े दुश्मन समझे जाने लगे। अन्त

में, १९२६ के दिसम्बर में, एक मुसलमान के हाथ से उनकी हत्या भी हो गई। यह हत्या कई वर्षों के बाद हुई। पर इसके लिए वायुमंडल १९२३ से ही तैयार होने लगा था !

महात्माजी ने जेल से निकलने पर एक तरफ कांग्रेसियों में कौसिल के प्रश्न पर मतभेद देखा और दूसरी तरफ यह देखा कि जो हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य इतने लोगों के परिश्रम तथा त्याग के बल से उन्होंने स्थापित किया था वह हिन्दू-मुसलिम दंगों की लहर मे नस्त-नाबूद हो गया ! उसी साल एक भारी दंगा कोहाट में हो गया था, जिसमें हिन्दुओं के साथ बड़ी ज्यादतियाँ हुई थी। महात्माजी का अली-बन्धुओं पर अटल विश्वास था। वे दोनों भी महात्माजी के प्रति वैसी ही श्रद्धा रखते थे। कोहाट के झगडे के सम्बन्ध मे महात्माजी ने मौलाना शौकत अली के साथ जाँच करने का निश्चय किया। किन्तु दोनों एक राय पर नही पहुँचे, मतभेद हो गया ! महात्माजी बहुत ही गम्भीर पुरुष थे। कभी अपने मुँह से किसी की शिकायत भर-सक नही किया करते थे। इस मौके पर भी उन्होंने नहीं किया। पर यह बात स्पष्ट हो गई कि अबतक जैसा एक दूसरे के साथ अटूट और अटल विश्वास का सम्बन्ध था वह अब नहीं रह गया ! किन्तु इस बात को उन्होने जाहिर नहीं होने दिया। काम साधारणतया, जैसा पहले चलता था, चलता रहा।

इन झगडो से महात्माजी कुछ इतने ऊब गये कि उन्होने सोचा, इनको रोकने के लिए कोई बहुत बड़ा कदम उठाना आवश्यक हो गया है। अभी चन्द ही महीने पहले वह भारी बीमारी से, जिसमे उनके पेट मे चीरा लगा था, उठे थे। पर उन्होंने जान की परवा न करके इक्कीस दिनो का उपवास करने का निश्चय कर लिया ! इस निश्चय के समय वह दिल्ली मे थे। वहाँ मौलाना मुहम्मद अली के घर मे, उनके ही अतिथि होकर, ठहरे हुए थे। वहीं उन्होंने उपवास करने का विचार स्थिर किया। मौलाना मुहम्मद अली और दूसरे बहुत-से लोगों ने इस विचार को रोकने का बहुत प्रयत्न किया। पर वह अपने विचार पर अटल और दृढ रहे। आखिर उपवास वही पर आरम्भ कर दिया। मौलाना मुहम्मद अली उस समय कांग्रेस के प्रेसिडेंट थे। इस उपवास की खबर छपते ही सारे देश में चिन्ता की लहर-सी दौड़ गई। मौलाना मुहम्मद अली ने सभी दलों और धर्मों के प्रतिनिधियो की एक कान्फ्रेंस बुलाई। उसमें कांग्रेस के अलावा हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, पारसी, सिक्ख, सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि उपस्थित हुए। क्रिस्तानों के सबसे बड़े पादरी—कलकत्ता के लार्ड-बिशप—भी कान्फ्रेंस में आये। कई दिनों तक बहस हुई। अन्त में, आपस के इतने झगड़े के जो कारण हुआ करते थे—जैसे शुद्धि, गाय की कुर्बानी, मस्जिदों के सामने बाजा इत्यादि—उन सभी पर प्रस्ताव स्वीकृत हुए। महात्माजी को इससे संतोष हुआ। उन्होंने २१ दिनो के उपवास का जो व्रत लिया था उसे पूरा करके ही उपवास समाप्त किया।

मै उपवास आरम्भ होने के एक ही दो दिनों के बाद दिल्ली पहुँच गया था। महात्माजी मौलाना मुहम्मद अली के घर मे ही थे। दो-तीन दिनों के बाद वह शहर से बाहर एक कोठी में ले जाकर रखे गये। उपवास के बाकी दिन उन्होंने वहीं बिताये।

मैं दूसरी जगह ठहरा था। पर प्रायः सारा दिन, और रात का भी कुछ अंश, वहीं बिताया करता था। महात्माजी की दृढ़ता, ईश्वर पर भरोसा और अपने निर्धारित कार्यक्रम में तत्परता का जैसा उदाहरण वहाँ देखने मे आया वैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था।

महात्माजी का एक नियम था कि वह रोज चरखा चलाया करेंगे। इन इक्कीस दिनों के उपवास में भी उन्होंने चरखा चलाना एक दिन भी नहीं छोड़ा। उपवास के कुछ दिन बीत जाने के बाद वह इतने कमजोर हो गये थे कि अपने से उठना-बैठना भी असम्भव हो गया था। तो भी चारों तरफ तकिया लगाकर, तकिये के सहारे, वह बैठा दिये जाते और अपने नियम के अनुसार चरखा कात लिया करते। अन्त में, जिस दिन उन्होंने उपवास समाप्त किया उस दिन भी, चरखा चलाने के बाद ही उन्होंने उपवास समाप्त किया। प्रार्थना तो नियत समय पर प्रतिदिन सुबह-शाम हुआ ही करती थी। पूज्य मालवीयजी कुछ देर के लिए प्रतिदिन श्रीमद्भागवत की कथा सुनाया करते थे। ईश्वर पर उनका बडा अटल विश्वास था। इस बात को वह मानते थे कि ईश्वर को अगर उनसे कुछ और काम लेना होगा तो वह उपवास की अवधि को सकुशल समाप्त करा देगा। डाक्टर अंसारी उनको बराबर देखा करते। पेशाब वगैरह भी जाँचा करते। उनका विचार था, और उपवास आरम्भ होने के पहले ही उन्होंने महात्माजी से बहुत कहकर यह वचन ले लिया था, कि अगर ऐसा समझा गया कि उपवास के कारण अब उनके जीवन पर खतरा है तो, उस हालत में—चूँकि वह उपवास के कारण मरना नहीं चाहते थे—उपवास तोड़कर वह कुछ खाने भी लगेंगे। इसलिए डाक्टर अन्सारी इसी खयाल से दिन-भर मे कई बार देखते और जाँच करते। पेशाब जाँचने मे उनको डर होने लगा कि वह संकट का समय अब निकट आ रहा है। इस बात की सूचना उन्होंने महात्माजी को दी। दूसरे दिन उन्होंने साफ-साफ कहा कि अब ठहरना खतरनाक होगा, आज आपको भोजन करना ही चाहिए। महात्माजी ने उनसे कहा—"आपने सब बाते सोच ली है ? सब देख लिया है ? तब भी आपका यही निश्चित मत है ? पर आपकी विद्या में एक बात का जिक्र नहीं होगा—वह है प्रार्थना ! आज-भर मुझे छोड दीजिए। कल अगर ऐसी ही हालत रही तो मै अपने वचन को पूरा करूँगा, खा लूँगा।" दूसरे दिन, जब डा० अन्सारी ने जाँच करके देखा, वे सब लक्षण जिनसे उन्होंने खतरा समझा था, गायब हो गये थे। उनको खुद इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। इस चमत्कार की बात उन्होंने अपने सभी इष्ट-मित्रों से कही।

महात्माजी ने इसके बाद कई बार इक्कीस दिनों के उपवास किये। पर, चूँकि यह समय पहला था, लोगों को चिन्ता बहुत थी। किन्तु सफलता-पूर्वक उपवास समाप्त हुआ। अब, दिल्ली के सम्मेलन के बाद, वातावरण बहुत सुधरा हुआ मालूम हुआ। ऐसा प्रतीत होने लगा कि आपस के झगड़े अब नहीं होंगे; अगर कहीं झगड़े का सामान देखने में आया भी तो आपस की बातचीत या पंचायत से झगड़े का फैसला हो जाया करेगा। परन्तु, जितने उत्साह और खुश-दिली से दिल्ली का सम्मेलन समाप्त हुआ था वह कायम न रह सका। उन फैसलों का जितने जोरों से प्रचार होना चाहिए था, वह भी न हुआ।

थोड़े ही दिनों के बाद ऐसा मालूम हुआ कि वे फैसले महात्माजी के उपवास-जनित चिन्ता के कारण हुए थे—उनके प्रति वह श्रद्धा की भावना और विश्वास नही था जो उनको हिन्दू-मुसलमानों के दिल में स्थायी स्थान दिलवा सकता। क्षणिक सफलता के कुछ दिनों के बाद फिर आपस के झगडे-बलवा-फसाद जारी हो गये। महात्माजी ने, इस प्रकार बेलगाँव-कांग्रेस होने के पहले ही, दो प्रश्नों का—जो देश को चिन्तित कर रहे थे—हल निकाल कर, बेलगाँव-कांग्रेस की सफलता के लिए वायुमडल तैयार कर लिया।

महात्माजी के उपवास कई बार हुए। वे विशेष कारण से ही हुए। उपवासों के सम्बन्ध में उनका विश्वास अटल था। वह उनको आत्मशुद्धि का अचूक साधन मानते थे। यह भी समझते थे कि किसी विषय में अगर सफलता नही होती तो उसका कारण कुछ अपने में कमी है; जब आत्मशुद्धि से वह कारण दूर हो जायगा तब कार्य-सिद्धि अवश्य हो ही जायगी। जो लोग गहराई में पहुँचकर उनकी विचारधारा को नही समझ पाते थे—और देश के अधिकांश लोग ऐसे ही थे—वे यह समझते थे कि महात्माजी दूसरों पर दबाव डालकर कार्य सिद्ध कराने के लिए उपवास करते है। किन्तु उनके उपवास का दबाव दूसरों पर, जो उनके साथ प्रेम रखते थे, प्रेम का ही पड़ता था। हाँ, जो विरोधी थे, उनपर प्रेम का दवाव तो पड ही नही सकता था। पर ऐसे लोग शायद लोकमत से, जो उपवास के कारण जाग्रत हो जाया करता था, जरूर डरते थे। जो लोकमत की परवा न करते उन पर कोई विशेष असर देखने मे नही आता। पर महात्माजी का विश्वास था कि कोई प्रभाव यदि नही भी देखने मे आता है, तो भी दबाव पड़े विना रह नहीं सकता; क्योंकि असल उद्देश्य तो आत्मशुद्धि होती है, वह हुए बिना रह नही सकती। जहाँ-कही दूसरे पर दबाव डालने का प्रभाव पडा, जैसा राजकोट के उपवास के सम्बन्ध मे उन्होने बहुत-कुछ लिखा था, वहाँ उस उपवास को, कुछ दबाव आ जाने के कारण, उन्होंने गलत और असफल बतलाया था—यद्यपि जाहिर तौर पर वह सफल समझा जाता था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

इस वक्त से प्राय. पाँच वर्षों तक महात्माजी अपना समय विशेषकर रचनात्मक काम मे ही लगाते रहे। राजनीति का काम—अर्थात् ब्रिटिश गवर्नमेंट को किस तरह मजबूर किया जाय कि भारत को स्वराज्य दे दे—स्वराज्य-पार्टी के जिम्मे रहा। यद्यपि दिल्ली की असेम्बली मे स्वराज्य-पार्टी का बहुमत नहीं था, तो भी और-और दलों के लोगों के साथ मिलकर उसने अपने कार्यक्रम मे सफलता पाई; क्योंकि बजट को नामंजूर करके वायसराय को वह मजबूर कर सकी कि वह अपने विशेषाधिकारों से काम ले। पर स्वराज्य-पार्टी के अन्दर भी कुछ मतभेद देखने मे आये। वह मतभेद इस बात में कि कौसिलों के अन्दर एकबारगी और पूर्ण असहयोग किया जाय, अथवा जहाँ असहयोग के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट की नीति मजबूर करे वहाँ तो असहयोग किया जाय—पर जहाँ देश-हित के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट की नीति मौका दे वहाँ सहयोग भी किया जाय। पंडित मोतीलाल नेहरूजी, देशबन्धु दास की मृत्यु के बाद, स्वराज्य-पार्टी के नेता थे। वह असहयोग के पूरे पक्षपाती थे। स्वराज्य-पार्टी का जन्म भी इसी प्रकार के असहयोग के लिए हुआ था। तब से अब तक उस पार्टी के लोग असहयोग की ही दुहाई दिया करते थे। पर, कुछ दूसरे लोग, जिनमें महाराष्ट्र के कुछ लोग प्रमुख थे, प्रतिक्रियात्मक असहयोग के पक्ष मे आवाज उठाने लगे। इस कारण, आपस मे कटुता भी हो गई। अन्त में, स्वराज्य-पार्टी ने, और उसकी सलाह से कांग्रेस ने भी, यह निश्चय किया कि स्वराज्य-पार्टी के लोग कौसिल से निकल आवे। वे लोग निकल भी आये। थोड़े ही दिनों के बाद फिर चुनाव होनेवाला था। इस चुनाव में स्वराज्य-पार्टी ने, केवल अपने नाम से ही नहीं—बल्कि कांग्रेस के नाम पर भी, भाग लिया। इसलिए, कुछ अधिक सफलता भी हुई। पर इस चुनाव मे, हिन्दू-मुस्लिम दंगों के कारण जो वैमनस्य हो गया था उसका, नतीजा यह हुआ कि पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय-जैसे प्रमुख लोग, कांग्रेस के विरोध में, हिन्दू-सभा की ओर से, चुनाव लड़े। जो प्रति-क्रियावादी असहयोग के पक्षपाती थे वे लोग भी कांग्रेस के विरोध मे लड़े। पर तो भी उस समय के विधान के अनुसार जो जीत हो सकती थी वह अधिकतर कांग्रेस की ही

हुई। महात्माजी ने स्वराज्य-दल के लोगों को पूरा मौका दिया कि वे जिस तरह से चाहें अपने कार्यक्रम को चलावे। कांग्रेस से भी वे लोग जो काम ले सकते थे उसे लेने का काफी अवसर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि चार-पॉच वर्षो तक कार्यक्रम की आजमाइश करके, प० मोतीलाल आदि भी, कौसिल को छोड़कर, असहयोग-सत्याग्रह के कार्यक्रम में फिर आ गये ! यहाँ तक पहुँचने में कई साल लग गये। पर इसके चिह्न १९२५ मे ही, देशबन्धु दास के जीवन के अन्तिम दिनों मे, देखने मे आने लगे थे।

देशबन्धु दास ने स्वराज्य-पार्टी को, जहाँ तक वह अपने कार्यक्रम को चला सकती थी, चलाने का प्रयत्न किया। दो प्रातो मे, अर्थात् मध्यप्रदेश और बगाल मे, या तो मिनिस्ट्री बनी ही नही या (बंगाल मे) बनी भी तो तोड़ दी गई। केन्द्रीय असेम्बली मे बार-बार बजट नामंजूर किया गया। बीच-बीच में गवर्नमेंट ने दमन-चक्र भी खूब चलाया। स्वराज्य-पार्टी उसे रोकने में कुछ सफल न हो सकी। इस तरह, कौसिल के अंदर से असहयोग की न्यूनता स्पष्ट होने लग गई थी। पर देशबन्धु दास ने सोचा था कि स्वराज्य-पार्टी ने अपनी शक्ति दिखला दी है, अगर इसके बाद वह समझौता करने के लिए भी अपनी तत्परता दिखलावे, तो शायद ब्रिटिश गवर्नमेंट बातचीत करके रास्ता निकालने को तैयार हो जाय। उन दिनों इङ्गलैंड मे लार्ड बर्कनहेड, जो एक कट्टर कन्जरवेटिव और तेज-मिजाज तथा निडर राजनीतिज्ञ समझे जाते थे, भारत-सचिव हो गये थे। देशबन्धु दास को उनसे बहुत आशा थी। कुछ दिनों के लिए देशबन्धु पटना मे ठहरे थे। बातों-ही-बातो मे उन्होंने मुझसे कहा था कि उनको लार्ड बर्कनहेड से बहुत आशा है; पर यदि लार्ड बर्कनहेड ने उनको निराश किया तो फिर उनके सामने महात्माजी के चरखे के सिवा दूसरा कोई साधन नही रह जायगा, अर्थात् गाधीजी के कार्यक्रम को ही फिर उन्हे मानना पड़ेगा ! इस आशा से कि लार्ड बर्कनहेड उनकी बातो पर ध्यान देगे, उन्होंने एक वक्तव्य निकाला। थोड़े ही दिनो के बाद वह बंगाल-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति हुए। उसमे किये गये उनके भाषण से, समझौता करने की इच्छा टपकती थी। लार्ड बर्कनहेड ने कुछ मीठे शब्दों के साथ, पर साफ-साफ, जाहिर कर दिया कि वह इस तरह का कोई समझौता, जबतक स्वराज्य-पार्टी असहयोग का कार्यक्रम छोड़ नही देती है, नही करेंगे। इस बात की चोट देशबन्धु दास को लगी। उनका स्वास्थ्य कई महीनों से गिरता जा रहा था। इसके थोड़े ही दिनो के बाद दार्जिलिंग में उनकी मृत्यु हो गई !

जैसा ऊपर कहा गया है, उनकी मृत्यु के बाद, पं० मोतीलाल नेहरूजी के नेतृत्व मे, स्वराज्य-पार्टी के अधिकतर लोग असहयोग कायम रखने के पक्ष मे हो गये। कुछ लोग प्रतिक्रियात्मक असहयोग के पक्षपाती हो गये। स्वराज्य-पार्टी मे फूट पैदा हो गई। जो भावना देशबन्धु दास के अन्तिम दिनो मे अस्पष्ट देखने मे आई वही दिन-दिन दृढ होती गई। १९२८ के अन्त मे यह स्पष्ट हो गया कि अब कौसिलों से काम नही चलेगा, असहयोग को कुछ उग्र रूप धारण करना ही पड़ेगा।

इन चार-पाँच वर्षो मे महात्माजी, जैसा ऊपर कहा गया है, अपना समय विशेष कर

रचनात्मक काम मे ही लगाते रहे। यहाँ पर रचनात्मक काम का कुछ विवरण देना अच्छा होगा। महात्माजी चरखे और खादी को रचनात्मक कार्यक्रम का मध्यविन्दु अर्थात् केन्द्र मानते थे। १९२४ से खादी-बोर्ड, जो कोकनाडा-कांग्रेस के बाद स्थापित हुआ था, इसका काम चलाता रहा। इसके लिए काग्रेस के तिलक-स्वराज्य-फंड से काफी पैसे भी मिले थे। जब स्वराज्य-पार्टी के साथ समझौता हो गया तब अखिलभारतीय चरखा-संघ की स्थापना, अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी के एक प्रस्ताव द्वारा, की गई। यह समझौते की शर्तों में था कि इस तरह के काम गांधीजी के जिम्मे रहेंगे और स्वराज्य-पार्टी के लोग यथासाध्य मदद किया करेंगे। इसलिए, चरखा-सघ कांग्रेस द्वारा स्थापित--पर अपने काम में स्वतंत्र--संस्था बना। जो कुछ काग्रेस के रुपये या धन खद्दर-बोर्ड को मिले थे, सब चरखा-संघ को दे दिये गये। गाधीजी का बहुत समय चरखा-संघ और उसके मातहत सूबे-सूबे के चरखा-संघों के संगठन में लगा। इस काम को बढाने के लिए अधिक रुपयों की जरूरत हुई तो महात्माजी ने दौरा करके रुपये जमा किये। वह स्वयं चरखा-संघ के अध्यक्ष थे। उसकी सभी बातों की देखरेख करना और उसे मार्ग दिखलाते रहना उनका विशेष काम रहा। उन दिनों चरखा-सघ की नीति थी कि चरखा बेहतर बनाया जाय जिसमें और भी अच्छी तथा अधिक गति हो, बुनाई का काम भी बढे। इसलिए, इस सम्बन्ध के बहुत-से लेख महात्माजी लिखते रहे, अपने भाषणो में भी बहुत बातें बताते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि बहुत जगहो मे चरखे का काम सगठित रूप से चलने लगा। सभी जगहो मे ऐसे अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता मिले, जिन्होने इस संगठन में बहुत सहायता पहुँचाई।

चरखे की उन्नति कई तरह से देखने मे आई। अच्छा-से-अच्छा बारीक सूत बनने लगा। मोटे और बारीक, दोनो प्रकार के, कपडे बहुत अधिक तैयार होने लगे। अच्छे-से-अच्छे नमूने की खादी बनने लगी, जो मिल के बने किसी भी कपड़े से मुकाबला कर सकती थी। खादी का श्रृङ्गार बढाने के लिए कपडे की रँगाई और छपाई भी होने लगी। प्रत्येक खादी-भण्डार और प्रान्तीय शाखा का यह प्रयत्न होता था कि वह अधिक-से-अधिक तथा अच्छी-से-अच्छी खादी तैयार करावे। साथ ही, अपने प्रान्त मे अथवा बाहर, जहाँ भी हो सके, बेचकर काम आगे बढावे। इसके सिवा, यह भी कोशिश थी कि खादी मिल के कपडे का, कीमत मे भी, मुकाबला कर सके। इसलिए खादी का दाम घटाने का, अर्थात् कम-से-कम खर्च मे उसे तैयार करके बेचने का, प्रयत्न सभी केन्द्र और भण्डार करते थे। महीन खादी महँगी पडती। मिल के महीन कपड़े के मुकाबले उसकी कीमत ज्यादा पडती। पर मोटे कपडे मे इतना फर्क नही था। अधिक लोग महीन कपड़े ही ज्यादा पसद करते। पर वह कम तैयार होता। बिक्री बढाने के लिए और प्रचार के खयाल से जगह-जगह प्रदर्शनी की जाती, जिसमे हर प्रकार की खादी दिखाई और बेची जाती। जो प्रदर्शनी बडे पैमाने पर की जाती उसमे खादी बनाने की विधि भी दिखलाई जाती। काम करनेवाले कारीगर कपास लोढने से आरम्भ करके उटाई, धुनाई, कताई, बुनाई, रँगाई, छपाई इत्यादि की सभी प्रक्रियाएँ दिखलाते। इन कामों के लिए जो नये-से-नये यंत्र जिस-किसी सूबे मे तैयार होते, दिखलाये जाते। साबरमती का आश्रम तो

इस अनुसंधान में लगा रहता कि कौन-सा यंत्र उन्नत किया जाय—किस तरह सूत इतना बराबर और मजबूत बने कि आसानी से वह बुना जा सके। इन सबके लिए वह आश्रम प्रयोगशाला बन गया था। दूसरी जगहों में भी प्रान्तीय शाखाएँ अपने-अपने क्षेत्र में अनुसंधान और प्रयोग का काम करती रहती। फलस्वरूप बहुत किस्म के नये चरखे निकले जिनका मुख्य उद्देश्य था खादी की प्रगति बढ़ाना। इस प्रगति के साथ-साथ सूत की मजबूती, समानता और बारीकी पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

कपास की खेती के अलावा रेशमी खादी की भी काफी प्रगति हुई। जहाँ-जहाँ रेशम का काम पहले से कुछ होता था वहाँ बहुत बढ़ गया; क्योंकि रेशमी कपड़े की बिक्री का एक अच्छा साधन चरखा-संघ हो गया। विदेशी रेशमी कपड़ा बहुत प्रचलित था। अब रेशमी खादी, सुन्दरता और कीमत में, विदेशी रेशमी कपड़े का बहुत हद तक मुकाबला करने लगी। चरखा-संघ की नीति कपास की खादी को अधिक प्रोत्साहन देने की थी; क्योंकि उसका जितना प्रचार हो सकता था उतना रेशमी कपड़े का नही। एक तो सब लोग रेशमी कपड़ा ले नहीं सकते थे—यदि लेना चाहे भी तो उतना वह पैदा नहीं हो सकता था कि सभी की जरूरतों को वह पूरा कर सके; दूसरे यह डर भी था कि उसी तरफ अगर अधिक ध्यान गया तो कपास की खादी उपेक्षित हो जायगी—उसमें जितनी प्रगति चाहिए, ध्यान बट जाने के कारण, नही हो सकेगी। तो भी, चूँकि रेशमी खादी से भी गरीबों की वैसी ही सहायता होती जैसी कपास की खादी से, बहुतेरी शाखाओ ने रेशमी खादी की तरफ भी ध्यान दिया। अतः काफी और अच्छी रेशमी खादी भी तैयार होने लगी। इससे मोटी खादी की बिक्री में भी प्रोत्साहन मिला; क्योंकि अक्सर ग्राहकों को जब कुछ अच्छे सुन्दर रेशमी तथा कपास के महीन कपड़े दिये जाते तो साथ-साथ कुछ मोटे कपड़े भी दे दिये जाते।

इसी प्रकार, ऊनी खादी भी बनने लगी। इसके लिए विशेष प्रबन्ध कश्मीर में किया गया, जहाँ अभी तक यह कला मिटी नही है। उत्तर-भारत मे, सर्दी के दिनों मे, ऊनी कपडा आवश्यक हो जाता है। चरखा-संघ ने खादी पहननेवालों के लिए ऊनी खादी तैयार कराकर अपने भंडारों मे बेचना आरम्भ कर दिया। इस तरह की खादी में भी काफी प्रगति हुई और इसकी बिक्री बढ़ गई। और प्रकार की खादी के सिवा, मिल के बने ऊनी कपड़े के साथ, अपनी खूबी तथा कीमत में, ऊनी खादी भी बहुत हद तक मुकाबला करती थी। इसलिए इसकी माँग हमेशा बनी रहती। जिस तरह कपास की खादी की बिक्री बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता, उस तरह ऊनी खादी के लिए प्रयत्न की जरूरत नहीं पड़ती।

खादी के अलावा महात्माजी अस्पृश्यता-निवारण पर भी बहुत जोर दे रहे थे। इस सम्बन्ध मे भी काग्रेस के लोग प्रचार किया करते। हरिजन-बस्तियो मे जाना, उनके काम मे मदद देना, निजी तरीके से छुआछूत न मानना, इस बात का भी प्रयत्न करना कि उनके लिए जहाँ देव-मन्दिरों में जाना मना था वहाँ उनके लिए मन्दिर खुलवाना—इत्यादि बातें सभी जगह हो रही थी। पर अभी इस काम में उतना जोर नही आया था

और न उतनी प्रगति ही हुई थी जितनी कुछ दिनों के बाद हुई। पर इसके लिए भी वायुमण्डल तैयार हो रहा था। महात्माजी जो काम स्वयं नही करते थे वह किसी से करने को नहीं कहते थे। वह एक अछूत कन्या को अपनी कन्या मानकर अपने साथ साबरमती आश्रम मे रखते थे। वही वह पली और सयानी हुई। जबतक उसका विवाह नही हुआ, महात्माजी और 'बा' के साथ ही रही। महात्माजी के चार पुत्र थे, कन्या एक भी नही। इसलिए वह अछूत कन्या ही उनकी कन्या बन गई।

यह अछूतपन न मालूम कब से हिन्दू-समाज मे आ गया था। अलग-अलग स्थानों में इसका अलग-अलग रूप हो गया था। इसका एक रूप तो यह भी है जो बहुत-कुछ आज भी वर्तमान है; पर अब आहिस्ता-आहिस्ता कमजोर पड़ता जा रहा है, या इसका सबसे कमजोर और ठंडा रूप कहा जा सकता है। इसमे एक जाति के लोग दूसरी जाति के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार नही करते—अर्थात् उसके साथ बैठकर भोजन नही करते और आपस में विवाह भी नही करते। इसकी भी बहुत शाखा-प्रशाखाएँ हो गई है। केवल ब्राह्मण, छत्री, वैश्य और शूद्र—यही चार विभाग नही है, बल्कि इनमे से प्रत्येक के बहुतेरे विभाग बन गये है! कुछ तो देश के कारण, कुछ और कारणो से भी, इनमें एक विभाग का दूसरे विभाग के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध नही होता। एक विभाग के अन्दर भी बहुतेरे विभाग बन गये है! एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ तो कोई सम्बन्ध होता ही नही। शूद्रो के साथ तो अन्य तीन वर्णो का कोई सम्बन्ध हो ही नही सकता। उसी तरह, शूद्रों के अन्दर भी बहुत जातियाँ हो गई हैं, जिनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध नही होता। कुछ जातियों के साथ खान-पान का सम्बन्ध तो नही हो सकता; पर उनके साथ शरीर का स्पर्श मना नही है। कुछ का छुआ हुआ जल ग्रहण किया जा सकता है; पर पकाया हुआ अन्न नही! पकाये हुए अन्न मे भी कच्ची-पक्की रसोई का भेद माना जाता है। पर इन चार वर्णो के अलावा भी एक पचम वर्ण है, जिसका शरीर-स्पर्श यदि हो जाय तो शरीर को शुद्ध करने के लिए स्नान इत्यादि का विधान है। इस प्रकार की अस्पृश्यता इतनी दूर तक चल गई है कि अस्पृश्य के साथ किसी लकडी या रस्सी के द्वारा भी स्पर्श होना बुरा माना जाता है! कही-कही तो, विशेषकर दक्षिण मे, दृष्टि से भी स्पर्श हो जाता है! वहाँ अस्पृश्य लोगों का किसी-किसी रास्ते से चलना भी मना है! मंदिरों के अन्दर तो उनका जाना मना है ही।

महात्माजी ने इस प्रकार की घोर अस्पृश्यता को ही दूर करने का प्रयत्न किया; क्योंकि वह समझते थे कि यह यदि हो जाय तो वर्ण-वर्ण के बीच खान-पान और विवाह का जो बन्धन है वह स्वयं आहिस्ता-आहिस्ता ढीला पड़ जायगा। वह विदेशों मे बहुत रह आये थे। इसलिए खान-पान के सम्बन्ध में किसी प्रकार की छुआछूत का न मानना उनके लिए स्वाभाविक हो गया था। पर यह बात इस देश के लोगों—विशेषकर गाँवों—के लिए नई चीज थी। जैसा मै ऊपर बता आया हूँ, उनके सम्पर्क में रहनेवाले लोग इस बन्धन को भी ढीला कर ही देते थे। चम्पारन में हम लोग, जो उस दिन तक स्वजाति के अन्दर ही खान-पान किया करते थे, इस बन्धन को हटाकर सब एक-दूसरे

के साथ खान-पान करने लगे थे। यह खान-पान केवल ऊँची कही जानेवाली जातियों के लोगों के साथ ही नहीं, बल्कि ऐसे लोगो के साथ भी आरम्भ हो गया जिनका छुआ हुआ पानी हम नहीं पी सकते थे। खूबी यह थी कि हमने यह काम कुछ लुक-छिपकर नही किया, बल्कि खुले-आम किया। हम लोग वहाँ चारो तरफ से, गाँवों से आये हुए किसानों से, घिरे रहते थे—उनके बीच में ही खाना-पीना कर लेते थे। उनमें से कुछ को हम सबका एक साथ खान-पान शायद पसंद न पड़ता हो, पर किसी ने खुलकर इसका विरोध न किया, न इसकी टीका-टिप्पणी ही हमारे सुनने मे आई। लोगों ने शायद मान लिया कि यह साधुओं की एक जमात है जिसमे सब लोग एक साथ बैठकर खा लेते है !

गया-कांग्रेस मे जो स्वयंसेवक काम करने के लिए आये उनमें से अधिकांश गाँव के ही लोग थे। वे अपने साथ खान-पान के सभी बन्धनो को लाये थे। वे ऐसा प्रबन्ध चाहते थे जिसमे उनको अपने जातीय नियमो का उल्लघन न करना पड़े। इसलिए, आरम्भ मे उनके लिए ब्राह्मण रेसोइयों का प्रबंध करना पड़ा। उनकी संख्या बहुत थी। उनलोगो के लिए इतने रसोइये खाना बना तो सकते थे, पर सबको परस नही सकते थे। एक-दो बार के भोजन के बाद ही चन्द स्वयंसेवकों ने देख लिया कि इससे काम नही चलेगा। उन्होंने आपस मे ही रसोई परसना शुरू किया। एक-दो जून तो केवल ब्राह्मणो ने ही परसा। उससे भी काम न चला तो दूसरी जाति के लोग भी परसने लग गये। दो-तीन ही दिनों के अन्दर सब बन्धन उठ गये; सब-के-सब एक-दूसरे का छुआ भात-दाल खाने लग गये ! इसके बाद जहाँ-कही काग्रेसवालों की सभा हो, विहार मे, जाति-भेद करके खाने का प्रवन्ध नही होता था; सब एक साथ भोजन करते थे।

जब महात्माजी ने अस्पृश्यता दूर करने की बात उठाई, तो कांग्रेस के जल्सों में एक साथ सबका बैठना तो होता ही, एक साथ भोजन भी होने लगा। थोड़े ही दिनों मे काग्रेस के लोगों मे खान-पान का भेद भी उठ गया। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अस्पृश्यता दूर हो गई। अभी तक वह पूरी तरह गई नही है। पर इसमें कोई सन्देह नही कि उन दिनो मे ही इसका बन्धन ढीला पड़ने लग गया था। फिर आहिस्ता-आहिस्ता करके अधिकाधिक ढिलाव पड़ता गया।

महात्माजी ने एक जाति के लोगो के साथ दूसरी जाति के लोगो के विवाह-विधान मे भी परिवर्तन कर दिया। स्वयं तो वह जन्म से वैश्य थे, पर उनके सुपुत्र श्रीदेवदास गांधी का विवाह उच्च कोटि के ब्राह्मण श्रीराजगोपालाचार्य की सुपुत्री लक्ष्मी के साथ हुआ। इस तरह की और भी बहुत-सी शादियाँ हुई। कुछ दिनो के बाद तो उन्होने हरिजनो के साथ भी विवाह-सम्बन्ध करने पर जोर देना शुरू किया। अपने अन्तिम दिनो मे तो उन्होंने एक नियम-सा बना रखा था कि वह ऐसी ही शादी के उत्सव में शरीक हो सकेंगे जिसमें एक पक्ष सवर्ण और दूसरा पक्ष हरिजन हो। यो तो वह विवाहोत्सव में शायद ही कही आते-जाते थे; पर आश्रम में आश्रम-वासियों अथवा उनके सम्बन्धियों का जब विवाह हुआ करता तब उसमे वह शरीक हुआ करते थे। इन विवाहों में केवल जाति-बन्धन ही नही टूटता, बल्कि विवाह की पद्धति और रीति भी बहुत बदल जाती।

हमारे समाज में विवाह में बहुत धूम-धाम हुआ करता है। पैसे भी बहुत खर्च हुआ करते है। विवाह की पद्धति मे बहुत करके संस्कृत के मंत्र ही व्यवहार मे लाये जाते है, जिनके अर्थ को वर-वधू नही समझते, बिना समझे ही पडित के कहने पर दुहरा दिया करते है ! महात्मा जी ने मंत्रों का अर्थ मातृभाषा में बता देने की रीति चलाई; मंत्रों के भी अनावश्यक भागो को छोड़कर बहुत सक्षिप्त कर दिया। बरात, जुलूस, भोज इत्यादि सब उठा दिये गये। सारा काम चन्द मिनटों के अन्दर ही समाप्त करा दिया जाता, जिसमे खर्च नही के बराबर पड़ता। यद्यपि आज भी शादियों में पुरानी प्रथा बहुत जारी है तथापि इसमें सन्देह नही कि सभी जगहो में किसी-न-किसी रूप में सुधार होने लगा है। इस प्रकार, वर्ण-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था में भी महात्माजी ने उथल-पुथल मचा दी। इसका असर बहुत दूर तक गया है; पर अभी काफी दूर तक नहीं पहुँचा है।

महात्माजी का विचार विधवा-विवाह के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं था; क्योकि इसका मौका शायद कभी नही आया था। एक घटना बिहार-यात्रा में हुई, जहाँ उनके विचार स्पष्ट हो गये। आरा नगर के नजदीक जैनो का एक विधवा-आश्रम है, जहाँ जैन विधवाएँ रहती है। वहाँ उनकी शिक्षा इत्यादि का भी प्रबन्ध किया जाता है। महात्माजी जहाँ-कहीं जाते थे, लोग सभी सार्वजनिक संस्थाओं में उनको ले जाने का प्रयत्न करते थे। सभी संस्थाओं को तो वे नही देख सकते थे, पर इस संस्था में वह गये। वहाँ दस-ग्यारह वर्ष की एक विधवा बच्ची प्रणाम करने आई ! उसको देखकर उन्होने पूछा, क्या यह भी विधवा है ? जब उनसे कहा गया कि यह भी विधवा है, इसको इसी अवस्था में अपनी सारी जिन्दगी बितानी पड़ेगी, तो उनकी आँखों में आँसू आ गये ! तब, उसके बाद, उन्होनें साफ-साफ लिखा कि विधवाओं को जबरदस्ती विधवा रखना ठीक नहीं है—जो विवाह करना चाहें उनका विवाह होने देना चाहिए। कुछ दिनो के बाद तो उन्होने और भी अधिक जोर दिया; कहा कि कोई विधुर अगर विवाह करना चाहे तो उसको विधवा के साथ ही करना चाहिए। यद्यपि आज भी बहुत करके विधवाओं के विवाह नही होते तथापि इसमें सन्देह नही कि अब विधवा-विवाह उतना बुरा नही माना जाता जितना पहले समाज इसे मानता था।

महात्माजी ने बिहार मे जाकर पर्दा-प्रथा को भयंकर रूप में देखा। गुजरात और दक्षिण मे पर्दा बहुत कम है। मेरा विचार है कि बिहार में जितना कड़ा पर्दा है उतना शायद और किसी दूसरे प्रान्त में नहीं है। चम्पारन मे 'बा' जब पहुँची, फिर कुछ दिनों के बाद पाठशालाओं के खुलने पर गुजरात और महाराष्ट्र की कुछ स्त्रियाँ भी पहुँचीं, जो घूम-घूमकर काम करने लगीं—विशेषकर स्त्रियों के बीच में, तभी से लोगों की आँखें खुलने लगी। गया-कांग्रेस के समय स्त्रियों के लिए खास स्थान बनाया गया था, जहाँ पर्दे में रहकर वे सब लोगों को देख और सब भाषणों को सुन सकती थी। बाहर से सभी प्रतिनिधियों के साथ बहुत स्त्रियाँ आई थी। पहले दिन तो शहर की और बाहर की सब स्त्रियाँ पर्दे के अन्दर ही बैठीं। उन स्त्रियो के लिए भी, जो पर्दे से

बाहर बैठना चाहती थीं, एक खास स्थान रख दिया गया था। वहाँ बहुत थोड़ी स्त्रियाँ, खासकर जो दक्षिण के प्रान्तों से आई थी, पहले दिन बैठी। पर आहिस्ता-आहिस्ता कुछ पर्दावाली स्त्रियां भी हिम्मत करके वहां आ बैठी। दूसरे-तीसरे दिन तो यह हुआ कि पर्दावाला स्थान बिल्कुल खाली हो गया और खुला हुआ स्थान भर गया!

हमने देखा कि हमारे यहाँ (बिहार) की स्त्रियाँ उनलोगो से ही पर्दा रखती है जिनको वे पहचानती है अथवा जो उनके घरवालो को जानते है अथवा जिनके सम्बन्ध में उनको यह शका रहती है कि ये शायद उन्हे भी न पहचान ले। इसी वजह से मेले मे अथवा गंगा-स्नान के समय प्रायः सभी घरो की स्त्रियाँ जाती है, क्योंकि वहाँ भीड़ में किसी को जानने-पहचानने का मौका कम रहता है। इसी नीति के कारण, पहले दिन गया मे सब-के-सब पर्दे मे बैठी। पर जब वे जान गई कि भीड़ काफी है और पहचाने जाने का डर कम है, तो बेधड़क आकर खुले स्थानो में बैठ गई!

महात्माजी जहाँ-कही जाते, स्त्रियों की सभा अलग की जाती; क्योंकि सार्वजनिक सभा में वे नहीं आना चाहती अथवा अलग सभा मे महात्माजी का दर्शन उनको अधिक सुविधा से मिल सकता था। उनके पास स्त्रियाँ पर्दा नहीं करती थी। इसलिए, चाहे वह कांग्रेस के काम से या चरखा-संघ के लिए पैसे जमा करने जहाँ-कही जाते, स्त्रियों की सभा होती ही। स्त्रियाँ अपने गहने उतार-उतारकर उनको देती। इस तरह, बहुत गहने जमा हो जाते जो बेच दिये जाते।

बिहार में, कुछ दिनों के बाद, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद के नेतृत्व में, एक सभा हुई, जिसका उद्देश्य पर्दा-निवारण था। वह संस्था कुछ दिनो तक काम करती रही। अब तो कोई भी सभा हो, उसमें स्त्रियो का संख्या काफी होती है। यद्यपि आज भी यह नही कहा जा सकता कि गुजरात, महाराष्ट्र अथवा दक्षिण के और प्रान्तों की तरह बिहार में भी पर्दा उठ गया है, तो भी बहुत करके यह ढीला पड़ गया है; अगर कोई स्त्री हिम्मत करके पर्दे के बाहर आ जाती है तो बुरा नही माना जाता।

साबरमती-आश्रम में जो स्त्रियाँ रहती थी उनको हर तरह की आजादी थी। वैसी ही आजादी थी जैसी पुरुषों को। आश्रम में किसी बात पर राय ली जाती तो स्त्रियाँ भी उसी तरह आजादी के साथ राय देती जिस तरह पुरुष। वे काम भी वैसे ही करती जैसे पुरुष। उन दिनो विशेषकर चरखे का ही काम होता था। उसमे वे पूरा भाग लेती। इस तरह, स्त्रियों में महात्माजी ने एक अद्भुत जागृति पैदा कर दी। बाद जब कही सत्याग्रह का मौका आया, स्त्रियों ने उसमे निर्भीकता-पूर्वक वैसा ही भाग लिया जैसा पुरुषों ने। बारडोली के सत्याग्रह में स्त्रियों ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया। उन्होंने अपनी सगठन-शक्ति का भी परिचय दिया। इस देश मे सहनशीलता स्त्रियों का धर्म-सा बन गया है। अतः सत्याग्रह के कष्टों को सह लेना उनके लिए पुरुषों से भी अधिक स्वाभाविक था। १९३० में महात्माजी ने जब देशव्यापी सत्याग्रह आरम्भ किया तब उन्होंने विशेषकर शराबबन्दी का काम स्त्रियों के जिम्मे दिया। यह काम कठिन था, खतरे से खाली न था; क्योंकि इसमे नशाखोरो से मुकाबला होता,

जो बहुतेरा क्रूर स्वभाव के होते है—होश-हवास तो शायद ही किसी में होता है, इसलिए वे कब क्या कर बैठते, कहना कठिन है। पर इस काम को बहुत ही निर्भीकता-पूर्वक बहुत स्त्रियो ने किया। इसका फल यह हुआ कि शराब की दूकाने बन्द हो गई। ग्राहकों के अभाव मे बहुतो की बिक्री भी बहुत कम हो गई। कुछ शराबखोरो ने तो शराबखोरी भी छोड़ दी। पर यह कहना कठिन है कि कितने लाग होंगे जो इस तरह सुधर गये।

१९३० का जिक्र है। विदेशी कपड़े के बहिष्कार मे भी स्त्रियों को बहुत जगहों में सहायता देनी पड़ी। उस समय यह प्रयत्न था कि विदेशी कपड़े की बिक्री बन्द हो जाय, विदेशी कपड़े का आना भी रुक जाय—जो कपड़ा देश मे था उसकी अगर बिक्री रुक जाय तो व्यापारी विदेश से कपड़ा नही मँगवावेगे; पर उसकी बिक्री अगर जारी रहे तो विदेश से उसका आना भी नही रुकेगा। इसलिए यह सोचा गया कि जो भी विदेशी कपडा दूकानो पर है वह गाँठों मे बँधवा कर रखवा दिया जाय। कुछ व्यापारी तो अपनी खुशी से राजी हो गये; उन्होने खुद अपने माल को गाँठो मे बाँध कर उनपर कांग्रेस की मुहर लगवा दी। सोचा गया था कि जब यह काम पूरा हो जायगा और कपडे की बिक्री रुक जायगी तब इन गाँठो को किसी दूसरे देश में भेजकर कपडा बेच दिया जायगा जिसमें व्यापारियो का भी नुकसान न हो।

बिहार मे स्त्रियों ने विदेशी कपड़े की दूकानो पर पहरा देने का काम किया। जिस दूकान पर विदेशी कपड़ा होता उसके सामने एक-दो स्त्री जाकर खड़ी हो जाती; अगर कोई ग्राहक आता तो उन्हे देखते ही वापस चला जाता। दूकानदार भी बहुत शरमा जाते, इन स्त्रियों को खातिरदारी के साथ बिठाते, हर तरह से इनके साथ अच्छा व्यवहार करते। चन्द दिनो के अन्दर ही बिहार की सभी कपड़े की मडियो में विदेशी कपड़ों की गाँठें बँध गई, उन पर काग्रेस की मुहर भी लग गई। यह बहुत करके स्त्रियो के ही कारण हुआ। जो स्त्रियाँ दूकानों पर पहरा देती उनमे कुछ ऐसी भी होती जो पर्दे के बाहर कभी नही निकली थी—जिन्होने इस तरह का काम कभी नहीं किया था। उनसे कह दिया जाता कि कोई ग्राहक यदि आवे तो उसके सामने हाथ जोड़ कर खड़ी हो जाना, कहना कि आप विदेशी कपड़े न खरीदें, आप स्वतत्रता के सग्राम में मदद करें, महात्मा गाधी की आज्ञा माने। जैसा पहले कहा गया है, बहुतेरे ग्राहक उनको देखकर ही चले जाते, कुछ लोग कहने पर जाते, ऐसे थोडे ही होते जो कहने के बाद भी जिद करते। दूकानदारो की भी तो सहायता थी ही; पर उन्होने यह भी देख लिया कि जबतक स्त्रियाँ खड़ी रहेंगी, दूकान खुली रखने मे कोई लाभ नही है; क्योंकि बिक्री होती नही, केवल बदनामी ही मिलती है।

एक दिन का जिक्र है, एक स्त्री एक दूकान पर पहरा देने लगी। वह अपने घर से कभी बाहर नही निकली थी। उसको यह पता न था कि दूकान से उसका घर किधर और किस मुहल्ले मे था। जो स्त्रियाँ पहरा देने मे शरीक होना चाहती उनको कांग्रेस के कार्यकर्त्ता उनके घरों से पैदल या सवारी पर दूकान तक पहुँचा देते; फिर जब

सन्ध्या के बाद काम खतम होता तो उनके घर वापस पहुँचा देते। उस दिन, गलती से, उस लड़की को घर पहुँचाना कार्यकर्त्ता भूल गया। लड़की बेचारी वही खडी रही। इत्तिफाक से एक सज्जन अपनी स्त्री को वापस ले जाने के लिए अपनी मोटर पर जा रहे थे। उनलोगो को आश्चर्य हुआ कि लड़की अबतक क्यो खड़ी है। उन्होने पूछा उससे, तो उसने कहा कि उसे घर पहुँचाने के लिये अभी तक कोई नही आया है। उन्होने समझ लिया कि यह गलती हो गई है। उसे उन्होने अपनी गाड़ी पर बिठा लिया। पर यह कठिनाई हुई कि वह अपने घर का पता नही बता सकती थी! उसे पहुँचावे तो कहाँ पहुँचावें! जिस सड़क पर ले जायँ, वह कहे कि इसी पर उसका घर है! पर जिस मकान के सामने वह रुक जायँ, वह कह दे कि यह मकान मेरा नही है! बिहार में यह प्रचलित है कि स्त्रियाँ पति का नाम नही लेती; इसलिए वह पति का नाम भी नही बता सकती थी। बहुत मुश्किल के बाद उसने पति का नाम कागज पर लिखकर दिया। तब कही तलाश करके लोगो ने उसे उसके घर पहुँचाया।

इस तरह, बड़े-से-बडे घरों की स्त्रियाँ इस काम मे लगी। इसलिए यह काम बहुत तेजी के साथ पूरा हुआ। बिक्री रुक जाते ही विदेशो से कपड़े की आमदनी रुक गई। उस वर्ष, कपड़े की आमद के लिए, हिन्दुस्तान और विदेश के व्यापारियों मे, जो सट्टे या मुआहिदा हुआ करते वे नही हुए। इसका असर हिन्दुस्तान मे ही नही, विदेशो मे भी—जिनमे मुख्य इगलैंड था—काफी हुआ।

१९२५ से १९२८ तक के साल एक प्रकार से बडे महत्त्व के थे, क्योकि इस बीच मे महात्माजी ने अपनी शक्ति रचनात्मक कार्यक्रम के चलाने मे लगाई। वह राजनीतिक क्षेत्र से एक प्रकार से अलग रहे: स्वराज्य-पार्टी ही काग्रेस की तरफ से राजनीति का काम करती रही। महात्माजी काग्रेस के अधिवेशनो मे तथा अखिल-भारतीय कमिटी की बैठकों मे जाते थे। जहाँ मुनासिब समझते थे वहाँ अपनी राय दे दिया करते थे। किन्तु अन्तिम फैसला स्वराज्य-पार्टी पर ही छोड़ दिया करते थे। प० मोतीलालजी सभी महत्त्व के प्रश्नों पर महात्माजी की राय जरूर लिया करते थे। इस तरह, जो कटुता कौसिल-प्रवेश के सम्बन्ध में पैदा हो गई थी वह दूर हो गई; क्योंकि दोनो पक्ष सच्चे दिल से काम कर रहे थे।

१९२६ मे असेम्बली का चुनाव हुआ। उसके बाद स्वराज्य-पार्टी, चुनाव मे अधिक सफलता होने के कारण, कुछ और ज्यादा काम कर सकी। पर आपस में फूट भी पैदा हो गई थी। १९२० के विधान मे एक धारा थी जिसमें यह कहा गया था कि दस वर्षो तक विधान के अनुसार काम होने के बाद पार्लियामेट एक कमीशन मुकर्रर करेगा, जो इस बात की जाँच करेगा कि विधान किस तरह से काम में लाया गया है और आगे के लिए वैधानिक सुधार क्या किया जा सकता है। केन्द्रीय असेम्बली मे स्वराज्य-पार्टी का एक मुख्य प्रस्ताव यह था कि दस वर्षो तक न टालकर, और एक कमीशन न मुकर्रर कर, ब्रिटिश गवर्नमेट को अपने प्रतिनिधियों और भारत के प्रतिनिधियों की एक गोलमेज-कान्फरेंस करनी चाहिए, जो वैधानिक सुधार के सम्बन्ध मे समझौते के रूप मे फैसला

करे। १९२७ में जब मद्रास मे डाक्टर अन्सारी के सभापतित्व में काग्रेस हुई तो उसने एक कमिटी बनाई, जिसके जिम्मे यह काम सुपुर्द किया कि वह दूसरे विचारों और दलों के लोगो के साथ मिलकर एक विधान बनावे। उसी कमिटी ने आगे चलकर पं० मोतीलालजी के सभापतित्व में, और-और दलों के लोगो के साथ मिलकर, एक विधान का खाका तैयार किया। वही नेहरू-कमिटी-रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उधर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भी घोषणा कर दी कि उसने १९२० के विधान के अनुसार एक कमीशन, जिसके सभापति सर जोन साइमन नियुक्त किये गये, मुकर्रर कर दिया है। इस कमीशन में एक भी हिन्दुस्तानी नही था। इसलिए, हिन्दुस्तान के लोगो के दिल मे, चाहे वे किसी भी दल के थे, बहुत रंज और क्षोभ पैदा हुआ। सबने ब्रिटिश गवर्नमेंट की इस कार्यवाही की केवल निन्दा ही नही की, बल्कि सब यह भी सोचने लगे कि इसके प्रतिकार में कुछ करना चाहिए। नरमदल-लिबरलपार्टी के लोगो ने काग्रेस से अलग होकर, १९२० के विधान के अनुसार, मंत्रिमंडलो में भाग लिया था। चुनाव में काग्रेस के भाग न लेने से उनके लिए १९२० के चुनाव में रास्ता साफ था। १९२३ मे भी एक प्रकार से उन्हे खुला ही मैदान मिला था। उनमें से प्रमुख लोग—जैसे बगाल में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, युक्तप्रान्त में श्री चिन्तामणि आदि—मत्रिमण्डल में शरीक हुए थे; पर इनका भी अनुभव अन्त में कुछ बहुत अच्छा नही हुआ था।

शुरू मे जब असहयोग का जोर था तब नरम दल के लोगो की काफी खातिरदारी हुई थी! पर जब असहयोग कमजोर हो गया तब फिर उनकी भी पूछ कम हो गई! यहाँ तक कि श्री चिन्तामणि को इस्तीफा देकर हट जाना पड़ा। इसलिए, उस दल के लोग भी पहले से ही कुछ असन्तुष्ट थे। जब साइमन-कमीशन के मेम्बरो के नाम घोषित किये गये ओर उनमे एक भी भारतवासी का नाम नही पाया गया, तब वह असन्तोष और भी बढ गया। इसलिए, १९२८ मे, एक तरफ तो नेहरू-कमिटी विधान बनाने मे लग गई और इस काम मे उसको सभी दल के लोगो से सहायता मिली, तथा दूसरी ओर यह सोचा जाने लगा कि भारत के प्रति यह जो अन्याय और अपमान का व्यवहार साइमन-कमीशन की नियुक्ति के रूप मे किया गया है उसका किस प्रकार से प्रतिकार किया जाय। अनेकानेक स्थानो मे सभाएँ हुईं जिनमें काग्रेस, लिबरल-दल, खिलाफत-कमिटी तथा दूसरे विचार के सभी लोग शरीक हुए। सबने मिलकर कमीशन की नियुक्ति की निन्दा की। मुझे याद है कि जब पटना मे सभा हुई तो उसमे बहुत दिनो के बाद काग्रेस के लोग और सर अली इमाम-जैसे दूसरे दल के भी लोग शरीक हुए थे। उसमे सर्वसम्मति से निन्दा के प्रस्ताव पास किये गये थे। हम लोगों को इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई थी कि अबतक जो लोग हम से अलग थे, वे फिर एक साथ मिलकर ब्रिटिश गवर्नमेंट का मुकाबला करेंगे। हम यह जानते थे कि असहयोग और सत्याग्रह के कार्यक्रम को वे लोग नहीं मानेंगे, पर यह जाहिर था कि हम अगर उनसे आगे बढकर कुछ अपनी ओर से करेंगे तो उसका वे विरोध नही करेंगे। इस तरह एक नया वातावरण पैदा हो गया।

महात्मा गाधीजी जिस चीज की प्रतीक्षा कर रहे थे वह नजदीक आती दीखी।

१९२८ का वर्ष प्रतीक्षा और तैयारी का वर्ष रहा। प्रतीक्षा इस बात की कि देखें हम सब मिलकर इस मुकाबले के लिए क्या कार्यक्रम निकाल सकते हैं, और तैयारी इस बात की कि हम सब मिलकर अपनी ओर से एक विधान तैयार कर ले जिसको मंजूर करने के लिए कमीशन वाध्य किया जा सके। विधान की तैयारी मे सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि हिन्दू-मुसलिम झगड़ों और दूसरी अल्प-संख्यक जातियो मे विश्वास तथा भरोसा पैदा करने के लिए विधान में क्या-क्या रखा जाय जिससे वे संतुष्ट हो जायें। नेहरू-कमिटी ने इस प्रयत्न मे बहुत-कुछ सफलता पाई। कुछ बाते ऐसी कही गई थी, जिनपर समझौता नही हो सका; पर तो भी आशा की जाती थी कि जब कमिटी की रिपोर्ट सब दलो के प्रतिनिधियो के सम्मेलन मे पेश की जायगी तो उन विषयो पर कोई-न-कोई समझौता हो जायगा।

देश मे नई जागृति हो गई थी। इसका एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण चिह्न बारडोली के सत्याग्रह के रूप मे प्रगट हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि १९२१ के अन्त तथा १९२२ के आरम्भ मे महात्माजी ने बारडोली को ही स्वराज्य के लिए सत्याग्रह करने की इजाजत दी थी और स्वयं उस सत्याग्रह का नेतृत्व करने को तैयार थे; यहाँ तक कि वायसराय को पत्र भी लिख चुके थे; पर चौराचौरी-काड के कारण उसे रोक देना पड़ा था। १९२८ मे गवर्नमेंट से, फसल मारी जाने के कारण और माल मे माफी न मिलने की वजह से, बार-डोली-ताल्लुका के लोगों का मतभेद हो गया। जब गवर्नमेंट ने उनकी माँग पूरी नहीं की तब वहाँ के लोगों ने निश्चय किया कि सत्याग्रह किया जाय और माल न दिया जाय। सरदार वल्लभ भाई ने बड़ी दृढ़ता और चातुरी के साथ इस सत्याग्रह का नेतृत्व किया। गवर्नमेंट की ओर से जितना जोर लगाया जा सकता था, लगाया गया, पर वह कुछ न कर सकी; अन्त मे उसे समझौता करना पड़ा। इस सफलता के कारण सारे देश मे उत्साह की लहरे उमड़ आई। अब, सब लोगो के दिल में यह विचार उठने लगा कि पूरा प्रयत्न अगर किया जाय तो सारे देश मे बारडोली-जैसा ही सत्याग्रह चल सकता है ओर इसी तरह सफलता भी प्राप्त हो सकती है।

अबतक सत्याग्रह केवल विचार मे ही रहा करता था। इतने बडे पैमाने पर उसका कोई प्रयोग नही हुआ था। यो तो खेड़ा मे, बोरसद मे, नागपुर मे छोटे-मोटे सत्याग्रह सफलता-पूर्वक हो चुके थे; पर वहाँ उद्देश्य परिमित था—जिन लोगो को उनमें भाग लेना पड़ा था उनकी सख्या भी सीमित थी। पर बारडोली मे एक पूरा ताल्लुका के लोगो ने उसमे भाग लिया और सबको अनेक कष्ट सहने पडे। आसपास के लोग भी, जिनमे बड़ौदा-राज्य के गाँव थे, उन लोगों की सहायता करते रहे, यो तो सारे देश की टक-टकी बारडोली की ओर लगी थी। उसकी सफलता ने यह प्रमाणित कर दिया कि जनता यदि अपनी ओर से डटी रहे, कही भी बलवा-फसाद न करे, तो ब्रिटिश गवर्नमेंट को हार माननी ही पड़ेगी। किसी विदेशी ने कहा था कि महात्मा गाधी ने अपने लोगों के हाथों से हथियार छीनकर ब्रिटिश का हथियार भी छीन लिया—अर्थात् अपने लोगो को अहिसात्मक बनाकर ब्रिटिश गवर्नमेंट के हिसक हथियार को भी बेकार बना दिया! बात

भी सच थी। अगर हम इस चीज को पूरी तरह समझ जाते तो केवल स्वराज्य ही हमको और जल्द न मिल गया होता, बल्कि हममे और भी इतनी शक्ति आ गई होती कि हम सारे ससार का मुकाबला करने के लिए हमेशा तैयार रहते। पर वह कुछ अधूरा रह गया! इसलिए, हमने स्वराज्य तो हासिल कर लिया; पर उसकी रक्षा के लिए हमे आज अपनी फौज पर भरोसा करना पड़ रहा है!

सोलहवाँ अध्याय

१९२८ में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता मे हुआ। पं० मोतीलाल नेहरू सभापति थे। कांग्रेस के साथ-ही-साथ एक सर्वदल-सम्मेलन भी हुआ। उसके सामने नेहरू-कमिटी की रिपोर्ट पेश की गई। इसकी आवश्यकता उस समय इसलिए और अधिक हो गई थी कि साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान में पहुँच गया था। अतः यह जरूरी था कि हम दिखा सकें कि हिन्दुस्तान के सभी लोग एकमत हो गये हैं—उनकी माँगों को ब्रिटिश गवर्नमेंट को मंजूर करना ही चाहिए। दो बातों पर मत-भेद था। एक तो यह कि ब्रिटिश गवर्नमेंट को अविलम्ब भारत को डोमिनियन-स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) दे देना चाहिए। इस सम्बन्ध में कांग्रेस के अन्दर ही दो मत थे। कुछ लोगों का—जिनमें श्री श्रीनिवास आयंगर, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्रीसुभाषचन्द्र बोस आदि थे—विचार था कि हमको पूर्ण स्वतंत्रता की बात करनी चाहिए, ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्दर डोमिनियन-स्टेटस की बात नही करनी चाहिए। दूसरे लोग डोमिनियन-स्टेटस से भी सतुष्ट हो जाते, यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट उसे तुरन्त मान लेती। दूसरी बात ऐसी थी जिसके सम्बन्ध में मतभेद दूसरे सम्प्रदायों के साथ था; विशेष करके हिन्दू और मुसलमानों का मतभेद। उस सम्मेलन में अछूत वर्गो का कोई विशेष स्थान देखने में नही आया और न उनकी ओर से कोई खास माँग ही पेश की गई थी। कांग्रेस-जनों और दूसरे सभी हिन्दुओं का खयाल था कि वे (अछूत) हिन्दुओ मे ही हैं, उनके लिए किसी विशेष अधिकार की बात नहीं है। हाँ, सिक्ख अपनी ओर से जरूर विशेष अधिकारों के दावादार थे।

सम्मेलन में डोमिनियन-स्टेटस के सम्बन्ध मे कोई जबरदस्त मतभेद नही हुआ—यद्यपि वहाँ भी पूर्ण स्वतंत्रता के हामियों ने बात उठाई तथापि यह बात साम्प्रदायिक झगड़ों के मुकाबले मे सम्मेलन की तह मे पड़ गई। बहुत करके साम्प्रदायिक झगड़ों के कारण ही सम्मेलन असफल हो गया। अब अधिकांश लोग कांग्रेस से झगड़ा तय करने के पक्ष में थे। मुसलमानों की माँगे भी कुछ ऐसी न थी कि अगर वे मान ली जाती तो देश का कोई बहुत बड़ा नुकसान होता। यह किसी ने शायद उस समय नहीं समझा कि उनके न मानने का नतीजा देश का बँटवारा होगा! यह मानना ही पड़ेगा, यदि

उस समय महात्माजी की बातें लोग मान लिये होते तो भारत का इतिहास शायद दूसरा होता। पर हमारे लोगो ने यह नही समझा कि ब्रिटिश की कूटनीति, अपनी सत्ता कायम रखने के लिए, हममे फूट डालकर लड़ाती रहेगी। हम तो यह माने बैठे थे कि हम जो कहते है वह अगर न्यायोचित है तो ब्रिटिश गवर्नमेंट को उसे मानना ही पड़ेगा—अर्थात् हमारे लोगो का विश्वास ब्रिटिश पर अधिक था; वे आशा करते थे कि हिन्दू और मुसलमान के दरम्यान वह इंसाफ करेंगे।

मुसलमान एक प्रकार से सम्मेलन के बाद ही, बहुत करके कांग्रेस से अलग होकर, अपना अलग संगठन करने लगे। उनमे से कुछ तो, जिनमे मि० जिन्ना भी थे, कुछ देर तक इस प्रयत्न में रहे कि कोई भी रास्ता निकाला जाय। पर कुछ दिनों के बाद सब लोगो ने एकमत होकर सर्वदल-मुसलिम-कान्फ्रेंस की स्थापना कर दी !

कांग्रेस के अन्दर डोमिनियन-स्टेटस के लिए जो मतभेद उठ खड़ा हुआ था उसके बारे मे भी महात्माजी ने बहुत प्रयत्न किया कि कोई समझौता हो जाय। पर अन्त मे यह तय पाया कि एक वर्ष के भीतर यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट डोमिनियन-स्टेटस दे देगी तो हम उसे मंजूर कर लेंगे; पर यदि उसने इस माँग को ३१ दिसम्बर १९२९ तक मंजूर न किया तो कॉंग्रेस अपना ध्येय—जो उस समय तक स्वराज्य-प्राप्ति था—बदल देगी। 'स्वराज्य' शब्द ऐसा था कि जिसके दोनो अर्थ लग सकते थे—डोमिनियन-स्टेटस तथा पूर्ण स्वतंत्रता; क्योंकि डोमिनियन-स्टेटस में भी अपने कारबार में प्रत्येक डोमिनियन (उपनिवेश) स्वतंत्र ही समझा जाता था और उसका अर्थ पूर्ण स्वतन्त्रता भी हो सकता था। इसलिए इस निश्चय का अर्थ यह होता था कि १९२९ में यदि हिन्दुस्तान डोमिनियन न बना तो कांग्रेस अपना ध्येय 'पूर्ण स्वतंत्रता' घोषित कर देगी, फिर उसके बाद डोमिनियन स्टेटस मिले भी तो उसे वह मंजूर नही करेगी।

महात्माजी का यह एक सिद्धान्त था कि वह कभी किसी बात को बढ़ाकर नही कहते थे। जो कुछ कहते थे, उसका प्रत्येक शब्द तुला हुआ होता और गंभीर अर्थ रखता था। विशेष करके प्रस्तावों में वह एक शब्द का भी केवल शृङ्गार के लिए प्रयोग नही करते थे। इसलिए, जब उन्होंने कहा कि एक वर्ष के अन्दर अगर डोमिनियन-स्टेटस न मिल जाय तो वह पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा करेंगे, तो उन्होंने सोच लिया था कि वह ३१ दिसम्बर १९२९ तक या तो डोमिनियन-स्टेटस लेकर रहेंगे या नही तो पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर ही देंगे। सब लोगों ने इस समझौते को मान लिया। समझा गया था कि यह सर्व-सम्मति से स्वीकृत होगा। पर ऐसा हुआ नही। पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्री श्रीनिवास आयंगर तो समझौते पर कायम रहे; पर श्रीसुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस के अधिवेशन में उसका विरोध किया। इस तरह, वह प्रस्ताव विरोध के साथ पास हुआ। महात्माजी अपनी बात पर कायम रहे। जब ३१ दिसम्बर १९२९ आया और हिन्दुस्तान को डोमिनियन स्टेटस नहीं मिला, तो कांग्रेस के ध्येय को बदलकर पूर्ण स्वतंत्रता वाला प्रस्ताव उन्होंने लाहौर-कांग्रेस में उपस्थित किया। वहाँ वह मंजूर भी हुआ।

१९२९ का साल तैयारी का साल रहा। गांधीजी ने फिर से कांग्रेस का नेतृत्व पूरी तरह अपने हाथों में ले लिया; क्योकि यह स्पष्ट था कि कांग्रेस केवल अपना ध्येय बदलकर ही सतुष्ट न रहेगी, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए उसे कदम भी उठाना ही पड़ेगा; अतः देश को उसके लिए तैयार हो जाना चाहिए। महात्माजी की तैयारी तो रचनात्मक काम द्वारा ही होती थी, इसलिए उन्होंने रचनात्मक काम पर फिर बहुत जोर दिया—विशेषकर खादी पर, जिसके अन्दर विदेशी-वस्तु-वहिष्कार और उसके स्थान पर खादी का प्रचार मुख्य अंग थे। उन्होने एक बार बहुत-से स्थानों का दौरा किया। जहाँ-तहाँ विदेशी वस्त्रों की होली जलवाई। उनको बर्मा-प्रान्त से निमत्रण आया था। वहाँ वह जा रहे थे। रास्ते में, कलकत्ता मे, ठहरना पड़ा था। वहाँ भी एक सार्वजनिक मैदान में विदेशी कपड़ों की होली की गई। इसके लिए उनपर मुकदमा चलाया गया। वहाँ के वकील-बैरिस्टरों का खयाल था कि मुकदमा नही चल सकता; क्योंकि इसमें कोई गैर-कानूनी काम नहीं किया गया है। महात्माजी ने यह पहले से ही कह रखा था कि हमलोग अभी सत्याग्रह नही करना चाहते हैं। इसलिए उन्होने अपने जानते जान-बूझकर किसी कानूनी आज्ञा की अवज्ञा नही की थी। मुकदमा पेश हुआ। उसमें बैरिस्टरों ने पैरवी की। अन्त में महात्माजी पर एक रुपया जुर्माना हुआ जिसको किसी ने दाखिल कर दिया। महात्माजी बर्मा से हो आये। अब सारे देश में इस बात की प्रतीक्षा होने लगी कि देखें, इस वर्ष के अन्त तक क्या होता है।

देश मे इस नई जागृति के कारणों में एक बड़ा कारण साइमन-कमीशन की नियुक्ति था। जब साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान में पहुँचा तो सब दलो के लोगो ने मिल-कर उसका वहिष्कार किया। कांग्रेस के, और कांग्रेस के बाहर के, सभी दलों के लोगो ने, कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियो को छोड़कर, उसके सामने जाने और कुछ कहने से इनकार कर दिया। कांग्रेस के लोगो ने इससे ज्यादा यह किया कि जहाँ-कही कमीशन पहुँचता वहाँ उसके विरुद्ध बडा प्रदर्शन होता, काले झण्डे के साथ कहा जाता कि 'साइमन वापस जाओ'। पुलिस भी अपनी ओर से चुप नही रहती, बहुत जगहो मे प्रदर्शन करनेवालो पर लाठियाँ चलाती, मार-पीट कर तितर-बितर करती। पंजाब मे लाला लाजपत राय पर लाठियाँ पड़ी जिसके फल-स्वरूप कुछ दिनों के बाद उनका स्वर्गवास हो गया। युक्त-प्रान्त मे भी पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि को लाठियाँ लगी। इस तरह बहुतेरे स्थानो में जहाँ-जहाँ कमीशन गया, बहुतो को मार-पीट सहनी पडी। इसका एक फल यह हुआ कि वहिष्कार जबरदस्त और सफल होता गया। केवल वे ही लोग, जो उन दिनों मंत्रिमंडल मे शरीक थे, कमीशन मे जो कुछ कहना-सुनना था, कह सके। स्वतन्त्र विचार का कोई भी आदमी, जिसकी बात मानने को जनता तैयार थी, कमीशन के सामने नही गया। महात्माजी ने तो कमीशन के वहिष्कार का समर्थन किया ही था।

बिहार में कोई दुर्घटना नही हुई। इसका कारण यह था कि वहाँ का पुलिस-इन्स-पेक्टर-जेनरल बहुत होशियार था। वह समझ गया था कि और जगहो की तरह मार-पीट करने से केवल बदनामी होगी, कोई दूसरा लाभ नही होगा। कमीशन के पहुँचने से एक-

दिन पहले ही उससे मेरी मुलाकात हुई। मैं तो नहीं जानता था कि उससे मेरी मुलाकात होगी; पर इत्तिफाक से डाक्टर सच्चिदानन्द सिनहा के घर पर—जहाँ पहले से वह मेरा इन्तजार कर रहा था—मैं चला गया। उसने कहा कि और जगहो में जैसा हुआ है वैसा वह पटना में होने देना नही चाहता था। मेरे कहने पर उसने मेरे साथ यह मान लिया कि एक तरीका स्वागत करनेवालों और वहिष्कार करनेवालों का आपस में लड़ाई न होने देने का यह होगा कि दोनों अलग-अलग रखे जायँ। मैंने कहा कि यद्यपि यह दिसम्बर का महीना है और सर्दी खूब पड़ रही है तथा जिस गाड़ी से कमीशन पटना में पहुँचेगा वह बहुत सवेरे पहुँचनेवाली है, तो भी कम-से-कम बीस हजार आदमी तो वहिष्कार के लिए स्टेशन पर पहुँचेंगे ही। पर वह शायद समझता था कि इतने आदमी नही आयेंगे; इसलिए उसने यह मान लिया कि सड़क के एक तरफ नजदीक में जो नया प्लेटफार्म कमीशन के लिए ही बनाया गया था, उधर ही स्वागत करने वाले रहेंगे और दूसरी तरफ वहिष्कार करनेवाले। हम तो जानते थे कि स्वागत करनेवाले बहुत कम होंगे और वहिष्कार करनेवाले बहुत ज्यादा। ऐसा ही हुआ भी। एक तरफ सौ-दो-सौ आदमी और दूसरी तरफ तीस-चालीस हजार! फिर वहीं पर मेरी मुलाकात इन्सपेक्टर-जेनरल से हुई। सब बातें शान्तिपूर्वक निभाये जाने पर उसने मुझे बधाई दी, कहा कि मैंने जो उससे बीस हजार आदमियो का वादा किया था वह मैंने पूरा किया; क्योंकि उससे कही अधिक लोग वहाँ पहुँचे थे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, १९२९ का साल तैयारी का साल था। ब्रिटिश गवर्नमेंट भी बिल्कुल चुप नही रही। लार्ड इरविन, जो वायसाराय थे, इंगलैंड गये। वहाँ से लौटकर उन्होंने घोषणा की कि वैधानिक सुधार के सम्बन्ध मे ब्रिटिश गवर्नमेंट की जो नीति रही है उसमे डोमिनियन-स्टेटस निहित है। पर यह बात साफ नही थी कि उसी वर्ष के अन्दर भारतवर्ष को डोमिनियन की हैसियत मिल जायगी। घोषणा का अर्थ लोग कई तरह से, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, लगाने लगे। महात्माजी ने सोचा कि इस तरह अपना अर्थ लगाने से कोई लाभ नही है, लार्ड इरविन से ही पूछ लेना चाहिए कि वह घोषणा कहाँ तक हमको ले जाती है। उधर कांग्रेस की तिथि भी नजदीक आने लग गई। महात्माजी, पंडित मोतीलाल नेहरू और मि० जिन्ना के साथ, लार्ड इरविन से मिले। उनके साथ वायसराय की जो बातें हुईं उनसे स्पष्ट हो गया कि डोमिनियन स्टेटस तुरत देने की बात नही है, वह आहिस्ता-आहिस्ता ही हो सकेगा। इस बीच मे कान्फरेंस इत्यादि के जरिये लोग बझाये रखे जायँगे! महात्माजी ने निश्चय कर लिया कि कलकत्ता के निश्चय के अनुसार पूर्ण स्वतंत्रता को अपना ध्येय बनाने के सिवा कांग्रेस के लिए दूसरा रास्ता नही रह गया है।

———

सत्रहवाँ-अध्याय

मै उस साल के नवम्बर में बर्मा गया। प्राय. दस-बारह दिनों तक वहाँ रहा। मेरे जाने के दो कारण थे। एक कारण तो यह कि मेरे मित्र—जिनके मुकदमे मे मै इंगलैंड गया था और जिनकी बहुत बड़ी जमींदारी बर्मा में थी जिसके लिए वह मुकदमा हुआ था—उन दिनो बर्मा में ही थे; उनका आग्रह था कि मै एक बार वहाँ जाऊँ। दूसरा कारण यह कि वहाँ दो-तीन जगहो मे, जिनमें यह जमीदारी भी एक थी, बिहारी किसान बड़ी सख्या मे बस गये है जिनमे से कुछ ने अपनी शिकायते मेरे पास पहुँचाई और मुझसे आग्रह किया कि मै स्वय वहाँ जाकर सब बातों को देख-सुन लेने पर अगर हो सके तो उनकी मदद करूँ।

वहाँ बिहारी किसानों के जाने का एक विशेष कारण हुआ था। जब ब्रिटिशो ने, उत्तर-बर्मा को उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थाश मे जीतकर, अपना राज्य कायम किया तो उन्होने इस बात की जरूरत समझी कि वहाँ जो बहुत गैर-आबाद पड़ी जमीन थी वह हिन्दुस्तान से किसानों को ले जाकर आबाद कराई जाय। जमीन बहुत थी। शायद यह भी खयाल था कि बर्मा के लोगो के बीच एक अच्छी तादाद मे हिन्दुस्तानी जो बसेगे तो बर्मा पर काबू रखना शायद कुछ आसान हो जाय। इस-लिए, उन्होने हिन्दुस्तान मे इस बात की घोषणा की कि हिन्दुस्तान मे जमीन की कमी महसूस हो रही है और वहाँ बर्मा मे बहुत जमीन यों ही पडी हुई है, अगर यहाँ के जमीदार अथवा दूसरे धनी लोग वहाँ जमीन लेकर यहाँ से हिन्दुस्तानियो को ले जाकर जमीन आबाद करावे तो उनको काफी मुनाफा होगा, और जो जाकर वहाँ बसेगे उनको भी बहुत अच्छी काफी जमीन मिल सकेगी, इसमें गवर्नमेंट भी हर तरह से मदद करेगी। इसी घोषणा पर हिन्दुस्तान के कुछ लोग वहाँ गये। उनलोगो को गवर्नमेंट से वहाँ जमीन मिली। कुछ तो वहाँ नही टिक सके, वापस चले आये; मगर कुछ लोग टिक गये। उनमें एक अंग्रेज नीलवर 'मिलन' था। उसने वहाँ २०-२५ हजार एकड़ जमीन ली। बिहार के शाहाबाद-जिले की तरफ से किसानों को ले जाकर उसी ने वहाँ बसाया था। कई लाख की सालाना आमदनी उस जमीदारी से उसको हो गई थी। उसी तरह मेरे मित्र रायबहादुर हरिहरप्रसाद के पिता रायबहादुर

जयप्रकाशलाल ने भी १५ हजार एकड़ जमीन ली, जिसको उनकी मृत्यु के बाद रायबहादुर हरिहर प्रसाद ने आबाद कराया था। जिस वक्त जमीन ली गई थी उस वक्त वहाँ घना जगल था जिसमे हाथी, बाघ इत्यादि जगली जानवर रहा करते थे। बड़ी मुश्किल और हिम्मत से आहिस्ता-आहिस्ता जमीन आबाद हो पाई थी। जिस समय मै गया हुआ था उस वक्त तक तो वहाँ आसपास मे भी कही जंगल का नाम-निशान तक न था। वहाँ के रहनेवाले, घर-बार, रहन-सहन और बोली भी, सब कुछ शाहाबाद की ही हो गई थी। वहाँ जाने पर, उन गाँवो को देखने पर तथा वहाँ के लोगों से मिलने पर यह नही मालूम होता था कि हम बर्मा में है।

मिस्टर मिलन की जमीदारी मे रैयतो की कुछ शिकायते थी। उन्होने मुझे बुलाया था कि मै तय करा दू। मै इन दोनो कारणो से वहाँ गया। पहले-पहल बर्मा को देखने का सुअवसर भी मिला। किसानों की तरफ से मैंने मिस्टर मिलन के मैनेजर से बाते की। सब शिकायते तो नही दूर हुई; पर उनको कुछ सहूलत जरूर मिली।

बर्मा के लोग बहुत धर्मावलम्बी है। वहाँ बौद्ध भिक्षुओं का, जिनको 'फूगी' कहते है, बडा मान है। उनकी एक बडी टोली, गया-काग्रेस के समय, ऊ उत्तमा के नेतृत्व मे, भारत आई थी। बर्मा मे जो राष्ट्रीय जागृति हुई थी, उसमे फूगियो का बडा हाथ था। वहाँ उस समय एक प्रमुख फूगी, ब्रिटिश गवर्नमेंट के विरुद्ध अनशन करके, मर गया था। उसका मृत शरीर, वहाँ की परिपाटी के अनुसार, लोगो के दर्शनो के लिए सुरक्षित रखा गया था। मैने भी दर्शन किया था।

मेरे ऊपर दो बातो की छाप पडी थी। एक तो यह कि बर्मा के साथ हमारा बहुत पुराना और घनिष्ठ सम्बन्ध है। ठीक मै नही कह सकता कि बर्मा मे बौद्ध धर्म का प्रचार कब और कैसे हुआ तथा किसने किया। पर आज भी वह धर्म वहाँ के लोगो मे बहुत जोरो से प्रचलित है—जीवित तथा जाग्रत है, जिसके चिह्न केवल बड-बड़ सुनहले बौद्ध मन्दिरो मे ही नही, बल्कि फूगियो के जीवन, आचरण और बर्मा-निवासियो की रहन-सहन मे पद-पद पर मिलते है। छोटे-छोटे बच्चो की शिक्षा बहुत करके इन फूगियो के हाथो मे ही है। यह एक बहुत ही मामूली दृश्य है कि अल्पवयस्क युवको की एक बडी जमात जुलूस की तरह प्रतिदिन देखी जा सकती है। ये फूगियो के नये चेले होते है, जो समय पाकर फूगी होगे और जो बचपन से ही उस जीवन के लिए तैयारी कर रहे है। दूसरी छाप यह पडी कि मैने देखा, भारतवर्ष ने यद्यपि कभी किसी दूसरे देश पर अपना राजनीतिक आधिपत्य जमाने के लिए आक्रमण नही किया तथापि उसका धार्मिक और नैतिक आधिपत्य ससार के बहुत बड़े हिस्से पर कायम हो गया, जो आज भी कायम है। वह आधिपत्य तलवार और शस्त्र द्वारा कायम नही किया गया था, बल्कि धर्म, सदाचार, सद्व्यवहार, प्रेम और शील की नीव पर स्थापित हुआ था। यही कारण है कि जब दूसरे प्रकार के साम्राज्य न जाने कितने हुए और टूट-फूट गये, तब भी यह साम्राज्य आज तक कायम है, बर्मा के लोग आज भी भारतवर्ष के उन स्थानो का—जिनका बुद्धदेव के जीवन से सम्बन्ध है—तीर्थ-स्थान मानते है। ऐसे स्थानो मे बोधगया, सारनाथ,

कसैया, लुम्बनी इत्यादि मुख्य है। इन स्थानों के प्रति श्रद्धा-भक्ति के भाव केवल बर्मा मे ही नही, उन सभी देशो मे—जहाँ बौद्ध धर्म आजतक प्रचलित है—आज भी वर्तमान है।

जब मै मद्रास-काग्रेस के बाद, १९२७ के दिसम्बर और १९२८ की जनवरी मे, चन्द दिनो के लिए लका गया था, तो यही विचार वहाँ भी मेरे मन मे उठे थे, इन्ही भावनाओ से वहाँ प्रेरणा मिली थी। हमारा यह कर्तव्य है कि बोध-गया तथा बौद्धों के दूसरे तीर्थस्थानों का प्रबध हम ऐसा कर दे कि सारी दुनिया के बौद्ध संतुष्ट हो और प्रबंध भी उन स्थानों के गौरव के योग्य हो। यह इतिहास के अद्भुत चमत्कारो का एक विचित्र नमूना है कि आज अपने उद्गम-स्थान मे बौद्धधर्म नही पाया जाता! बिहार तथा संयुक्तप्रदेश मे—जहाँ बुद्धदेव का जन्म, तपस्या, ज्ञान-प्राप्ति और निर्वाण हुए—शायद ही उँगलियो पर गिन लेने योग्य चन्द बौद्ध मिल सकेंगे! पर बौद्धधर्म के अनुयायी आज करोड़ों की सख्या मे दूसरे देशो मे मिलते है। एक तरफ तिब्बत, तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया, जापान और दूसरी तरफ सीलोन, बर्मा, स्याम, हिन्दचीन और हिन्देशिया के टापुओ मे आज भी बौद्ध धर्म वहाँ के निवासियो के जीवन का सहारा बना हुआ है। मै नही कह सकता कि यह क्यो और कैसे हुआ। इस दिशा मे इतिहास-वेत्ताओं का यह काम है कि वे इस बात की खोज करे कि बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान मे कैसे लुप्त हो गया।

यह माना नही जा सकता कि हिन्दुओं ने बौद्ध धर्म को पशुबल से दबा दिया है। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि हिन्दू-धर्म ने बराबर सहिष्णुता का केवल परिचय ही नही दिया है, बल्कि अपने सिद्धान्तो मे उसे बहुत ऊँचा स्थान भी दिया है। हिन्दू-धर्म ने बुद्धदेव को भी अपने अवतारो मे मान लिया है। इससे यह जाहिर है कि बौद्ध धर्म को हिन्दुओ ने जबरदस्ती नही दबाया और न नष्ट ही किया। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त बहुत अशो मे प्राचीन प्रचलित सनातन धर्म के ही सिद्धान्त है। उनमे जो कुछ नवीनता थी, अथवा जीवन मे और रहन-सहन मे उनके द्वारा जो भी परिवर्तन हुए थे, उन सबको हिन्दुओ ने अपना लिया। समय पाकर हिन्दू-धर्म और बौद्ध धम का अन्तर दूर हो गया। अन्त मे जाकर हिन्दू-धर्म ही रह गया। इसकी पुष्टि हाल के कुछ धार्मिक आन्दोलनो के इतिहास से भी होती है।

ब्रह्मसमाज हिन्दू-धर्म की ही एक शाखा समझा जाता है। पर प्रचलित हिन्दू-धर्म मे और उसमे काफी अन्तर था। समय पाकर वह अन्तर भी कम होता गया। अब, कुछ दिनो मे ही, वह अन्तर एकबारगी लुप्त हो जायगा। इसी तरह, और भी कितनी ही शाखाएँ सनातन धर्म के मूल से निकली और लुप्त हो गई। बौद्ध धर्म विदेशो मे पहुँच गया, इसलिए वहाँ वह रह गया। इसीलिए वह विदेशो मे तो पाया जाता है, पर अपने जन्मस्थान मे नही। लका, तिब्बत, चीन इत्यादि मे कब और किस तरह तथा किसके द्वारा इस धर्म का प्रचार हुआ, इसका बहुत-कुछ पता इतिहास-वेत्ताओ को लग चुका है। वह एक अद्भुत कहानी है, जिसे हमारे देश के लोगो को जानना चाहिए। यह काम विद्वानो का है कि उसे हमारे इतिहास के ग्रथो मे उचित और योग्य स्थान दे जिसमे सभी लोग उससे परिचित हो जायं।

जैन धर्म का प्रचार भी प्रायः उसी समय हुआ जिस समय बौद्ध धर्म का। जहाँ तक मै जानता हूँ, आधुनिक जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर का जन्म बुद्ध के जन्म से कुछ पहले ही हुआ था; पर दोनो समकालीन थे। दोनो ने अहिसा को धर्म का मुख्य अग बताया था। दोनों ने अपने जीवनकाल मे घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार किया था। दोनों का केवल समय ही एक नही था, कार्यक्षेत्र भी एक ही था—भारतवर्ष का वही हिस्सा जिसे आज 'बिहार' कहते है तथा युक्तप्रदेश का पूर्वी भाग। बौद्ध धर्म समय पाकर विदेशों में भी गया। सम्राट् अशोक के समय वह भारतवर्ष के भी बहुत अंशों में फैल गया। किन्तु जैन धर्म बिहार से निकल कर हिन्दुस्तान के अन्दर ही फैला। वह बिहार से पूर्व-दक्षिण का रास्ता लेकर सुदूर दक्षिण तक गया, तब फिर वहाँ से उत्तर की ओर बढकर पश्चिम तक चला गया। यह एक आश्चर्यजनक घटना है कि अपने जन्म-स्थान मे दोनों धर्म लुप्तप्राय हो गये! बौद्ध तो एकबारगी, पर जैन भी जितने आज, दूसरे सूबो मे पाये जाते है उतने बिहार मे नही है; जो आज है भी वे उन दिनो के नही है जब जैन धर्म की स्थापना हुई थी; वे आदिम जैनो के वंशज शायद ही है—दूसरी जगहो से आकर हाल में बिहार मे बसे है। पर जिस तरह बौद्धों के तीर्थस्थान आदि बिहार मे है उसी तरह जैनियो के भी, जिनमे पावापुरी, राजगृह, पार्श्वनाथ इत्यादि मुख्य है।

एक और अद्भुत बात यह है कि दोनों धर्मो के प्रवर्त्तको ने अहिसा को यद्यपि परम धर्म माना तथापि अहिंसा का अर्थ अलग-अलग हो गया! आज शायद ही कोई बौद्धधर्मावलम्बी हो जो मास न खाता हो! उन्होंने किसी जानवर को खुद मारना तो निषिद्ध माना, पर अगर कही दूसरा कोई मार दे तो उसका मास खा लेना बुरा नही माना! इसके विपरीत, जैनियो ने इस अहिसा को इतनी दूर तक पहुँचाया कि मच्छर और हिसक जन्तुओ तक को मारने में भी वे पाप समझने लगे। उनके मुनि लोग हिसा से बचने के लिए बहुत प्रकार के कष्ट सहते है। मामूली गृहस्थ भी खान-पान के बहुत कडे नियम मानते है जिसमे किसी भी जीवधारी की जान अनजाने भी न जाय। पर चाहे जिस कारण से हो, दोनों धर्मो मे इस मौलिक सिद्धान्त के अमली रूप मे इतना फर्क जरूर पड गया है। आज अहिसा-सिद्धान्त को तो दोनों ही मानते है; पर आज के संसार को तो उस अहिसा की जरूरत है जिसको महात्माजी ने सब प्रकार से अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। वही आज के सकटो से उबारने का एकमात्र उपाय है।

अठारहवाँ अध्याय

लाहौर-कांग्रेस ने कांग्रेस के ध्येय को बदलकर पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति को अपना ध्येय बना लिया। यह भी निश्चय किया कि इसके लिए सत्याग्रह किया जाय। मैं उस समय बहुत सख्त बीमार था। अत: कांग्रेस में नहीं जा सका था। कांग्रेस के बाद मैं अच्छा हो गया। थोड़ी-बहुत शक्ति भी आ गई। तब, २६ जनवरी को पहले-पहल मनाये जानेवाले पूर्ण स्वतंत्रता-दिवस के समारोह में अपने गाँव जीरादेई से आकर, जहाँ मैं आराम कर रहा था, शरीक हुआ। उसके बाद से ही सत्याग्रह की तैयारी और भी जोरों से होने लगी। साबरमती में वर्किङ्ग-कमिटी की मीटिंग हुई। उसमें मैं शरीक हुआ। वहाँ महात्माजी ने बताया कि नमक-कानून तोड़कर सत्याग्रह किया जाय। नमक पर 'कर' लगता था, जिससे भारत-सरकार को करोड़ों रुपये की सालाना आमदनी होती थी। कोई आदमी गवर्नमेंट की आज्ञा और 'कर' दिये बिना न नमक बना सकता था और न बेच सकता था। यह एक ऐसा 'कर' था जिससे कोई भी बच नहीं सकता था। गरीब-से-गरीब आदमी को भी, चाहे वह दोनों जून के बाद भी कुछ खाये, प्रत्येक कौर पर कुछ-न-कुछ 'कर' देना ही पड़ता था; क्योंकि बिना नोन के वह एक कौर भी नहीं खा सकता था।

समुद्र से हिन्दुस्तान तीन तरफ से घिरा हुआ है। समुद्र के किनारे, बिना कुछ किये ही, बटोर लेने से मुफ्त में ही नमक मिल सकता था। पर गरीब-से-गरीब आदमी भी बिना 'कर' दिये उस नमक को भी, जिसे प्रकृति मुफ्त में देती थी, नहीं उठा सकता था और न खा सकता था। इसका नतीजा यह होता था कि और--और देशों के मुकाबले हिन्दुस्तान में लोग नमक भी कम खाते थे! इसका असर यहाँ के लोगों के स्वास्थ्य पर जरूर बुरा पड़ता होगा; क्योंकि नमक एक अत्यंत आवश्यक खाद्य-वस्तु है। महात्माजी ने सोचा था कि इस सत्याग्रह से हम गरीब-से-गरीब आदमियों को भी दिखला देंगे कि यह जुल्मी 'कर' उठा देने का प्रयत्न उन लोगों के लिए ही किया जा रहा है। साथ ही, इसमें दूसरे किसी का कुछ भी नुकसान नहीं था; केवल गवर्नमेंट को ही 'कर' का घाटा होता। जब महात्माजी ने यह सुझाव वर्किङ्ग-कमिटी के सामने उपस्थित किया

तो हममें से बहुतेरों के दिल में यह शक था कि यह कहाँ तक लोगों में उत्साह पैदा कर सकेगा—विशेषकर ऐसे स्थानों के लोगों में जो समुद्र के किनारों से दूर हैं और जहाँ के लोगों को दूकानों से ही नमक खरीद कर खाना पड़ता है। उन बेचारों को इसका पता भी नहीं कि जो नमक वे खरीद रहे हैं उसके दाम में 'कर' का अंश भी है और वह भी नोन के असली दाम से कहीं ज्यादा है! वे अगर नमक-कानून तोड़ना चाहें भी तो कैसे तोड़ें; क्योंकि उनके यहाँ न तो समुद्र-तट का नमक ही है जिसे वे उठा लें और न समुद्र का जल ही है जिसको उबालकर नमक बना लें। इसलिए, कानून के तोड़ने में भी बड़ी कठिनाई दीख पड़ी। पर महात्माजी इस पर अड़े रहे। अन्त में निश्चय हुआ कि नमक-कानून ही तोड़ा जाय।

बिहार के कई जिलों में मिट्टी से शोरा और नमक पहले बनाया जाता था। मैंने अपने गाँव में ही देखा था कि एक जाति के लोग, जो अपने पेशे के कारण 'नोनिया' कहलाते हैं, मिट्टी से 'सोरा' बनाया करते थे। इसी तरह और भी बहुत-सी जगहें ऐसी हैं जहाँ मिट्टी से नमक बन सकता है। कहीं-कहीं तो इस तरह की झील भी है जिसमें नमकीन पानी है—जिससे नमक बन सकता है। सोचा गया कि समुद्र के किनारे के लोग तो नमक बटोरकर ही नमक-कानून तोड़ सकेंगे; पर दूसरी जगहों में कुछ लोग मिट्टी से ही नमक बनाकर कानून तोड़ेंगे और कुछ लोग गैर-कानूनी नमक बेच तथा खरीद-कर। लेखों और परचों में मिट्टी से नमक बनाने का तरीका भी लोगों को बताया गया। मुझे इस सम्बन्ध में बहुत सन्देह था कि बिहार के लोगों में हम नमक-कानून तोड़ने का बहुत उत्साह पैदा कर सकेंगे। महात्माजी से यह बात मैंने कही; उनको बताया भी कि एक दूसरा कानून है जो सभी गाँवों में लागू है और जिसके कारण लोगों में बड़ा असन्तोष भी है।

बिहार के हर गाँव में एक या दो या इससे भी अधिक चौकीदार रखे जाते हैं, जिनका काम होता है कि गाँव पर चौकी रखें, ताकि चोरी-डकैती न हो; अगर किसी किस्म की दुर्घटना हो जाय तो वे पुलिस-अफसरों को उसकी खबर दे दें, जनम-मरन की रिपोर्ट थाने में पहुँचावें, हरएक तरह की खबर गवर्नमेंट को देते रहें और गवर्नमेंट का हुक्म भी गाँव के लोगों तक पहुँचाते रहें। गवर्नमेंट का दूसरा कोई नौकर बिहार के गाँवों में नहीं रहता है; क्योंकि वहाँ दवामी बन्दोबस्त (परमानेण्ट-सेट्लमेंट) के कारण गवर्नमेंट को जनता से जमीन की मालगुजारी नहीं वसूल करनी पड़ती, जमींदार खुद वसूल करके नियत रकम गवर्नमेंट को पहुँचा दिया करता है। इसलिए, एक प्रकार से, गवर्नमेंट का प्रतिनिधि गाँव में चौकीदार ही होता है। उसको जो मुशहरा दिया जाता है वह गाँव के लोगों से ही एक विशेष 'कर' द्वारा, जिसे 'चौकीदारी टैक्स' कहते हैं, वसूला जाता है। यह टैक्स गाँव के प्रायः सभी लोगों को देना पड़ता है। औकात के मुताबिक यह छः आने से लेकर बारह रुपये तक सालाना होता है। गाँव के लोगों में इससे बड़ा असन्तोष है; क्योंकि बड़ी कड़ाई से यह वसूला जाता है। इतना ही नहीं, 'कर' लगाने में भी बड़ी धाँधली हुआ करती है। गरीबों पर अधिक लाद दिया जाता है! मुखिया लोग धनी होने पर भी कम देते हैं!

मैंने महात्माजी से कहा, यह 'कर' सीधे हर आदमी को देना पडता है, इसलिए वह इसे जानता है और इससें वह असंतुष्ट भी है, पर यह लोगो को पता ही नही लगता कि नमक-कर कब उनसे लिया गया; क्योंकि 'कर' तो नमक बनानेवाले ही दे देते है, नमक के खरीदार को अलग से 'कर' नही देना पडता; उसको तो पता भी नही लगता कि दाम मे से कितना 'कर' के रूप मे दिया है और कितना नमक का असली दाम; इसीलिए नमक-कानून से उतना असतोष देखने मे नही आता, लोगो को उसके तोड़ने मे इतना उत्साह नही होगा। मैंने महात्माजी से इसलिए आज्ञा माँगी थी कि बिहार मे चौकीदारी-टैक्स न देने की आज्ञा दे दीजिए ताकि वहाँ हम लोग सत्याग्रह को यही रूप दे। उन्होंने हमसे कहा कि ऐसा मत करो, तुम ऐसा करोगे तो जल्द हार जाओगे, गवर्नमेंट दबा देगी। पर उस समय यह बात पूरी तरह मेरी समझ मे नही आई। फिर भी मै ऐसी बातो मे उनके अनुभव का कायल था। मैंने मान लिया कि नमक-कानून के विरुद्ध ही हम यथासाध्य सत्याग्रह का प्रयत्न करेगे। पर मेरे मन मे डर था कि इसमे हम बहुत सफल नही होंगे। फिर भी इतना तो मै जानता था कि बिहार के बहुतेरे जिलों में नमक-कानून तोड़ने मे कोई विशेष दिक्कत नही आयेगी; क्योकि वहाँ मिट्टी से नमक बनानेवाले प्राय: सभी गाँवो मे थे और वह काम आसानी से दूसरे लोग भी कर सकते थे। हमने बिहार लौटकर नमक बनाने का ही काम शुरू कराया। दूसरी जगहो की तरह इसमे अद्भुत सफलता मिली।

महात्माजी ने निश्चय किया कि वह खुद भी नमक-कानून तोडेगे; इसके लिए अहमदाबाद के साबरमती-आश्रम से 'डांडी'—समुद्र के किनारे—तक पैदल ही जायँगे। उनके जाने की तिथि मुकर्रर हो गई। डाडी पहुँचकर ६ अप्रैल को नमक बटोरने का निश्चय हो गया। साबरमती-आश्रम से डाडी काफी दूर है। वहाँ पैदल पहुँचने में तीन सप्ताह से ज्यादा लगनेवाले थे। बीच के पडाव मुकर्रर हो गये थे। महात्माजी अस्सी आदमियों के साथ आश्रम से डाडी के लिए रवाना हो गये। चलते समय उन्होंने घोषणा कर दी कि अब स्वराज्य लेकर ही वह आश्रम में लौटेंगे, नही तो उनका मृत शरीर लोग समुद्र में बहता पायेंगे। उन्होंने यह भी घोषणा कर दी कि सभी जगह लोग तैयारियाँ करें; पर जबतक वह स्वयं सत्याग्रह न कर ले और दूसरो को सत्याग्रह करने की आज्ञा न दे दें तबतक कोई सत्याग्रह न करें।

महात्माजी की यात्रा जैसे ही आरम्भ हुई, सारे देश में बडा उत्साह पैदा हो गया। उनके साथ अस्सी सत्याग्रही थे; पर उनके पीछे-पीछे हजारो-हजार की भीड चलती थी। भीड़ कुछ दूर तक जाती; जब दूसरे गाँव के लोग आ जाते तो पिछले गाँव के लोग वापस होते। इस तरह, प्रतिदिन भीड़ साथ मे रहती। सारे देश मे दिन-दिन उत्साह बढता ही गया। यह उत्साह केवल वही न था जहाँ महात्माजी यात्रा कर रहे थे; यह सारे देश मे देखने में आया। सभी जगहों मे लोग सत्याग्रह की तैयारी करने लगे, उत्सुकता से महात्माजी की आज्ञा की अपेक्षा करने लगे। मैंने जवाहरलालजी को, जो उस वर्ष मे कांग्रेस के सभापति हुए थे, आमंत्रित किया। उनके साथ बिहार के कई जिलो का दौरा किया।

उन्नीसवाँ अध्याय

यहाँ पर इस सत्याग्रह का इतिहास नही दिया जा सकता, पर इसकी कुछ ऐसी बाते, जो विशेष महत्त्व रखती है, दी जा सकती है। ऊपर कहा चुका है कि महात्माजी ने डाडी-यात्रा के लिए निकलते समय कहा था कि या तो मै स्वराज्य लेकर ही आश्रम में लौटूँगा या मेरा शरीरात हो जायगा। उन्होने अपने इस वचन को पूरा किया, क्योकि वह फिर साबरमती-आश्रम में नही लौटे। इस सत्याग्रह के समाप्त होने के बाद वह वर्धा चले गये। वहाँ कुछ दिनों तक रहने के बाद वहाँ से थोड़ी ही दूर एक गॉव में रहने लगे, जिसका नाम 'सेवाग्राम' है। वह कभी कोई बात ऐसी नही करते थे जिसमें हर शब्द का अर्थ न होता हो और जिसके अनुसार खुद चलने के लिए वह तैयार न होते हो। इतना बडा आश्रम—जिसके बनाने मे उन्होने प्रायः पन्द्रह वर्ष लगाये थे, जिसकी इमारतों मे लाखों रुपये खर्च किये थे, जो अनेक प्रकार के रचनात्मक कामो का केन्द्र बना हुआ था, जहाँ सच्चे सत्याग्रही तैयार हो रहे थे, जहाँ का जीवन और रहन-सहन सारे देश के सेवको के लिए उदाहरण और आदर्श बन रहा था, जिसको उन्होने माता जिस लाड़-प्यार से बच्चों को पालती है उसी स्नेह से पाला-पोसा था—हमेशा के लिए उन्होने छोड दिया! इसका अर्थ यह नही है कि आश्रम टूट गया अथवा जो काम वहाँ हो रहा था वह खतम हो गया। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि महात्माजी वहाँ स्वयं नही गये; बस जो लोग वहा रह गये वे ही वहाँ के कामो को चलाते रहे। पीछे, वह हरिजन-सेवा के काम मे लगा दिया गया; आज भी वह इसी काम मे संलग्न है। महात्माजी श्रीतुलसी-दास की उस चौपाई को याद रखते थे और उसके अनुसार काम भी किया करते थे—

रघुकुलरीति सदा चलि आई।
प्रान जाइ बरु बचन न जाई॥

इसका दूसरा ज्वलंत उदाहरण कुछ दिनों के बाद देखने में आया, जब १९३२ मे उन्होंने यरवदा-जेल मे हरिजनो के लिए अलग चुनाव-क्षेत्र होने का विरोध किया था। जब वह १९३१ मे गोलमेज-कान्फरेस मे गये थे, वहाँ हिन्दू-मुसलमान-समस्या हल नही कर सके। उन्होने वही देख लिया कि हरिजनो की तरफ से भी अलग चुनाव-क्षेत्र की माँग है,

तब उन्होंने एक भाषण मे एक वाक्य कह दिया था कि अलग चुनावक्षेत्र देकर यदि हरिजन दूसरे हिन्दुओ से हमेशा के लिए अलग अछूत रखा गया तो वह इसका विरोध अपनी जान देकर भी करेगे। प्रधान मत्री मैकडोनल्ड ने हरिजनों के लिए अलग चुनावक्षेत्र अपने फैसले मे मंजूर कर लिया। उस समय महात्माजी जेल मे थे। उन्होने जेल से ही गवर्नमेंट के साथ लिखा-पढी की; अपनी उस बात का स्मरण भी दिलाया और कहा कि गवर्नमेंट इस फैसले को रद्द नही करेगी तो उनको अपने वाक्य के अनुसार अपने प्राणों की ही बाजी लगा देनी पडेगी। जब गवर्नमेंट ने उनकी बात उस समय न सुनी तो उन्होने अनशन किया और घोषित किया कि जबतक वह फैसला बदला नही जायगा तबतक वह अन्न-ग्रहण नही करेगे। सौभाग्य से फैसले मे यह शर्त थी कि अगर सब पक्ष, जिनका किसी विशेष विषय से सम्बन्ध था, मिलकर एक राय से उसमे अदल-बदल कराना चाहे तो वह किया जा सकेगा। इसका नतीजा यह हुआ कि हरिजनों और दूसरे हिन्दुओं के बीच यह समझौता हो गया कि अलग चुनाव-क्षेत्र नही होगे; पर हरिजनो के लिए धारा-सभाओ मे, उनकी सख्या के अनुपात मे, उनकी जगहें सुरक्षित कर दी जायँगी। श्री मैकडोनल्ड के फैसले मे जितनी जगहे मिली थी, उनसे कही ज्यादा जगहे हरिजनों को मिल गईं। पर चुनाव का तरीका दूसरा कर दिया गया। अलग चुनावक्षेत्र हटा दिये गये। समझौता होते ही ब्रिटिश गवर्नमेंट ने उसे मान लिया और अपने फैसले को समझौते के अनुसार बदल दिया। जिस समय महात्माजी ने वह वाक्य राउण्ड-टेबुल-कान्फरेंस मे कहा था उस समय किसी ने इसका अर्थ यह नही लगाया था कि इसको वह अक्षरश. पूरा करने का प्रयत्न करेगे। जब गवर्नमेंट ने उनके लिखे हुए पत्र प्रकाशित कर दिये, जिनमे उन्होंने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए अनशन द्वारा इसको पूरा करने का अपना इरादा घोषित किया था, तो सारे देश मे एक बडी खलबली मच गई, जिसका नतीजा उपरोक्त समझौता और ब्रिटिश गवर्नमेंट के फैसले मे संशोधन हुआ।

जब महात्माजी डाडी-यात्रा के लिए तैयार हो रहे थे तो कुछ लोगों का विचार हुआ कि यात्रा आरम्भ करने के समय सारे देश के लिए एक सन्देश दे जायँ, जो ग्रामोफोन के लिए रिकार्ड कर लिया जाय और वही सारे देश मे लोगो को सुनाया जाय। आशा की जाती थी कि इस प्रकार यह ऐतिहासिक सन्देश महात्माजी के शब्दो मे ही नही, बल्कि उनकी अपनी आवाज मे भी गाँव-गाँव मे पहुँचा दिया जायगा। यह भी नही मालूम था कि महात्माजी को गवर्नमेंट कबतक स्वतत्र छोड़ेगी। सोचा गया था कि ऐसी अवस्था मे यदि उनका सन्देश उनकी अपनी ही आवाज मे उनके जेल चले जाने के बाद भी जन-साधारण को मिलता रहेगा, तो सत्याग्रह के लिए आवश्यक और उत्साह-वर्द्धक साबित होगा। उस वक्त मैं भी साबरमती मे था। लोगों ने कहा, मै ही इस प्रस्ताव को महात्माजी के पास उपस्थित करूँ। इसका उत्तर महात्माजी ने जो दिया उससे उनके अटल विश्वास और उनकी सत्यनिष्ठा का परिचय मिलता है। उन्होने कहा—"यदि मेरे सन्देश मे सत्य है तो मै जेल के अन्दर रहूँ या बाहर, उसे लोग सुन ही लेगे। पर यदि उसमे सत्य नही है तो तुम हजार कोशिशे करो, ग्रामोफोन द्वारा वह जन-मन तक पहुँच नही

सकेगा। इसी प्रकार, जो सत्याग्रह आरम्भ किया जा रहा है, वह यदि सचमुच सत्याग्रह है, हम उसे ठीक सत्य और अहिंसा पर चलकर पूरा करते हैं, तो वह सफल होगा ही, चाहे मेरा शब्द लोग सुने या न सुने, मेरी अपनी आवाज उनके कानों तक पहुँचे या न पहुँचे। इसलिए, इस तरह के रिकार्ड की न तो कोई जरूरत है और न उससे कोई लाभ ही होगा।" इसके बाद फिर किसी की भी हिम्मत न हुई कि वह और कुछ आग्रह करे।

जब सत्याग्रह आरम्भ हुआ और अच्छे-अच्छे लोग जेलखाने जाने लगे तो केवल जनता पर ही इसका असर नही पड़ा, बल्कि गवर्नमेंट-कर्मचारियों पर भी असर पड़ता हुआ नजर आया—विशेषकर उन लोगों पर जिनको इस आन्दोलन के दबाने का भार सौंपा गया था! ऐसा सभी जगहों मे देखा गया था। मै यहाँ पर बिहार की कुछ घटनाएँ दे देना चाहता हूँ, जिनको मैंने खुद अपनी आँखों देखा। चम्पारन का जिक्र है। वहाँ तय किया गया था कि प्रमुख कार्यकर्त्ताओं मे से एक विपिनविहारी वर्मा प्रायः आधे जिले का भ्रमण करके सत्याग्रह करेंगे, जैसा महात्माजी ने साबरमती से डांडी तक यात्रा करने के बाद नमक-कानून को तोड़ा था। विपिन बाबू पैदल ही कुछ स्वयंसेवकों के साथ निकले। बीच मे चार-पाँच मील के बाद ठहर जाते थे। इस तरह, जहाँ सत्याग्रह करने का निश्चय था वहाँ कई दिनो मे पहुँचे। रास्ते मे जनता ने बडा स्वागत किया। जहाँ ठहरना होता, वहाँ पहले से ही लोग बड़ी तैयारियाँ करके रखते। इससे बड़ी जागृति हुई और उत्साह बढा। सत्याग्रह के स्थान पर नमक बनाने के लिए मिट्टी-पानी लोगों ने पहले से ही रखा था। पुलिस भी पहले से ही गिरफ्तार करने के लिए तैयार थी। थोड़ी ही दूर पर एक बगीचे मे मजिस्ट्रेट का खेमा भी लगा हुआ था, जहाँ वह पहले से ही मुकदमा सुनने तथा सजा देने के लिए तैयार बैठा था। यह पहला ही दिन था जब सूबे मे बाजाब्ता सत्याग्रह होनेवाला था। और-और जगहो मे भी लोगो ने इसी तरह सत्याग्रह करने का प्रबंध किया था।

मै चम्पारन मे स्वयं चला गया; क्योंकि महात्माजी का इस स्थान से काफी सम्बन्ध रह चुका था। मै जब वहाँ पहुँचा तो देखा, नमक बनाने की विधि समाप्त हो चुकी थी, कानून तोडनेवाले गिरफ्तार करके मजिस्ट्रेट के पास पहुँचाये जा चुके थे। मजिस्ट्रेट भी मुकदमा सुनने ही जा रहा था। मजिस्ट्रेट का चेहरा उतरा हुआ और उदास! सिर नीचे लटकाये, टेबुल पर ही उसकी आँखे जमी हुई थी। जबतक हमलोग वहाँ रहे, उसने एक बार भी सिर नही उठाया। जो कुछ लिखता-पढता था, नीचे सिर किये हुए ही। उसी दशा मे उसने सब काम पूरा किया, छः महीने की सजा का हुक्म सुना दिया। देखने से सबको ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके दिल मे बड़ी चोट लग रही है, पर उसे कोई दूसरा चारा नजर नही आता, इसलिए मजबूरी कुछ अपना काम करता जा रहा है। मजिस्ट्रेट की ऐसी दशा होने का एक विशेष कारण भी था।

सन् १९२१ मे असहयोग जोरों पर चल रहा था। विद्यार्थियों को कालेज छोड़ कर निकल आने को कहा गया था। उस समय आज के मजिस्ट्रेट पटना-कालेज के एक विद्यार्थी थे। पढ़ने मे बहुत तेज थे। छात्रवृत्ति पाये हुए थे। बी० ए० में पढ़ रहे

थे। परीक्षा दो-तीन महीनों के बाद ही होनेवाली थी। जब कालेज के और विद्यार्थी कालेज छोड़कर निकले तो वह भी उनके साथ निकल आये थे। जो राष्ट्रीय महाविद्यालय हमने खोला था उसमें आकर वह दाखिल हो गये थे। पर यह खबर पाते ही उनके घर के लोग आकर जबरदस्ती उन्हें पकड़ ले गये। राष्ट्रीय महाविद्यालय छोड़कर जाते समय भी मैंने उनके विद्यार्थी-मुखड़े पर वही मुद्रा और उदासी देखी थी जो नौ वर्षों के बाद आज फिर एक बार उनके मजिस्ट्रेटी चेहरे पर देखने मे आई। हाँ, महाविद्यालय से चले जाने के बाद वह परीक्षा पास करके मजिस्ट्रेट हो गये। आज उनकी आँखे इस-लिए और भी ऊपर नही उठती थी कि मै वहाँ हाजिर था !

सजा होने पर विपिन बाबू मोतीहारी-जेल में पहुँचाये गये। वहाँ जेल पर भी बड़ी भीड जुट गई। जेल के कर्मचारी कुछ घबरा रहे थे कि कही बलवा-फसाद न हो जाय, पर कुछ हुआ नही। जब मै वहाँ से पटना लौटा तो सुना कि कुछ युवक, नमक बनाने की घोषणा करके, बाँकीपुर से पटना-सिटी के लिए, जुलूस बनाकर रवाना हुए थे; पर रास्ते में एक जगह पुलिस ने उनको रोक दिया। लडकों ने वापस जाने से इनकार कर दिया। पर पुलिस ने गिरफ्तार नही किया। लड़के सड़क पर तब से पड़े थे। मै रात को स्टीमर से उतर कर सीधे सुलतानगंज-थाने पर गया, जहाँ लड़को के पडे रहने की खबर थी। मैंने जाकर देखा कि बीच सड़क पर लड़के सोये हुए है, पुलिस के सिपाही सड़क रोके खड़े है। मुहल्ले के लोगों ने लडकों को भोजन करा दिया था, उनके लिए सडक पर बिस्तर भी बिछा दिया था। वे सब गहरी नींद ले रहे थे। मैंने देख लिया कि अब रात मे कुछ होनेवाला नही है। इसलिए, सुबह फिर आने के खयाल से सदा-कत-आश्रम चला गया।

दूसरे दिन खूब सवेरे जब पहुँचा तो देखा, लड़के तो वहाँ खड़े ही है, पुलिस भी उनके मुकाबले मे खड़ी है; एक तरफ लोगों की भीड़ बढती जा रही है, दूसरी तरफ पुलिस-सिपाहियों की संख्या भी बहुत बढ़ गई है, जिनमे घुडसवार तथा बन्दूकधारी भी थे। हमलोग यही सोच रहे थे कि देखे, अब क्या होता है। इतने में ही अंग्रेज डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट तथा पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट भी पहुँच गये। जब उनको मालूम हुआ कि मै भी पहुँच गया हूँ और भीड़ सँभालने में लगा हूँ, तो उन्होंने मुझे थाने के अन्दर बुलाया; कहा कि इन लड़कों को वापस जाने कह दीजिए, नही तो हमको सख्त कार्यवाही करनी पड़ेगी। मैंने कहा, अगर लड़कों ने कोई कसूर किया हो तो आप उनको गिर-फ्तार कर सकते है, सजा देना चाहें तो दे सकते है; पर उन्हें वापस जाने को मै नही कह सकता। इस पर उन्होंने यह कहा कि इतनी बडी भीड़ यहाँ जुट गई है, अगर कुछ गड़बड़ हुआ तो इसकी जवाबदेही आपके सिर आयेगी। मैंने उत्तर दिया, जवाबदेही तो मै लेता हूँ; पर यह भी कह देना चाहता हूँ कि लोगों की तरफ से कोई गड़बड़ी नहीं होगी, अगर आप इन लड़कों को रास्ता दे देते है तो सारी भीड़ खुद ही छँट जायगी। पर वे ऐसा कब कर सकते थे ? मैंने सोचा कि कहीं अगर गोली चल जाय तो कोई संगीन घटना हो सकती है; इसलिए बेहतर है कि मै कांग्रेस के और साथियों

तथा नेताओं से सलाह कर लूँ। फिर जब मैंने कहा कि मै अपने और साथियों से इस विषय मे सलाह कर लेना मुनासिब समझता हूँ तब उन्होंने देखा कि मै कुछ नरम पड़ रहा हूँ, इस पर वे कुछ और तेज होकर बोले कि आपको आधे घंटे का समय देता हूँ, अपनी घड़ा हमारी घड़ी से मिला लीजिए ! मुझको यह बुरा लगा और वही कह दिया कि अगर आध घंटे के अन्दर इसका जवाब न दे दूँ तो आप समझे कि मै इनको हटाने से इनकार कर रहा हूँ, फिर आप जो करना चाहें, कीजिएगा। यह कहकर मै वहाँ से आश्रम के लिए रवाना हो गया।

सदाकत-आश्रम जाकर, आपस में सलाह करके, हम सबने निश्चय किया कि उन सत्याग्रहियों को वहाँ से नहीं हटाना चाहिए। यह सब आध घंटे का समय पूरा होने के बहुत पहले ही तय हो गया। हमने टेलीफोन से कह दिया कि हम सत्याग्रहियों को वापस नही करेगे, आप जो करना चाहे, करे। मै भी यह कहकर तुरत आश्रम से सुल्तानगंज के लिए रवाना हुआ। मै यह सोचता जा रहा था कि हो सकता है, वहाँ कोई संगीन घटना घट गई हो, या गोली वगैरह भी चल गई हो तो कोई आश्चर्य नही। मै जा ही रहा था कि रास्ते मे उसी मजिस्ट्रेट को अपनी मोटर पर आते देखा। उसने भी मुझे देख लिया। देखकर मुस्कराता हुआ चला गया। मैंने समझ लिया कि कोई संगीन घटना नहीं हुई है। जब मै वहाँ पहुँचा तो सुना कि पहले उसने लड़को पर घुड-सवारों को घोडा दौडाने का हुक्म दिया था। घोड़े जब दौडते नजर आये तो लड़के निर्भीक होकर सारी सडक को घेर लेट गये। घोडे नजदीक आकर रुके और फिर वापस चले गये। जब एक-दो बार ऐसा किया और लड़के डरे नही, वल्कि घोड़े को आते देख सडक पर लेट जाते, तो अन्त मे उन्होंने लड़को को जमीन से उठवाकर मोटर-लारी मे रखवा जेलखाने भेज दिया। बस उनके हटते ही सारी भीड़ भी हट गई। लोग जहाँ-तहाँ चले जा रहे थे कि मै वहाँ पहुँच गया। मुझसे यह सब बाते कही गई। हम लोग भी यही चाहते थे कि सत्याग्रही गिरफ्तार कर जेलखाने भेज दिये जायें, या और जो कुछ गवर्नमेंट करना चाहे सो करे, पर हमको जो करना था वह सत्याग्रही न छोड़ें। हमलोग फिर इकट्ठे होकर, आगे का कार्यक्रम बनाने के लिए, आश्रम मे बैठे।

इसके बाद से सत्याग्रही नियमपूर्वक चार बार जुलूस निकालकर प्रति दिन जाने लगे। समय की सूचना डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को दे दी गई कि जिसमें पुलिस को चौबीस घण्टे सत्याग्रहियों का इन्तजार न करना पड़े, वह ठीक समय पर अपने स्थान पर आये, जहाँ चाहे वहाँ सत्याग्रही को गिरफ्तार करे या जो कुछ करना चाहे करे। ठीक समय पर सत्याग्रही जब जाते, जनता की बड़ी भीड़ हो जाती। हमलोगों के दिल मे भी यही डर रहता कि शायद कही कुछ फसाद न हो जाय; क्योंकि जो भीड़ जमा होती उसको तितर-बितर करने के लिए पुलिस के अफसर डंडे दिखा चाबुकों से पीटते। हमलोग भी उस समय तक वहाँ पहुँच जाया करते जिसमे शांति कायम रहे। घुड़सवार बिलोची मुसलमान थे, जो बहुत पहले से ही बिहार-सरकार द्वारा बिहार में लाकर रक्खे गये थे। दो अंग्रेज अफसर उनके साथ घोड़ों पर वहाँ मौजूद रहते। घोड़े दौड़ाकर डंडे और चाबुक मारने

का काम अधिकतर दोनों अंग्रेज ही करते। अगर किसी को गिरफ्तार करना होता तो दूसरे सवार उसे गिरफ्तार करके साधारण पुलिस के हवाले कर देते, जो उसे वहाँ से थाने पर या जेल में ले जाती। प्रो० अब्दुलबारी और मैं, दूसरे कांग्रेसियों के साथ, पहुँच जाया करते।

एक दिन प्रो० बारी को खूब डंडे लगे। मेरे नजदीक होकर घोड़े दौड़ाये गये। पर मेरे ऊपर डंडे का प्रहार नहीं हुआ। मालूम नही कि यह महज इत्तिफ़ाक था या जान-बूझ कर मुझे उन्होंने छोड़ दिया। प्रो० बारी को चोट लगी, पर वह गिरे नहीं; क्योंकि वह शरीर से काफी मजबूत थे। दाढी भी थी और शक्ल से ही मालूम होता था कि मुसलमान है। उनकी बगल होकर एक बिलोची सवार चल रहा था। उसने उनसे आहिस्ता से पूछा, मौलवी! तुम यहाँ कैसे आ गये? प्रो० बारी ने जवाब दिया, अल्लाह ने तुम्हारे ही लिए मुझे भेज दिया है! इस पर वह सहम गया, फिर और कुछ न करके आहिस्ता-आहिस्ता उनको एक तरफ—जहाँ दूसरे लोग खड़े थे—पहुँचाकर अपना घोड़ा दौड़ाने लगा।

यह सिलसिला रोजाना चलता रहा। सत्याग्रही गिरफ्तार होते या न होते; पर जो भीड़ जमती उस पर वार जरूर होता, कुछ लोग तो जरूर घायल होते। भीड़ दिन-पर-दिन बढती ही जाती। मि० हसन इमाम नामी बैरिस्टर और प्रसिद्ध नेता थे, कलकत्ता-हाइकोर्ट की जजी कर चुके थे, कांग्रेस के प्रेसिडेंट भी रह चुके थे; पर वह सत्याग्रह में शरीक नही हुए थे। इसलिए जन-साधारण उनसे कुछ नाराज भी थे। जहाँ यह रोजाना मार-पीट हुआ करती थी वहाँ से उनका मकान बहुत दूर था; इसलिए उनको इसकी कोई खबर भी नही थी। एक दिन सवेरे उनकी स्त्री शहर की तरफ से लौट रही थीं। उन्होंने देखा कि लोगों पर किस तरह डंडे बरसाये जा रहे है। कई युवकों के सिर से खून बहते उन्होंने अपनी आँखों देख लिया। उन्होने जाकर सब किस्सा मि० हसन इमाम से कहा कि किस तरह बेदर्दी से निहत्थे लोग पीटे जाते है, तो भी लोग शांत रहते है और मार खाकर चले जाते है। इसका असर मि० हसन इमाम के दिल पर बहुत पड़ा। उन्होंने मेरे पास टेलीफोन करके मुझे बुलाया, सब हाल भी मुझसे सुना। वह बहुत ही भावुक थे; इसलिए वह बहुत आवेश में आ गये। मुझसे उन्होने साफ-साफ कहा कि वह मदद करेंगे। मै बहुत खुश हुआ; उनको विश्वास दिलाया कि जहाँ तक हो सकेगा, जनता की ओर से कोई अशांति नही होने पावेगी।

यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। तबतक गुडफ्राइडे और ईस्टर आ गया। न मालूम कैसे मेरे मन मे विचार आ गया कि हमारा सत्याग्रह धार्मिक आन्दोलन है, इसके कारण किसी के अपने धर्म-पालन में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। चूँकि जितने अफसर थे, सभी अंग्रेज और क्रिश्चियन थे तथा सवार सबके-सब मुसलमान; इसलिए मैंने सोचा कि शुक्रवार को मुसलमानों का जुमा-नमाज होता है और गुडफ्राइडे तथा ईस्टर-मण्डे को क्रिस्तान गिरजा जाते है; अतएव इन दोनो का समय बचा देना चाहिए। मैंने एक पत्र डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट को लिख दिया कि शुक्रवार दोपहर को, जिस वक्त मुसलमान नमाज पढ़ते है, सत्याग्रहियों का जत्था नहीं जायगा, ताकि मुसलमान सवार अगर चाहे तो

नमाज पढ़ सके, और क्रिस्तान अफसरों के लिए भी जो समय गिरजा जाने का हो उस समय जत्था नहीं भेजा जायगा ताकि वे भी अपना धार्मिक कृत्य कर सकें; इन समयों को छोड़कर और समयों पर जत्था बराबर जाया करेगा।

यह पत्र जब डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट को मिला तो उसने मुझसे टेलीफोन पर कहा कि वह मुझसे मिलना चाहता है; इसके लिए उसने समय भी बताया। मैं उसके घर पर गया। जाते ही मुझसे उसने पूछा कि जो बात आपने लिखी है वह क्या सच्चे दिल से लिखी है। मैंने कहा, हाँ, मैंने तो सच्चे दिल से ही लिखी है। इस पर उसने कहा, मैं अंग्रेज और क्रिश्चियन हूँ, पर मैं उन अंग्रेजों मे नहीं हूँ जो बराबर तलवार चमकाया करते हैं; मैं चाहता हूँ कि कोई ऐसा रास्ता निकले जिसमे गवर्नमेंट का हुक्म कायम रहे और यह झगड़ा भी समाप्त हो जाय। इतना कहकर उसने यह कहा कि जिस सड़क से जत्थे जाया करते है उस बड़े रास्ते को छोड़कर अगर दूसरे रास्ते से, जिसको निचली सड़क कहते है, जत्था जाय तो हम उसे जाने देगे। मैंने कहा कि ऐसा नही हो सकेगा, जत्थे को तो जाना ही है और उसी रास्ते जाना है, जबतक उसे रोका जायगा वह जाया ही करेगा; पर वह अगर रोका न जाय तो ऐसी बात नहो है कि हमेशा वह जाया ही करेगा, और अगर जाया ही करेगा तो भी जो भीड़ जमा होती है वह नही होगी; क्योंकि वह भीड़ जत्थे के लिए नही, पुलिस की कार्यवाही देखने के लिए ही जमा होती है।

इसी तरह की बातें हुईं। अन्त मे, बिना कुछ तय हुए, मै चला आया। दूसरे दिन जब जत्था गया तो भीड़ पर जो मारपीट हुआ करती थी वह न हुई, केवल सत्याग्रही गिरफ्तार कर मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये गये। इसके बाद भीड़ खुद-ब-खुद हट गई। मै यह देखने के लिए कि इन सत्याग्रहियों को क्या सजा मिलती है, कचहरी में गया। मै अभी वहीं था कि दूसरे जत्थे के जाने का समय हो गया। वहो पर खबर मिली कि पुलिस यद्यपि सड़क पर खड़ी थी तथापि जब जत्था वहाँ पहुँचा तो उसे रोका नही, निकल जाने दिया। मजिस्ट्रेट ने मुकदमे में उनको उस वक्त तक के लिए कैद की सजा दी जबतक वह खुद अपना काम खत्म करके इजलास से न उठे। यह हुक्म सुनाकर वह तुरत उठ गया! उसके साथ ही सत्याग्रही भी वहाँ से उठकर उसके साथ ही बाहर चले आये! इसके बाद एक बार और जत्था गया। पर पुलिस ने उसे रोका नही। दूसरे दिन से पुलिस रोकने के लिए आई भी नही! सत्याग्रह का वह रूप यहीं समाप्त हो गया। मैंने देखा, शांति-पूर्ण सत्याग्रह का असर एक तरफ जनता पर पड़ता है, दूसरी तरफ गवर्नमेंट की ओर से जितनी अधिक मारपीट होती है उतना ही लोगों का उत्साह बढ़ता है, जिससे मारपीट का डर कम होता जाता है। शुरू में जब भीड़ पर डंडे चलाना आरम्भ होता तो लोग इधर-उधर भागते। पर आहिस्ता-आहिस्ता यह भागना बन्द हो गया। लोग डंडे खा लेते, पर अपनी जगह से हटते नही। उधर पुलिस पर भी असर पड़े बिना न रहता। मैं समझता हूँ कि जो पत्र मैंने डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट को लिखा उसका असर उसपर इतना पड़ा कि उसने इस बात को मुँह से बिना कहे सत्याग्रह की जीत मान ली और जुलूस जाने दिया।

इस तरह की घटनाओं की खबर चारों तरफ से आती कि जहाँ-जहाँ नमक बनता है वहाँ पुलिस के लोग पहुँचते है, नमक बनाने के लिए जो हाँड़ी-बासन इकट्ठे किये जाते हैं उनको तोड़-फोड़ देते है, कहीं-कहीं जमा हुए लोगों को पीटते भी है; पर नमक बनाने-वालों को गिरफ्तार बहुत कम करते हैं। न मालूम क्यों, मै गिरफ्तार नही किया गया। मैं सभी जिलों का चक्कर खूब तेजी से लगा रहा था। किसी जिले में जब मैं पहुँचता तो वहाँ एक मोटर लेकर एक कोने से दूसरे कोने तक, दो दिन या हद-से-हद तीन दिन मे, दौड़ जाता। रास्ते मे जहाँ-जहाँ नमक बनता होता था वहाँ पहुँच उन जगहों का मुलाहजा कर लेता, उन लोगों को उत्साहित कर देता और दिन-भर मे छोटी-मोटी दस-बारह सभाएँ भी कर लेता। उत्साह इतना था कि सभी लोग अपने-अपने गाँव मे मुझे ले जाना चाहते ताकि मै देख सकूँ कि उनके यहाँ भी नमक बनाया जाता है। सभा में जो नमक बना रहता उसे मैं खुलेआम नीलाम करता। इस तरह आन्दोलन के खर्च के लिए कुछ रुपये भी जमा कर लेता; क्योंकि एक-एक पुड़िया नमक दस-दस बीस-बीस रुपये मे लोग ले लेते ! यह सब होते हुए भी, सारे सूबे मे, जहाँतक मुझे स्मरण है, कहीं भी, जनता की ओर से, कोई फसाद या बलवा नही हुआ।

बीसवाँ अध्याय

महात्माजी के वचन को लोग कितना दृढता से मानते और पालते थे, इसका एक बहुत ज्वलंत उदाहरण बिहपुर (भागलपुर) मे मिला। बिहपुर का इलाका गंगा के दियारे में पड़ता है। गंगा की धारा इधर-उधर बदलती रहती है, जैसा सभी दियारों में हुआ करता है। इसके कारण जमीन के निशान हट जाया करते हैं। कौन जमीन किसकी है, यह लेकर लोग आपस में अक्सर लड़ा करते हैं। बिहपुर के इलाके मे एक अंग्रेज ने बहुत जमीन ले रक्खी थी। वहाँ के लोगों से जमीन के लिए उसका बहुत झगड़ा चल रहा था। जमीन की हिफाजत के लिए उसने गोरखों को तैनात किया था। लोगों से यह बात बर्दाश्त नही हुई। एक दिन सब-के-सब जमा होकर, वहाँ तैनात किय गये गोरखों को लोगों ने मार डाला! उनकी लाशों को गंगा मे बहा दिया अथवा इस तरह गायब कर दिया कि कुछ पता ही न लगा। उसी बिहपुर में सत्याग्रह छिड गया।

१९२९ में जब मै उस इलाके मे दौरा करने गया था तब लोगों में बड़ा उत्साह पाया था। मै समझता था कि जब सत्याग्रह छिड़ेगा तो वहाँ के लोग उत्साह-पूर्वक उसमें शरीक होंगे। यह छाप मेरे दिल पर एक विशेष कारण से पड़ी थी। जब मैं उस इलाके में दौरा कर रहा था तो एक जगह सभा के लिए समय कोई एक बजे या दो बजे दिन दिया गया था। मै कुछ दूर दूसरे गाँव में चला गया था। आशा की थी कि वहाँ ठीक समय पर वापस आ जाऊँगा। जब मै लौट रहा था तो अचानक बडे जोरों से वर्षा आ गई। हवा भी चलने लगी। मेरे पहुँचने मे दो-तीन घटे की देर हो गई। मै भीगता-भागता जब वहाँ पहुँचा तो देखा कि एक बहुत बडी भीड़ वहाँ खड़ी है; सुना कि घंटों से वह वर्षा म मेरा इन्तजार कर रही है! अभी तक पानी बरस ही रहा था। मैंने वर्षा में ही खड़ा होकर भाषण किया। जो कुछ कहना था, कहा। इसी से मैंने समझ लिया कि इस इलाके के लोगों में साहस और दृढता दोनों हैं।

जब कुछ महीनो के बाद सत्याग्रह आरम्भ हुआ तब वहाँ भी लोगों ने सत्याग्रह शुरू कर दिया। नमक-कानून तोड़ने के साथ-साथ 'शराब-बन्दी तथा नशीली चीजों के वहिष्कार का काम भी हो रहा था। वहाँ गाँजे की एक दूकान थी। थोड़ी ही दूर

पर हमलोगों का आश्रम था। एक तरफ रेलवे-स्टेशन। एक छोटा-सा बाजार जिसमें पाँच-सात दूकानें। नजदीक ही एक डाक-बँगला भी। कुछ दूर पर थाना। स्वयंसेवकों ने गाँजे की दूकान पर पहरा लगाया। पुलिस को खबर लगी। आकर पहरा देनेवालों को मारा-पीटा। उत्साह बढ़ गया। और भी जोरों से पहरा पड़ने लगा। जिले के अफसरों को खबर हुई। वहाँ से कुछ और ज्यादा पुलिस के आदमी आये। एक दिन उन्होंने जाकर आश्रम के स्वयंसेवकों तथा कार्यकर्त्ताओं को जबरदस्ती निकाल दिया। जो खादी तथा सरंजाम वहाँ था, सबको लूट-पाट कर तितर-बितर कर दिया। गाँजा बेचनेवाला, हंगामा देखकर, वहाँ से भाग गया। इस तरह गाँजे की दूकान बन्द हो गई।

पुलिस ने आश्रम दखल करके वहाँ अड्डा जमा लिया। सत्याग्रही अब आश्रम को वापस लेने के लिए सत्याग्रह करने लगे। सत्याग्रह का रूप यह हो गया कि कुछ लोग हाथ मे केवल झडा लेकर आश्रम की तरफ जाते। पुलिस उनको वहाँ जाने से रोकती। प्रति दिन एक जत्था जाता। पुलिस या तो उसे मारती-पीटती या सबको गिरफ्तार कर लेती। जब गाँव में खबर पहुँची तो भीड़ वहाँ भी सत्याग्रह के समय पर जमा हो जाती। जब यह भीड़ बढने लगी तब पुलिस भीड़ को लाठियों से मार-पीटकर तितर-बितर कर देती। कभी तो सत्याग्रहियों को भी पीटती। कभी उनको गिरफ्तार कर आश्रम में ही रख लेती, फिर जब भीड़ चली जाती तो वहाँ से उन्हें निकाल कर थाने पर या जेलखाने मे भेज देती। यह सिलसिला चलता रहा। भीड़ दिन-दिन बढती गई। यहाँ तक कि बीस-बीस पचीस-पचीस हजार आदमी दूर-दूर से जमा होते, लाठी खाते और चले जाते। पुलिस की तादाद कुछ ज्यादा नही थी। जैसे जबरदस्त लट्ठधर और लड़ाकू उस इलाके के लोग होते है वैसे लोग अगर चाहते तो बातों-ही-बातो में उनका सफाया कर डालते। पर किसी ने कभी मुँह से भी उनको चोट नही पहुँचाई, लाठी की तो बात ही क्या थी।

मै एक दिन वहाँ गया। वह स्थान, गंगा के उत्तर, भागलपुर से थोडी ही दूर पर है। उस (बिहपुर) स्टेशन से एक ब्रांच-लाइन गंगा के किनारे तक जाती है, जहाँ से स्टीमर पर गंगा-पार करके आदमी उस पार भागलपुर पहुँच जाता है। मै भागलपुर से ही वहाँ गया था। इसलिए भागलपुर के कुछ ऐसे लोग भी साथ हो गये थे जो सत्याग्रह में शरीक होनेवाले तो नहीं थे, पर वहाँ का हाल सुनकर प्रभावित बहुत हुए थे। पटना से भी कुछ लोग साथ गये थे।

वहाँ हम लोगो के जाने की खबर पहले पहुँच गई थी। इसलिए वहाँ उस दिन भीड़ अधिक जुट गई थी। पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट सिपाहियों के साथ मौजूद था। समय पर सत्याग्रहियों का एक छोटा-सा जत्था निकला। भीड़ सड़क के दोनों ओर लगी थी। कुछ दूर पर एक सभा हुई, जहाँ मैंने छोटा-सा भाषण किया। पुलिस वहाँ भी मौजूद थी। मगर सभा में किसी किस्म की छेड़-छाड़ नही हुई। जब सत्याग्रही आश्रम के फाटक के पास पहुँचे तो वे गिरफ्तार कर आश्रम के भीतर ही ले जाये गये। हम लोगों ने समझा कि अब और कुछ आज विशेष नही होगा। पर तुरत ही पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट

पन्द्रह लट्ठधारी सिपाहियों के साथ निकला। हुक्म दिया कि मारो। सिपाही बेधड़क भीड़ पर लाठियाँ बरसाने लगे; क्योंकि भीड सड़क के दोनों तरफ बहुत दूर तक फैली हुई थी। वे लोग दोनों तरफ लाठियाँ बरसाते आगे बढ़ते गये। भीड़ मे से न किसी ने हाथ ही उठाया और न कोई भगदड़ ही मची। हम लोग कुछ दूर पर थे। कई जगहों मे कई आदमी फैले हुए थे। सुपरिण्टेण्डेण्ट सिपाहियों के साथ पीटता-पिटवाता वहाँ भी पहुँचा जहाँ मै था। लाठियाँ तो बेधड़क चल ही रही थी, मुझ पर भी कई लाठियाँ पडी। कुछ चोट भी आई; पर एक दूसरे स्वयंसेवक ने मेरे ऊपर लाठियों को न आने दिया; मुझे छाप लिया; इसलिए अधिक चोट उसी को आई। प्रोफेसर अब्दुल बारी थोड़ी ही दूर पर थे। उनको ज्यादा चोट आई। वह चोट खाकर गिर पड़े। खून बहने लगा। यह सारा मामला थोड़ी देर मे खतम हो गया। सुपरिण्टेण्डेण्ट और सिपाही, सारी भीड़ मे लोगो पर लाठियाँ बरसाते, एक तरफ से निकले; फिर आश्रम में चले गये।

भीड़ ने समझ लिया कि आज का काम खत्म हुआ; क्योंकि ऐसा ही प्रतिदिन हुआ करता था। लोग जहाँ-तहाँ के लिए रवाना हो गये। हमलोग जो भागलपुर से आये थे, वही ठहरे रहे; क्योंकि गाड़ी मे कुछ देर थी। एक डाक्टर वहाँ रहते थे। जब भीड़ हट गई तो वह हमलोगो मे से घायलों की मरहम-पट्टी करने लगे। हमलोग घास पर बैठे थे और घाव धोये जा रहे थे कि इतने मे पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट और इन्सपेक्टर कुछ सिपाहियों के साथ उसी तरफ आये। हमने समझा कि शायद फिर एक बार हमला होगा; पर वे लोग कुछ ही दूर पर ठहर गये। फिर हमलोगो मे से एक आदमी को गिरफ्तार कर ले गये। हमलोग गाड़ी का इन्तजार कर रहे थे। इसी समय कुछ लोग, जो अभी गये नही थे, हमारे पास आये। वे गाँव के रहनेवाले थे; बहुत ही दुखी थे; मुझे घेर कर बैठ गये; बहुत आवेश में कहने लगे—"यहाँ हमारे बीच आप आये। आप और दूसरे नेता इस तरह हमलोगो के जीते-जी हमारी आँखों के सामने पीटे गये। हमलोग कुछ कर नहीं सके। इतनी पुलिस की क्या मजाल थी कि हमलोगो पर हाथ उठाती, आपकी तो बात ही कौन कहे। पर हम क्या करे, गाधीजी ने हमलोगों के हाथों को बाँध दिया है, हम कुछ नही कर सकते। नही तो इतनी पुलिस को हम चटनी कर डालते, चाहे इसका नतीजा जो कुछ होता।" यह कहकर सब फूट-फूट रोने लगे। मैंने उनको बहुत समझाया कि आप लोगो की बहादुरी तो शाति रखने मे ही है, इसी से अन्त मे हमारी जीत होगी।

हम लोग जिस ट्रेन से रवाना हुए उसी से कुछ पुलिस-सिपाही भी भागलपुर चले। इसका अर्थ हमको उस वक्त नही मालूम हुआ। दूसरे दिन हम सवेरे गंगास्नान करने गये। वहाँ पुलिस के कुछ हिन्दू सिपाही भी स्नान करने आये थे। उन्होंने पहले दिन का हाल सुनाते हुए कहा—"सिपाहियों मे दो दल हो गया था। जब सुपरिण्टेण्डेण्ट ने सब लोगों पर लाठी चलाने का हुक्म दिया—खासकर आप-जैसे लोगों पर, तो हमलोगों को यह बात पसंद नही आई; इसलिए हममे से कुछ ने सिर्फ लाठी भाँजा और ऐसा दिखलाया कि हम लाठियाँ चला रहे है, पर किसी को हमलोगों की लाठियाँ लगी नही। किन्तु कुछ सिपाही ऐसे थे जिन्होने खूब पीटा। आपलोगों को जब लाठी लग गई और अब्दुल बारी

साहब बहुत जोरों की चोट खाकर बेहोश हो गिर पड़े, तो हमलोगो से यह बात बर्दाश्त नही हुई। हमलोगो ने उन सिपाहियों से कह दिया कि तुम लोगों ने फिर अगर लाठियाँ चलाईं तो ठीक न होगा। पर वे भला क्यों मानें, फिर गिरे हुए बारी साहब पर लाठियाँ चला ही दी। तब हमलोगों ने उस लाठी को ऊपर-ही-ऊपर अपनी लाठी पर ओड़ लिया। उन सिपाहियो को भी अपनी लाठी से मारा। सुपरिण्टेण्डेण्ट तो आगे-आगे चलता था। हमलोग उसके पीछे-पीछे इसी तरह लाठी भाँजते चलते थे। इसलिए वह खुद तो देख नही सकता था कि किसको लाठी लगी और किसको मारा। हम लोगों ने इस तरह बारी साहब की जान बचा ली और उन सिपाहियों को भी पीटा। इसलिए हमलोगों को डर हो गया कि वे सिपाही हमलोगों के खिलाफ शिकायत करेंगे। इसलिए मार-पीट खतम होते ही हमने पहले ही जाकर साहब से नालिश कर दी कि इन सिपाहियों को लाठी चलाना नहीं आता है, ये लोग इस तरह लाठी घुमाते हैं कि भीड़ छोड़कर आपस में ही चोट खा जाते हैं। इसपर उन सिपाहियों ने भी कहा कि यह सब गलत बात है; इन लोगों ने हमको ही पीटा है, हमको लाठी चलाने से भी रोका है और खुद तो इन्होने कुछ किया ही नहीं है। साहब ने यह सब सुनकर और तो कुछ नही किया; पर हम लोगों को रात ही भागलपुर वापस कर दिया। हम लोग उसी गाड़ी से आये जिससे आप लोग रात आये।"

हमने देखा कि पुलिस के सिपाहियों मे भी सत्याग्रहियों के साथ बहुत सहानुभूति है; वे जहाँ तक सख्ती करने में अपनेको मजबूर समझते थे वहाँ तक ही सख्ती करते थे; नौकरी छोड़ने के लिए तैयार नही थे, पर सत्याग्रहियों के साथ ज्यादती नही करना चाहते थे। यह सब बात अफसरों के साथ नही थी, यद्यपि उनमे भी कुछ अच्छे थे। इसी प्रकार, वहीं मुझे एक और सुखद अनुभव हुआ।

मैंने ऊपर जिक्र किया है कि जब हम लोग बैठकर मरहम-पट्टी करा रहे थे, एक पुलिस के इन्स्पेक्टर भी सुपरिण्टेण्डेण्ट और सिपाहियों के साथ आये थे तथा हम लोगों मे से एक को गिरफ्तार कर ले गये थे। मैंने उनको पहचाना नही था। पीछे पूछने पर उनका नाम मालूम हुआ। मुझे याद आ गया कि मेरे स्कूल मे इसी नाम के एक सह-पाठी थे जो पुलिस मे काम करते है। मैंने भागलपुर से एक आदमी को बिहपुर इसलिए भेजा कि वह जाकर जो खादी-सूत वगैरह पुलिस ने ले लिया था उसे वापस ले ले; क्योंकि चरखा-संघ के विरुद्ध कोई हुक्म नही था। वह जाकर उनसे मिला। बातें करते-करते उसने यह जिक्र छेड़ दिया कि मैंने बातचीत मे कहा था कि आपके ही नाम के एक आदमी स्कूल मे मेरे साथी थे जो पुलिस में हैं; पर आपको वह कल संध्या समय वहाँ पहचान न सके। यह सुनते ही पुलिस-इन्स्पेक्टर घबरा गया। उसकी आँखों मे आँसू आ गये। उसने बात बदलना चाहा, कहा कि आप यह सब बात मत कहिए, खादी की बात कीजिए। पर चरखा-संघ का वह आदमी बहुत ही होशियार बोलनेवाला था। उसने फिर खादी की बात करके मेरा नाम कह दिया। तब देखा कि इन्स्पेक्टर फिर विह्वल हो गया।

यह सब बातें उसने आकर मुझसे कही। मैंने समझ लिया कि नौकरी के कारण बहुतेरे लोग देखने मे हमारे विरोधी मालूम पड़ते है; पर उनमे से बहुतेरों के हृदय में

सत्याग्रहियों के प्रति श्रद्धा और प्रेम है। हमने देखा कि महात्माजी की अहिसा किस तरह प्रतिपक्षियों के हृदय मे भी असर डालती है।

वहाँ के जिला-मजिस्ट्रेट एक हिन्दुस्तानी सज्जन थे। उनके बड़े भाई असहयोग म पहले हम लोगों के साथ बहुत काम कर चुके थे। वह जेल भी गये थे। वहाँ वह सख्त बीमार पड़े। जब हालत बहुत खराब हुई तो गवर्नमेंट ने उनको छोड़ दिया। पर जेल से निकलते ही उनका स्वर्गवास हो गया। इस कारण उनके सारे परिवार के साथ मेरा खूब घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। पर डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट तो नौकरी में थे। उनसे कोई सम्पर्क नहीं होता था। जब मै बिहपुर से भागलपुर लौटा तो उन्होंने एक मित्र द्वारा मेरे पास सन्देश भेजा कि मुझसे मिलने के लिए वह बहुत उत्सुक है, पर नौकरी के कारण उनकी जो अवस्था है उसमें सीधे मिलना सम्भव नही है; यदि उस मित्र के साथ मै उनके घर आ आऊँ तो वह बहुत अनुगृहीत होंगे। मै सुन चुका था कि वह यद्यपि जिला-मजिस्ट्रेट थे तथापि उनका कुछ चलता नही था। भागलपुर-डिवीजन का कमिश्नर भागलपुर मे ही रहा करता था। वह और पुलिस-सुपरिटेण्टेण्डेण्ट मिलकर जिले में सत्याग्रह की लहर को रोक रहे थे।

मै उस मित्र के साथ रात को मजिस्ट्रेट के घर गया। ज्यो ही मै वहाँ पहुँचा, वह मेरा पैर पकड़ फूट-फूटकर रोने लगे। कहने लगे "आप मेरे बड़े भाई के समान है; क्योंकि आप मेरे बड़े भाई के साथी है, आप दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह मै जानता हूँ। मै यहाँ जिला-मजिस्ट्रेट हूँ। और समझा जाता है कि यहाँ जो कुछ हुआ है वह मेरे ही हुक्म से हुआ है। यहाँ मेरे मजिस्ट्रेट रहते हुए आप और दूसरे नेता इस तरह लाठियों से पीटे गये; पर यह सब मेरे हुक्म के खिलाफ हुआ है। मेरा इसमें कोई हाथ नही है।"

मै उनको कुछ सान्त्वना देकर वापस चला आया।

भागलपुर कपड़े के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र है। उन दिनो बिहार-भर में विदेशी कपड़े की सबसे बड़ी मंडी वही थी। बिहपुर की उपरोक्त घटना का एक नतीजा यह हुआ कि सारे शहर और व्यापारियों मे बहुत जोश फैला। एक-दो दिन के अन्दर ही सबने विदेशी कपड़े की बिक्री बन्द कर देने का वादा किया। जो कपड़ा उनके पास था, सबको बन्द कर कांग्रेस की मुहर लगवा दी। कहा भी कि जबतक कांग्रेस का फिर हुक्म न होगा, हम ये कपड़े नहीं बेचेंगे। वहाँ भी कुछ स्त्रियाँ तैयार हुई थीं कि विदेशी कपड़े की दूकानों पर हम पहरा देंगी; पर इसकी ज्यादा जरूरत नहीं पड़ी। सब गाँठें उक्त घटना के कारण ही अनायास बँध गईं। उनपर मुहरे भी लग गईं।

बिहपुर के लोगों का उत्साह क्षणिक नही था। जबतक सत्याग्रह जारी रहा और गांधी-इरविन-समझौता के मुताबिक सत्याग्रह बन्द नहीं हुआ तबतक सत्याग्रहियो का जत्था प्रतिदिन जाता ही रहा। कुछ दिनों के बाद पुलिस ने भीड़ पर लाठी चलाना बन्द कर दिया। इसलिए भीड़ जुटना भी कम हो गया। पर जो सत्याग्रही जाते उनके साथ बहुत सख्ती होती। मारपीट के अलावा तरह-तरह की यातनाएँ उनको दी जाती। एक लड़के के कान मे साइकिल का पम्प लगाकर इतने जोर से हवा की गई कि उसके कान का परदा फट गया! वह आज तक इसका फल भोग रहा है। पर लोग और सत्याग्रही बराबर निडर रहकर अपना काम करते ही रहे।

इक्कीसवाँ अध्याय

सत्याग्रह आरम्भ हुए दो महीने से अधिक बीत चुके थे। पर अभी तक न तो मै और न पंडित मोतीलालजी नेहरू गिरफ्तार हुए थे—यद्यपि हम दोनों ही सत्याग्रह का सब काम जोरों से चला रहे थे। पडितजी प्रयाग में बैठकर सारे देश का सचालन कर रहे थे। वर्किङ्ग-कमिटी की बैठक भी जब-तब हुआ करती थी। मै वहाँ जाया करता था। पर अधिक समय अपने सूबे के जिलो मे दौरा करने मे ही लगाता था। आश्चर्य होता था कि मै क्यों नही गिरफ्तार किया जाता। कुछ दिनों तक तो प्रान्तीय सरकार का हुक्म था कि मैं गिरफ्तार न किया जाऊँ; इसलिए जिले के अधिकारी मुझे गिरफ्तार नही करते थे। मैं अकेला चक्कर लगाया करता था। कुछ दिनो के बाद मुझे खबर मिली कि जो रोक मेरी गिरफ्तारी के बारे मे लगाई गई थी वह उठा ली गई; अगर कोई जिला-मजिस्ट्रेट मुनासिब या जरूरी समझे तो मुझ गिरफ्तार कर सकता है। सरकारी हुक्मों की खबर मुझे पुलिस के अफसर ही दे दिया करते थे! जिसने रोक उठा देने की खबर दी उसने यह भी कहा कि मै अकेला सफर न करूँ, एक आदमी साथ में जरूर रक्खूं, ताकि गिरफ्तार हो जाने पर वह खबर सबको दे सके। मैं लापरवाही से अपना काम करता ही गया। उसके बाद खबर मिली कि प्रान्तीय सरकार का हुक्म जिला-मजिस्ट्रेटों को पहुँच गया कि मै गिरफ्तार कर लिया जाऊँ। यह खबर तो मिली; पर मै कई जिलों मे घूम आया, कही गिरफ्तार नहीं किया गया! मैंने इसका यह कारण सुना कि जिले के अधिकारी समझते थे, मेरी गिरफ्तारी से बहुत हल्ला मचेगा। यह बला कोई जिला-मजिस्ट्रेट अपने सिर लेना नही चाहता था। ऐसा करने का पूरा मौका भी उनको मिल जाता था; क्योंकि मै इतनी तेजी से एक जिले से दूसरे जिले मे निकल जाता कि वह सोचते-विचारते ही रहते, मैं दूसरे जिले मे चला जाता!

अन्त मे, मै अपने जन्म-स्थान के जिले (सारन) में पहुँचा। वहाँ सख्त हुक्म गया, मुझे जरूर पकड़ लिया जाय; क्योंकि मै उसी जिले का रहनेवाला हूँ, इसलिए यह उसी जिले के मजिस्ट्रेट की खास जिम्मेदारी है। वहाँ की पुलिस तो इस ताक में रही; पर दो दिनों तक मुझे पकड़ न सकी। मै कुछ लुक-छिपकर नही जाता था, न कहीं

अपने को बचाने का प्रयत्न करता। पर मेरा कोई कार्यक्रम निश्चित नहीं होता था, न यही घोषित किया जाता था कि मैं कहाँ जाऊँगा। दो दिन के सफर के बाद मुझे छपरा मे रात को ठहरना था। वहाँ मेरे भाई साहब के साथ घर के सब लोग रहते थे। रात को प्रायः दस-ग्यारह बजे तक पुलिसवाले इन्तजार करते रहे। पर जब मै नही पहुँचा तो उनलोगों ने समझा कि मै कही दूसरी जगह चला गया। इसका पता लगाने वे दूसरी-दूसरी जगह चले गये। कई गाँवों मे घूमते-घूमते मुझे देर हो गई थी। इस वजह से मै ग्यारह बजे के बाद रात को पहुँचा था। दूसरे दिन जिधर मुझे जाना था उधर ही पुलिसवाले जाकर इन्तजार करने लगे। मै रात-भर छपरा में रहकर सवेरे जहाँ जाना था वहाँ के लिए रवाना हो गया। अभी शहर के भीतर ही था कि रास्ते मे पुलिसवाले मिल गये। मै गिरफ्तार कर लिया गया। उन्होंने इतनी भद्रता दिखलाई कि मुझे मेरे घर पर ले गये। वहाँ सबसे मिला-जुलाकर छपरा-जेल में पहुँचा दिया।

यह मेरा जेलखाने का पहला ही अनुभव था। जब मेरी गिरफ्तारी की खबर शहर मे फैली, लोगों ने एक जुलूस निकाल कर सारे शहर मे प्रदर्शन किया। जेल में उस समय तीन-चार सौ सत्याग्रही थे। जैसे ही मै जेल के फाटक के अन्दर पहुँचाया गया, सत्याग्रहियों को इसका पता लग गया। वे वहाँ शोरगुल मचाने लगे। नारा लगाते हुए जेल के फाटक के नजदीक आ गये। मै वहीं जेलर के कमरे में बैठा था कि इधर शहर का जुलूस भी जेल के नजदीक चला आया। जेल के अन्दर से लोग नारा लगाते थे और चाहते थे कि जेलर जल्द उन्हें मौका दे कि वे मेरा स्वागत करें। पर इधर बाहर की भीड़ और अन्दर की धूम से घबरा कर जेलर ने अपने सिपाहियों को हुक्म दे दिया कि बन्दूकों से झूठा फायर करो। बाहर का जुलूस जेल के अहाते के बाहर-ही-बाहर सड़क होकर जा रहा था। जेलर ने अपनी घबराहट में वह हुक्म दे दिया था। जब अन्दर के लोगों ने बन्दूक की आवाज सुनी तो उन्होने समझ लिया कि बाहर के लोगो पर गोली चल गई। वे अब तो इसपर और भी आवेश मे आ गये। मैंने जेलर से कहा कि मुझे एक बार अन्दर जाने दो तो सब शान्त हो जायँगे। पर जब तक बाहर हल्ला था, वह फाटक खोलने से डरता था। जब अन्त में उसने देखा कि बगैर इसके काम नहीं चलता है तब उसने मुझे एक खिड़की से कुछ कहने का मौका दिया। नतीजा यह हुआ कि सब शांत हो गये। गिरफ्तारी के समय मेरे भाई साहब छपरा मे नही थे। मेरा मुकदमा जेल में ही हुआ। उसी समय वह आये और उनसे मुलाकात हुई। छः महीने की सजा सुनाई गई। कुछ ऐसा इत्तिफाक हुआ कि दो बार—एक बार छपरा और एक बार पटना में—मुझे सजा देनेवाले मजिस्ट्रेट पुराने मुलाकाती ही मिल गये, जो वकालत के जमाने मे मेरे मुअक्किल रह चुके थे! उनके मुकदमे की पैरवी मैंने हाइ-कोर्ट में की थी। सजा तो उन्होंने दी; पर सिर उठाकर मेरी ओर कभी न देखा। डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट एक पंजाबी मुसलमान थे।

हजारीबाग-जेल में दूसरे बहुत सत्याग्रही रखे गये थे। बहुत लुका-छिपाकर मैं वहीं भेजा गया ताकि रास्ते में कहीं होहल्ला न होने पावे। छपरा से हजारीबाग सीधे

रास्ते से जाने में पटना और गया दो बड़े शहर पड़ते हैं, गंगा-पार करने के लिए सोनपुर-जैसे बड़े स्टेशन पर गाड़ी बदलनी पड़ती है, स्टीमर से गंगा-पार करना पड़ता है। इन सब जगहों पर प्रदर्शन का काफी मौका था। इस वजह से चुपचाप, बहुत घुमा-फिराकर, बनारस के रास्ते, प्रायः डेढ़ सौ मील मोटर का सफर कराके, किसी तरह मैं हजारीबाग पहुँचाया गया। जबतक मैं वहाँ जेल मे दाखिल न हो गया, किसीको इसका पता न लगा कि मैं कहाँ भेजा गया हूँ और किस रास्ते। छपरा-जेल के अधिकारियों को भी इसका पता न था; क्योकि मजिस्ट्रेट से मिलने के बहाने मैं जेल के फाटक पर बुलाया गया, जहाँ डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट अपनी मोटर लेकर तैयार था। वहाँ मैं जिस हालत मे पहुँचा उसी हालत मे, बिना कोई सरोसामान साथ लिये, अपनी गाड़ी में बिठाकर वह रवाना हो गया। जब शहर से गाड़ी बाहर निकल गई तब मुझसे कहा गया कि मैं कहाँ और किस रास्ते से हजारीबाग-जेल ले जाया जा रहा हूँ। जेल के अन्दर खबर मिलते ही कि मैं कही दूर ले जाया गया, लोगों ने शोर मचाया। दो-मजिले से उन्होंने चिल्ला-चिल्लाकर सड़क पर चलनेवालों को सुनाया कि मैं न मालूम कहाँ किस अज्ञात स्थान मे ले जाया गया। मेरे भाई साहब ने समझा कि हजारीबाग ही सब लोग ले जाये जाते है, इसलिए वही ले गया होगा। इसी वजह से वह मोटर से सोनपुर-स्टेशन तक गये कि कही मेल-मुलाकात हो जायगी; पर मैं उस रास्ते से तो गया नही था।

हजारीबाग पहुँच जाने के बाद डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट ने भाई साहब को खबर दी। उसने मुझसे मोटर मे ही बहुत तरह से माफी माँगकर कहा कि नौकरी मे इस तरह के काम करने ही पड़ते हैं—नौकरी छोड़ नहीं सकता, तब यह सब करना ही पड़ता है; पर इसका बन्दोबस्त कर दिया है कि यहाँ से वहाँ तक आपको कोई तकलीफ नहीं होगी। बात ऐसी ही हुई। मुझे कही तकलीफ नहीं हुई। जो पुलिस के अफसर साथ गये वे सभी अच्छा बर्ताव करते रहे।

जब मैं मोटर मे जा रहा था तो रास्ता गया-जिले के औरंगाबाद शहर से होकर था। मोटर को हुक्म था कि शहर में खूब तेजी से निकल जाना जिसमे कोई पहचान न सके। जो पुलिस का अफसर साथ था उसने कहा कि नजदीक ही अनुग्रह बाबू का घर है, वह बीमार हैं, अगर आप मिलना चाहते हों तो मैं उनके घर चलकर मुलाकात करा देता; पर शायद इस गाड़ी के पीछे-पीछे पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट भी अपनी मोटर से आ रहा है, इसलिए मैं वहाँ ले जाने से डरता हूं। मैंने कहा कि अनुग्रह बाबू का घर मैं भी जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि वह बीमार है, पर आप कायदे के खिलाफ कुछ न करें, मुझे मिलना नहीं है।

बाईसवाँ अध्याय

मुझे अफसोस है कि आहिस्ता-आहिस्ता जेल के बहुतेरे अधिकारियों का रुख बदल गया। कुछ तो आरम्भ से ही दूसरे विचार के थे। पर कुछ ऐसे भी थे जो सत्याग्रहियों को पहले बड़ी श्रद्धा की निगाह से देखते थे, वे भी एक प्रकार से तटस्थ हो गये। इसका कारण कुछ सत्याग्रहियों की गलतियाँ थीं। महात्माजी ने बार-बार चिताया था कि वही कानून तोड़ने का सच्चा अधिकारी हो सकता है जो कानून की पाबन्दी अच्छी तरह कर सकता है। इसका अर्थ यह था कि जो यों ही कानून तोड़ा करता है वह सत्याग्रह की भावनाओं से कानून नहीं तोड़ सकता; क्योंकि वह तो यों ही मामूली तौर से भी तोड़ा करता है—सत्याग्रह की भावना न उसके हृदय मे उठेगी और न दूसरों पर ही वैसा असर होगा। इसलिए उन्होंने बताया था कि जेल के अन्दर सभी कायदों को मानना चाहिए—सिवा ऐसे कायदों के जिनसे स्वाभिमान पर ठेस लगती हो। इस तरह का एक नियम था जिसके सम्बन्ध में १९२१ से ही कांग्रेसी लोग लड़ते आये थे। १९३० में भी वह जेल की किताबों में भले ही हो, पर सत्याग्रहियों के साथ वह व्यवहार में नही लाया जाता था। वह नियम यह था कि जब कोई बड़ा अधिकारी आता था तब सब कैदियों को कतार में खड़ा होना पड़ता था। फिर एक सिपाही के 'सरकार सलाम' कहने पर सबको अपना एक हाथ पंजा खोलकर दिखाना पड़ता था और दूसरे हाथ से ओठ बिदोरकर दाँत दिखलाना पड़ता था। इसमें एक तो ब्रिटिश गवर्नमेंट की सत्ता को सलामी देनी पड़ती थी और दूसरे एक हीन-दीन व्यक्ति की तरह दाँत बिदोरना पड़ता था। इस तरह के नियम बनाने का कारण चाहे जो हो, यह बहुत बुरा और अपमान-जनक मालूम होता था। इसलिए इसका क्रियात्मक रूप से विरोध १९२१ से ही आरम्भ हो गया था। इसको न मानने के कारण सत्याग्रहियो को बहुत प्रकार के कष्ट उठाने पड़े थे। अन्त में ऐसा हो गया था कि जबतक जेल के अधिकारी, कैदी सत्याग्रहियों के साथ झगड़ा बिसाहने की ठान नही लेते, 'सरकार सलाम' नही कहते; क्योकि ऐसा कहने से ही संघर्ष पैदा हो जाता। दूसरे नियम भी, जो कुछ अपमानजनक मालूम होते, कुछ ऐसे ढीले हो गये थे कि सत्याग्रहियों को उनसे बहुत जेलों मे छुटकारा मिल गया था; जहाँ नही मिला था वहाँ कुछ-न-

कुछ संघर्ष होता ही था। पर सत्याग्रही केवल ऐसे ही नियम का उल्लंघन नही करते थे जिनका उल्लंघन करना महात्माजी ने जायज बताया था; बल्कि वे दूसरे नियमों को भी अवहेलना कर देते थे जिनसे हमारा अपना चरित्र गिरता और कमजोर होता।

एक मामूली नियम था चिट्ठियो के सम्बन्ध मे अथवा अखबार या पुस्तके मँगाने के सम्बन्ध में। नियम के विरुद्ध भी हममे से अक्सर लोग ये सब चीजें किसी-न-किसी तरह से मँगाते थे। वे लोग अपनी ओर से भी खबर और चिट्ठियाँ भेज देते। इसके लिए बहुत ऐसे काम करने पड़ते जो अनुचित थे। जेल के सिपाही और दूसरे अधिकारी भी सत्याग्रहियो को इसमें सहायता या प्रोत्साहन देते; क्योकि उनमे जो अच्छे थे वे तो यह मानते थे कि ऐसा करके हम एक प्रकार की सेवा ही कर रहे है और जो बुरे थे वे शायद इन कमजोरियों की खबर दूसरे अधिकारियों तक पहुँचा देते थे। इसका एक फल यह देखने मे आया कि कुछ लोग इस तरह की छोटी-मोटी मेहरबानियो के लिए अधिकारियों की खुशामद भी करते। अगर किसी सत्याग्रही के साथ अधिकारियों का अधिक सम्पर्क हो गया तो इस कारण से सत्याग्रहियों में भी आपस का मनमुटाव हो जाता। जो होशियार अधिकारी थे वे चाहे इस तरह की जितनी भी सेवा क्यों न कर दे, ऐसी सेवा चाहनेवाले सत्याग्रहियों के प्रति उनके दिल मे उतनी इज्जत नही रह जाती। इस तरह, बहुतेरो के प्रति उनकी श्रद्धा, जो शुरू मे होती थी, कम हो जाती।

हमारी कमजोरी दूसरे प्रकार से भी जाहिर होती। जेल के अधिकारियो के साथ खान-पान की चीजों के लिए भी कभी-कभी संघर्ष होता। मगर इससे भी खराब तो यह था कि आपस मे भी इस तुच्छ बात के लिए कभी-कभी झगडे हो जाते। उसी साल जेलो मे एक नया नियम लागू हुआ, जिसके अनुसार तीन विभागो मे कैदी बाँट दिये गये। जो सबसे ऊँचे दर्जे के—'ए'-वर्ग के—थे उनके लिए खानपान, मुलाकात और चिट्ठियों की अधिक सुविधा थी। उनको अपने कपड़े पहनने का हक था। वे काम करने से बरी थे। जो दूसरे अर्थात् 'बी'-वर्ग के थे उनको खान-पान की तो वही सुविधा थी जो 'ए'-वर्ग वालो को, पर चिट्ठियो तथा मुलाकातो की सुविधा 'ए-वर्ग के मुकाबले कम थी—जेल के कपड़े उन्हे पहनने पड़ते और जिनको सख्त सजा मिला होती वे काम करने के लिए भी बाध्य थे। तीसरे दर्जे अर्थात् 'सी'-वर्ग के लिए, पहले के दो वर्गों के मुकाबले खानपान की और दूसरी सब सुविधाएँ बहुत ही कम थीं। यह वर्गीकरण कसूर के आधार पर नही किया गया था, बल्कि कैदी की, जेल जाने के पहले की, रहन-सहन और मान-प्रतिष्ठा तथा हैसियत के आधार पर किया गया था। इसमे राजनीतिक कैदी और दूसरे कैदियों के बीच कोई भेद नही था। ऐसे कैदी भी, जो फरेब-जालसाजी और खून तक के लिए सजा पाये हुए थे, पर जिनको 'बी'-वर्ग मिल गया था, उन सभी सुविधाओं को पाये हुए थे जो 'बी'-वर्ग के राजनीतिक कैदियो को मिली हुई थी।

महात्माजी ने कहा था कि राजनीतिक कैदियो का अलग वर्गीकरण होना मुनासिब नही है; क्योंकि हम जब जेलखाने जाते है तब हमको और कैदियों की तरह ही अपने को समझना चाहिए और जो सुख-दुख दूसरे भोगते है वही हमको भी भोगना चाहिए,

इससे जो दूसरे कैदी होंगे उनके साथ हमारी सहानुभूति होगी और उनकी सहानुभूति हमारे साथ; हो सकता है कि जेल के अधिकारियों का जो बर्ताव मामूली कैदियों के साथ बहुत कड़ा हुआ करता है वह हम लोगों के कारण कुछ बदल जाय और जो सुविधाएँ हम लोगों को मिलें वे ही मामूली कैदियों को भी मिलने लग जायँ; यदि हमारा चरित्र ठीक रहा तो कुछ अच्छा असर मामूली कैदियों पर भी पड़ सकता है। महात्माजी की आशा थी कि इस प्रकार जेल के अन्दर भी हम अपनी सुनीति और शुद्ध आचरण से मामूली कैदियों की कुछ सेवा कर सकेंगे, मुमकिन है कि जेल में हमारी वजह से बहुत सुधार हो जाय; इस प्रकार से हमलोगों पर भी अच्छा ही असर पड़ेगा; क्योंकि हम अपने को जन-साधारण में ही समझते रहेंगे, देशसेवा का गर्व हमको कलुषित नही करेगा, जेल के अधिकारियों पर भी इसका अच्छा असर पड़ेगा।

पर ये बाते हमारे लोगों को नही जँचीं। उनमे तो हमेशा इस बात की चर्चा होती रही कि राजनीतिक कैदी दूसरे मामूली कैदियों से अलग समझे जायँ, उनका वर्गीकरण अलग किया जाय। उस वक्त ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इसको सिद्धान्त-रूप से नहीं माना, पर व्यवहार में राजनीतिक कैदी अलग ही समझे जाने लगे। इसका एक कारण यह भी था कि जेल के अधिकारी डरते थे कि सत्याग्रही मामूली कैदियों को भी बिगाड़ देंगे, जेलो में उनसे भी विद्रोह करा देंगे, तब उनके लिए मामूली कैदियों को अनुशासन मे रखना कठिन हो जायगा। इसी विचार से सत्याग्रहियो के साथ मामूली कैदियों का, जहाँ तक हो सकता, कम सम्पर्क होने दिया जाता। जब राजनीतिक कैदियों की सख्या बढी तो उनके लिए अलग जेलखाने ही कायम हो गये—कुछ नये और कुछ पुराने, जिनमें केवल राजनीतिक कैदी ही रखे जाते। यदि किसी जेल में दोनो प्रकार के कैदी होते, तो वे अलग-अलग आँगनो मे रखे जाते जिसमे उनके एक दूसरे से मिलने-जुलने का कम-से-कम मौका आवे। इस तरह, दूसरे कैदियों से सत्याग्रही अक्सर अलग ही रखे जाते रहे। कही-कही तो सत्याग्रहियो मे और दूसरे कैदियों मे संघर्ष भी हुआ, पर बहुत कम। इतना जरूर हुआ कि जितना असर हम अपने सम्पर्क और सदाचरण से मामूली कैदियों पर डाल सकते थे उतना नही डाल सके। इसमे हमारी अपनी कमजोरियाँ तो थी ही, कुछ जेल की ऐसी नीति भी थी।

वर्गीकरण का एक दूसरा असर सत्याग्रहियों पर पड़ा जो बहुत बुरा था; क्योंकि इससे आपस मे वैमनस्य भी पैदा हो जाता था। कुछ सत्याग्रहियों की इच्छा थी कि वे 'ए' या 'बी' वर्ग मे रखे जायँ। इसके लिए वे स्वयं, या उनकी तरफ से दूसरे लोग, जेल के अन्दर या बाहर, अधिकारियों के पास पहुँच कर कोशिश करते। यदि किसी को 'ए'-वर्ग मिल जाता तो कुछ लोग ऐसे भी होते जो उसे बुरा मानते और डाह करते! और, जिनको ऊपर का वर्ग मिल जाता उनमे से कुछ ऐसे भी होते जो अपने को 'सी'-वर्ग वालों के मुकाबले बड़ा मानकर कुछ घमंड करते। यह आपस का वैमनस्य कुछ अधिक बढ़ जाता अगर 'सी'-वर्ग के साथ ही 'ए'-वर्ग और 'बी'-वर्ग के राजनीतिक साथी रखे जाते। पर अधिकारियों ने दोनों को, अपनी सुविधा के

मैंने वादा भी किया था। किन्तु जेल से छूटकर वह फिर मेरे पास नहीं आया। एक कुष्ठ-आश्रम में वह सेवाकार्य कर रहा है। जब मैं इत्तिफाक से उस कुष्ठ-आश्रम में गया तो उससे मुलाकात हुई। मालूम हुआ कि वह वहाँ के काम से सन्तुष्ट है, आश्रम के लोग भी उससे बहुत सन्तुष्ट हैं। इस तरह सुधरे और सुलझे हुए कैदी बहुत कम ही निकलते हैं।

एक जो बचपन में गिरहकट बन गया, जितनी बार जेल गया, अधिक दक्ष गिरहकट बनता गया! मैंने देखा कि एक बार बैलगाड़ियों पर चावल जेल में लाया गया। वे गाड़ीवान बाहर के देहाती आदमी थे।' । वे बिचारे सीधे-सादे और निःशंक थे। जेल के कैदियों ने चावल के बोरे उनकी गाड़ियों से उतारे। न मालूम कब और कैसे, बोरे के साथ ही, गाड़ीवान की जेब में जो पैसे थे वे भी निकाल लिये! इसका पता उस बिचारे को चलने के समय लगा। किसने निकाला, इसका पता तो जेल के अधिकारी भी न लगा सके! जब बहुतेरे चोर, गिरहकट, डकैत इकट्ठे होते हैं तो एक दूसरे से बातें करते रहते हैं, एक दूसरे के अनुभव से लाभ उठाते रहते हैं, नित नये ढंग भी सीखते रहते हैं। जेल के एक सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझसे कहा था कि जेल के अफसर भी ऐसे लोगों के साथ रहते-रहते कुछ वैसे ही हो जाते हैं! उनमें से थोड़े ही ऐसे होते हैं जो अपने को इस असर से बचा सकते हैं। बात भी सही है। वे अगर अच्छे हों तो कैदियों को सुधार भी सकते हैं। पर जेल के सारे नियम ऐसे बने हैं कि उनमें सुधार की गुंजायश नहीं के बराबर है! उनमें हर तरह से डर पैदा करके दिल तोड़ने की कोशिश रहती है! इसलिए, अगर कोई सुधर जाता है तो वह अपने पूर्व-जन्म के भाग्य से ही, जेल के नियमों की वजह से नहीं!

जेल में अधिक ऐसे ही लोग जाते हैं जो हृष्ट-पुष्ट होते हैं, जो कैद होने के पहले काम करके कुछ पैदा करते रहते हैं। उनसे ठीक तरह से काम लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि वे कम-से-कम इतना क्यों न कमा लें जो उनके खाने-पीने के लिए काफी हो। मामूली तौर से एक जवान आदमी जेल के बाहर इतना पैदा करता है कि वह अपने और अपनी स्त्री तथा बालबच्चों को खिला सकता है। वह आदमी जेल में जाकर गवर्नमेंट पर भार बन रहता है। केवल उसकी रक्षा के लिए ही खर्च नहीं करना पड़ता, बल्कि उसको जो खाना-कपड़ा दिया जाता है वह भी गवर्नमेंट को—अर्थात् समाज से 'कर' वसूल करके—देना पड़ता है। यह समाज के लिए तिगुना नुकसानदेह साबित होता है। एक तो उसने समाज के विरुद्ध कुछ काम किया जिसके लिए उसको सजा मिली, दूसरे वह जो कुछ पैदा कर सकता था और दूसरों को तथा अपने को पाल सकता था वह बन्द हो गया, तीसरे उसके खाने-कपड़े के लिए समाज को खर्च करना पड़ा। यदि जेल की नीति सुधर जाय तो यह सब नुकसान रुक सकता है—जेल के खर्च का बहुत बड़ा हिस्सा, कैदियों से उनके योग्य काम लेकर, निकाला जा सकता है। इसके लिए जेल के ध्येय को बदलना आवश्यक है। जेल अगर डराने और सजा देने की जगह न रहकर सुधार की जगह बन जाय, जहाँ बिगड़े हुए लोग जाकर अच्छे हो जायँ, तो इससे बढ़कर समाज की दूसरी सेवा नहीं हो सकती। तब अगर कोई आदमी इत्तिफाक से जेल चला भी जाय तो वह बेहतर

होकर वहाँ से निकले और बाहर भी समाज का बेहतर आदमी होकर रहे—वह जेल के अन्दर भी काम करके इतना पैदा कर ले कि जेल का महकमा खर्च का महकमा न रहकर आमदनी का महकमा बन जाय। इसके लिए उस प्रकार के अधिकारी होने चाहिए, जो उस नीति को खूब समझे, जो कैदियों के साथ केवल कड़ाई का ही नहीं—सहानुभूति का भी बर्ताव करे; उनको सिर्फ डरावे ही नही, बल्कि उनकी आत्मा को भी जाग्रत करे, उनकी रहन-सहन को भी सुधारे।

यह एक ऐसा विषय है जिसपर बहुत-कुछ कहा जा सकता है। इसके सम्बन्ध में बहुत साहित्य भी बन गया है। कई देशों मे सुधार की नीति से काम भी लिया जा रहा है। हमलोग अपने अनुभव से काम लें और जेल का सुधार करना चाहें, तो बहुत-कुछ कर सकते है। पर जहाँ तक मुझे मालूम है, जो कुछ थोड़ा-बहुत सुधार का प्रयत्न किया गया है वह अधिकतर राजनीतिक कैदियों को ज्यादा सुविधा देने के लिए ही किया गया है ! पर सच पूछा जाय तो अधिक ध्यान देने योग्य मामूली कैदी ही है; क्योंकि राजनीतिक कैदी तो कुछ दबंग और होशियार होते है, अपना काम कई तरह से—कुछ दबाकर, कुछ तिकड़मबाजी से, कुछ अपने अच्छे प्रभाव से—निकाल लेते है। पर गरीब मामूली कैदी, जो बहुत अनुभवी और बदमाश कैदी नही हो जाते, बिचारे ज्यों-के-त्यो रह जाते है !

मेरा विचार है कि जेल के सुधार में तीन-चार बातों पर ध्यान देना जरूरी है। उसके नियम, जहाँतक हो सके, इस दृष्टि से बदले जायँ कि कैदियो के कितने ऐसे विभाग हो सकते है। जिनके कारण, अकस्मात् किसी गलती से जेल गये हुए आदमी का ऐसे कैदियों से सम्पर्क न हो जो सचमुच छँटे बदमाश है। अक्सर गाँव के लोग आपस मे लड़झगड़ जाते है। उनको जेल की सजा हो जाती है। पर वे दिल के बुरे नही होते, सिर्फ गुस्से में आकर या और किसी आगन्तुक कारण से कोई गलती कर देते है। ऐसों को बदमाश कैदियों की संगति से अलग रखना चाहिए। जो कैदी कम उम्र के होते है वे आज भी अलग रखे जाते है; पर उनके सुधारने का कोई समुचित प्रबन्ध नही होता है—वह होना चाहिए। उनमें भी यह देखना चाहिए कि कौन बार-बार जेल आया-गया है और कौन अकस्मात् किसी गलती के कारण आया है। इन दोनों प्रकार के युवकों को भी अलग-अलग रखना चाहिए। यह नियम आज भी है, पर इसका ठीक व्यवहार नही होता। ऐसे युवकों को पुराने बदमाश कैदियों के साथ कभी न रहने देना चाहिए। मैंने देखा है कि जेल के अन्दर ये सुधरने के बदले और भी अधिक चोरी-गिरहकटी आदि दुर्गुणों में निष्णात बन जाते है; क्योंकि जो बड़े और पुराने होते है वे छोटों और नयों में अपने दुर्गुण अधिक दे देते है। शिक्षा, अच्छे लोगों की संगति, मन को काम में बहलाये रखना, किसी प्रकार का प्रलोभन न मिलना—सुधार के ये ही उपाय है। मनोविज्ञान जाननेवाले यह बता सकते है कि किन-किन तरीकों से वे युवक सुधारे जा सकते है। अभी जो प्रयत्न है वह नहीं के बराबर है। बड़ों में भी कसूर के खयाल से कई विभाग किये जा सकते हैं। पर यह सब तभी चल सकता है जब जेल के अधिकारी स्वयं इस नीति को समझ लें, वे भी इस सम्बन्ध का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लें।

खयाल से, अलग-अलग रखा। अतः झगड़ा उस हद तक नहीं बढ़ा जहाँ तक बढ सकता था। तो भी इन सब कारणों का यह फल तो अवश्य हुआ कि हम जितना नैतिक प्रभाव जेल के अधिकारियों पर डाल सकते थे, नही डाल सके !

सत्याग्रहियों को जेल का अनुभव काफी मिला है। जब हमारे हाथों मे अधिकार आया तो हमको जेलों मे सुधार करने का मौका है और हम अपने अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं। मैंने देखा कि जेल के जितने नियम बने हैं, सब अनुभव से ही बने हैं। छोटी-छोटी बातें भी, जिनका अर्थ पहले समझ मे नही आता था, कुछ अर्थ रखती है, जो अनुभव पर ही अवलम्बित है। मैंने देखा कि जेल का एक सिपाही प्रतिदिन, तीन-चार बजे के करीब सेपहर को, लोहे की एक छोटी-सी छड़ लेकर, दरवाजो और जंगलो मे लगी हुई छड़ों पर हल्की चोट देते हुए, एक तरह से जलतरंग-सा बजाता हुआ, चला जाता था। मैंने कई दिनों तक इस तरह देखा। पहले तो यह समझ मे नही आया कि ऐसा क्यो करता है; पर पीछे मालूम हुआ कि वह प्रत्येक छड़ को जाँच लेने का एक तरीका था, अगर कही कोई छड़ कटी या टूटी हो तो उसकी आवाज भिन्न प्रकार की होगी। कैदियो के पास कोई रस्सी या सूत का डोड़ा (पैसे रखने की लम्बी जालीदार थैली) तक और लम्बा कपड़ा भी रहने देने का कायदा नही है। पहनने के लिए तो जाँघिया और आधी बाँह का कुर्ता तथा ओढ़ने के लिए कम्बल मामूली तरह से मिलते हैं। इनके अलावा एक डेढ फुट लम्बा-चौड़ा रूमाल। लम्बा कपड़ा तथा रस्सी इसलिए नही दी जाती कि कैदी कही गलफाँसी न डाल ले। डोड़ा भी इसलिए नही दिया जाता कि ऐसा देखा गया है कि डोंड़े से घिस-घिसकर लोहे की छड़ काट कैदी भाग गये है। जेल के सारे अहाते के अन्दर कोई चीज भी, जो एक जगह से दूसरी जगह हटाई जा सके, रात को बाहर नही छोड़ी जाती; क्योंकि उसके सहारे दीवार पर चढ़कर कैदी भाग सकता है। इसलिए कोई रस्सी भी बाहर नही छोड़ते। कपड़े सुखाने के लिए बहुत दिनो तक हमलोगों को भी रस्सी मिलने मे दिक्कत रही। पीछे मिली भी तो सिपाही उसे सबेरे लाता और फिर शाम के पहले वापस ले जाता।

जेल के अहाते के अन्दर पपीता अथवा केला-जैसे हल्के लम्बे झाड़ भी रहने देने का हुक्म नही है; क्योंकि वे आसानी से तोड़े या काटे जा सकते है; उनको दीवार से लगाकर कैदी निकल-भाग सकता है। ऊँची दीवार के नजदीक कोई दरख्त भीतर या बाहर नहीं रहने दिया जाता। जो दरख्त देखने मे आते है वे इतनी दूरी पर रहते है कि उन तक कोई छलाँग मारकर भी नहीं पहुँच सकता। रात में एक कैदी बारी-बारी से हर कमरे में जागता रहता है। वह चिल्ला-चिल्लाकर सिपाही को बताता रहता है कि उस कमरे में जितने कैदी बन्द हुए थे सब गिनती के मुताबिक मौजूद हैं। हर बैरक मे एक रोशनी जलती है। पर वह इतनी ऊँची रखी जाती है कि वहाँ तक कोई पहुँच नही सकता। जब रात को सिपाही बदलता हैं तो गिन लेता है कि जितने कैदी बन्द हुए थे वे सब मौजूद हैं या नही। दिन को भी कई बार कैदियो की गिनती की जाती है। शाम को जब सब बैरक बन्द हो जाते हैं तो गिनकर देख लिया जाता है कि जितने नये आये

और छूटे उन सबका हिसाब मिलाकर जेलखाने के अन्दर जितने मौजूद होने चाहिए उतने है या नहीं। अगर कहीं हिसाब में गलती हो गई रहती है तो अधिकारियों को बहुत परेशानी होती है। जबतक हिसाब ठीक नहीं मिल जाता, वे दिन-भर का काम समाप्त नहीं समझते। उसी तरह, सवेरे भी, जबतक गिनती मिल नही जाती, परेशान रहते है, कैदियों को बैरक से बाहर निकलने नही देते। इतना सावधानी के बावजूद भी कैदी भाग ही जाते है—कभी दीवार टप कर, कभी लोहे का सीखचा तोड़कर, कभी और किसी प्रकार से। इसमे शक नहीं कि सभी नियमों की अगर ठीक पाबन्दी की जाय तो निकल-भागना बहुत मुश्किल है।

इन नियमों की उपयोगिता कैदियों को भागने से रोकने मे है; पर कुछ नियम ऐसे भी है जो उनके दिल पर यह छाप डालते रहते है कि आखिर वे कैदी ही है, वहाँ कष्ट सहने के लिए ही वे भेज गये है और दूसरे मनुष्यों से हीन-दीन तथा भिन्न है! अपमान तो उनको कदम-कदम पर सहना पड़ता है। शरीर की रक्षा के लिए प्रबन्ध अच्छा रहता है—अगर उन्हें खाने के लिए नियम के अनुसार जो कुछ मुकर्रर है वह ठीक तरह से दिया जाय, उसमें चोरी न हो, तो वह स्वास्थ्य के लिए काफी है। जेल के अन्दर बीमारों के लिए भी इन्तजाम ठीक रहता है, पर कर्मचारी हमेशा अपना कर्तव्य पूरा नही करते; इसलिए खाना और दवा दोनों से बहुत कैदी वंचित रह जाते है, जितना उनको मिलना चाहिए उतना नही मिलता! मुझे सब चीजों को देखकर ऐसा मालूम हुआ कि सारे प्रबन्ध की नीति यह है कि कैदी के दिल मे डर पैदा किया जाय, उसकी आत्मा दबा दी जाय, हिम्मत तोड़ दी जाय, जिससे वह जब कभी बाहर निकले तो एक पस्त-हिम्मत और निराश तथा दुःखी आदमी होकर ही निकले! कैदियों से कुछ काम भी लिया जाता है। पहले कुछ काम ऐसे भी होते थे जो उनके शरीर और मन दोनों को तोड़ डालते थ। जैसे, कोल्हू का काम; पर वह अब बिहार मे उठा दिया गया है। दूसरे जो काम है वे ऐसे है जिन्हें लोग बाहर भी किया करते है, उनके करने में कोई दिक्कत नही मालूम होती। कुछ ऐसे काम भी कराये जाते है जिनको अगर कैदी सीख ले और बाहर आकर करना चाहे, तो उसको एक रोजगार मिल जाय, वह अपने को आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र बना ले; पर मै नही जानता कि इससे कितने कैदी लाभ उठाते है। हाँ, मैंने एक ऐसे कैदी को देखा है जो कई बार जेल जाकर दरी-गलीचा बनाने के काम में इतना दक्ष हो गया कि वह अच्छी-से-अच्छी चीजें तैयार कर सकता है। अन्त मे, छूटने पर, जेल में ही दूसरे कैदियों को यह काम सिखाने के लिए वह नौकर रख लिया गया। वह कई वर्षों से यह काम कर रहा है। अब वह सुखी भलामानस बन गया है। इसी तरह, एक दूसरे कैदी को भी मैंने देखा। वह बड़ा नामी डकैत था। बहुत दिनों तक पुलिस उसे पकड़ने में असमर्थ रही। आजीवन जेल की सजा पाकर वह जेल गया। वह भी बहुत होशियार हो गया था। कपड़ा बुनने इत्यादि का काम खूब अच्छी तरह जान गया था। उसका जीवन भी सुधर गया। उसने मुझसे कहा था कि जेल से बाहर निकलने पर मै उसको खादी के काम मे नौकर रखवा दूँ।

तेईसवाँ अध्याय

ब्रिटिश गवर्नमेंट की दोधारी नीति काम कर रही थी। एक ओर सत्याग्रह दबाने का प्रयत्न किया जा रहा था, दूसरी ओर गोलमेज-कान्फ्रेंस का आयोजन करके यह दिखलाया जा रहा था कि वह भारतवर्ष को राजनीतिक अधिकार देने की तैयारियाँ कर रही है। जिस समय हमलोग जेल में थे उसी समय एक प्रयत्न हुआ कि कांग्रेस के लोग भी इस कान्फ्रेंस मे शरीक हों। इस बातचीत का आरम्भ एक अंग्रेजी पत्रकार के द्वारा, जिसका नाम था स्लोकोम्भ, पं० मोतीलालजी के साथ हुआ। पं० मोतीलालजी, पं० जवाहरलाल आदि—महात्मा गाधी के साथ सलाह-मशविरा करने के लिए—नैनी-जल (प्रयाग) से यरवदा-(पूना)-जेल मे ले जाये गये। जबतक यह बात चलती रही, सभी जेलों मे जहां-जहाँ सत्याग्रही थे, तरह-तरह की बाते होती रही। कुछ लोग तो इस बातचीत को बड़ी आशा से देख रहे थे; क्योकि वे समझते थे कि इसके द्वारा कोई समझौता हो जायगा, जेलखाने का धंधा बन्द हो जायगा! दूसरे लोग समझते थे कि अभी तक हम लोगों का त्याग इतना नही हुआ है कि उसका असर ब्रिटिश गवर्नमेंट पर ऐसा पड़ा हो कि वह हमे सचमुच स्वराज देने के लिए तैयार हो गई हो। कुछ लोग ऐसी बात को दूसरे प्रकार से सोचा करते थे कि हमने अभीतक इतना कुछ नही किया है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट हमसे दब जाय और मजबूर होकर हमारी बात मान ले। बाहर के जो लोग इसमें दिलचस्पी ले रहे थे, जिनमे सर तेजबहादुर सप्रू तथा डा० जयकर मुख्य थे, दिल से चाहते थे कि कोई समझौता होकर झगड़ा खतम हो जाय। पर बातचीत का नतीजा कुछ नही निकला। गवर्नमेंट चाहती थी कि कांग्रेस के लोग कान्फरेंस मे शरीक हों; क्योकि वह जानती थी कि कांग्रेस के साथ यदि कुछ तय नहीं हुआ तो गोलमेज-कान्फरेंस बिना वर की बरात होकर रह जायगी। पर वह कांग्रेस की माँग पूरी करने के लिए तैयार नहीं थी। उसको तो यह भी दिखलाना था कि कांग्रेस को छोड़कर भी वह अपना काम चला लेगी, जैसा उसने १९२१ में किया था।

गोलमेज-कान्फरेंस हुई। उसमें कांग्रेस को छोड़कर और-और लोग शरीक हुए। उसमें देशी रजवाड़े भी शरीक थे। उस कान्फरेंस का एक अच्छा फल यह हुआ कि

राजा लोगों ने भी अपनी ओर से कह दिया कि सारे भारतवर्ष का यदि एक संघ बने तो वे भी उसी में शरीक हो जायँगे। इससे, आजतक जो भारत दो भागों मे विभक्त था—अर्थात् ब्रिटिश सरकार के अधीन और रजवाड़ोंवाला हिस्सा—उसके एक हो जाने का रास्ता खुल गया। पर शायद ब्रिटिश गवर्नमेंट ने यह समझ लिया था कि ब्रिटिश भारत को वह बहुत दिनों तक अधिकारों से वंचित नहीं रख सकेगी; पर रजवाड़ों को साथ मिलाकर—जहाँ प्रजातंत्र का अभीतक कोई नाम नहीं था—वह रजवाड़ों की मार्फत परोक्ष रीति से अपने हाथों में अधिकार रख सकेगी। शायद इसी लिए उसने इस चीज को पसन्द किया। कांग्रेस की गैरहाजिरी में कोई अंतिम फैसला हो नहीं सकता था। कान्फरेंस इस आशा के साथ उस साल स्थगित की गई—ऐसा सोचकर कि वे लोग जब फिर मिलेंगे तब कांग्रेस भी उसमें शरीक होगी और तब कोई सर्वमान्य निर्णय हो सकेगा।

इधर इस बात का प्रयत्न किया गया कि कांग्रेस के लोग गोलमेज-कान्फरेंस में किसी तरह पहुँचाये जायँ। इसका पहला कदम यह हुआ कि जो काँग्रेस-नेता जेल में थे वे छोड़ दिये गये कि वे आपस में मिलकर इस विषय पर विचार करें। गवर्नमेंट जानती थी कि जबतक उनको बिना शर्त छोड़कर पूरी आजादी के साथ विचार करने का मौका नही दिया जायगा तबतक वे कुछ नही करेगे। इसलिए, वर्किङ्ग-कमिटी के सभी सदस्यो, जो इस जमाने मे कुछ दिनों के लिए ही अस्थायी रूप से मेम्बर बनाये गये थे, छोड़ दिये गये। प्रयाग में बातचीत हुई। सर तेजबहादुर सप्रू आदि गोलमेज-कान्फरेस से वापस भारत आ गये थे। उन्होंने वहाँ की सब बाते बताकर अपनी राय दी। अन्त मे यह निश्चय हुआ कि मौका अगर मिले तो महात्माजी वायसराय लार्ड इरविन से बातें कर सकते है। ठीक इसी समय, जब ये बाते चल रही थीं, देश के दुर्भाग्य से, पं० मोतीलाल नेहरूजी का देहान्त हो गया! सारे देश मे मातम छा गया! पर काम तो करना ही था, इसलिए बातचीत जारी रखने का निश्चय कायम रहा।

इन दिनों दो विचार-धाराएँ चल रही थी। कुछ लोग तो चाहते थे कि किसी-न-किसी तरह सुलह हो जाय। किन्तु कुछ लोग सुलह चाहते तो थे, पर उसी हालत मे कि ब्रिटिश गवर्नमेंट हमारी बातों को मानकर कम-से-कम आगे के लिए रास्ता साफ कर दे। महात्माजी लार्ड इरविन से दिल्ली मे बात करने लगे। वर्किङ्ग-कमिटी के लोग उनके साथ ही डा० अंसारी के घर पर ठहरे थे। वह जो कुछ बाते वहाँ करके आते, सबको सुना देते। उनका बहुत जोर नमक-कानून पर था, जो सत्याग्रह का मुख्य साधन बनाया गया था। सरदार वल्लभ भाई का जोर था कि जो जमीन किसानो की जब्त हुई है, वह वापस कर दी जाय। जो सत्याग्रही कैदी जल म थ उनको तो छूटना था ही। जो आश्रम वगैरह जब्त थे उनको भी वापस होना था। बाते कई दिनों तक चलती रही। अन्त मे समझौते का एक मसौदा तैयार हुआ। बीच-बीच में बातचीत की खबर देकर लंदन से मजूरी लेने के लिए बातचीत रोक भी दी जाती थी। टहलने के समय मै महात्माजी के साथ अक्सर सवेरे बाहर जाया करता था। उस वक्त बहुत बातें हुआ करती थी। मेरी इच्छा तो थी कि सुलह हो जाय, पर साथ ही, मैं चाहता था कि शर्तें

फौज के अफसरों और सिपाहियों को बहुत दिनों तक विशेष शिक्षा दी जाती है। पुलिस के अफसरों और सिपाहियों की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। जो मुन्सिफ और मजिस्ट्रेट होते हैं वे भी स्कूल-कालेज में शिक्षा पाये होते हैं, तो भी कुछ दिनों के लिए उनको विशेष शिक्षा अपने खास कानूनी काम के लिए लेनी पड़ती है। पर, जहाँतक मैं जानता हूँ, जेल के अधिकारियों के लिए किसी विशेष प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है। वे नियुक्ति के बाद ही किसी जेल में रख दिये जाते हैं। जो काम वहाँ होता रहता है उसीको देखकर जो कुछ सीख सकते हैं, सीखते हैं—अर्थात् पुरानी रीति को ही सीखते और काम में लाते हैं। इसका एक प्रमाण यह है कि जो जेल के सबसे बड़े अफसर होते हैं वे या तो फौज या पुलिस से या डाक्टरों मे से या किसी दूसरे विभाग से ले लिये जाते है। उनको जेल-सम्बन्धी कोई विशेष ज्ञान नही होता; पर शासन का काम ठीक जानते है ! जेलर वगैरह तो नीचे से तरक्की पाते-पाते ही नियुक्त होते हैं। इस तरह, यह सारा महकमा ऐसे लोगों के हाथों में है जो मनोविज्ञान का कोई ज्ञान नहीं रखते—आज संसार के देशों में जेल-सम्बन्धी जो सुधार हो रहे है उनसे भी परिचय नहीं रखते और जिनके सामने सुधार का कोई आदर्श भी नही होता। वे जानते हैं केवल एक बात—किस तरह कैदी से जेल के नियम मनवाये जायँ और किसी तरह कोई कैदी निकल-भागने न पावे ! कैदी के सुधारने का तो कोई सवाल ही उनके सामने नहीं होता। जो नियम कैदियों के खानपान के लिए बनाये गये है वे ऐसे हैं कि मेरे एक मित्र कहा करते थे कि कैदी को इतना खाना मिल जाता है कि वह न मरे न मुटाये, और जेल के अधिकारियों का तो यही प्रयत्न रहता है कि जेल से जो निकले वह भयभीत होकर निकले, सुधर कर नही ! पर इसका नतीजा अक्सर यही होता है कि जो भला आदमी इत्तिफाक से जेल चला गया है, जिसको अधिक भयभीत करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह फिर कोई कसूर नही करनेवाला है, वह तो भयभीत होकर निकलता है; पर जो छँटा बदमाश रहता है वह तो बाहर केवल मन-बहलाव के लिए जाता है, वह जेल के अन्दर जो कुछ सीखता है उसको बाहर जाने पर भी उपयोग में लाकर फिर जेल जाता ही रहता है, क्योंकि उसको जेल में कोई विशेष तकलीफ नहीं होती !

जेल में कैदियों से उत्पादन के लिए काम कराना चाहिए, न कि सजा देने के लिए। यदि इस दृष्टि से काम लिया जाय, उनके लिए काम में रस पैदा कराया जाय, केवल सजा के भय से ही काम न कराया जाय, तो उनकी आदत बदल सकती है और जेल की आमदनी भी बहुत बढ़ाई जा सकती है। यही एक तरीका है जिससे जेलखाने स्वावलम्बी बनाये जा सकते है। और, कोई कारण नही कि सारा विभाग स्वावलम्बी न हो जाय। इसके अलावा, कुछ धार्मिक और नैतिक शिक्षा का भी ठीक प्रबन्ध होना चाहिए। आजकल भी, नाम के लिए, कुछ प्रबन्ध है। वह सचमुच नाम-मात्र के लिए ही है। उसका नतीजा कुछ भी नहीं होता। जेल से छूटने के बाद बहुतेरे नौसिख चोर इत्यादि इस तरह पुलिस के चक्कर में पड़ जाते हैं कि उनको खामखाह चोरी करनी पड़ती है। पुलिस कभी-कभी उनको इतनी तकलीफ पहुँचाती है कि वे फिर जेल में जाना ही ज्यादा सुख-

कर मानते हैं। अतएव, जेल से निकले हुए लोगों की देख-भाल के लिए भी कोई प्रबन्ध होना चाहिए। पुलिस के द्वारा जो प्रबन्ध होता है वह तो जेल के जीवन को ही बाहर भी कुछ ढीला करके कायम रखने के लिए होता है! कैदी को कभी स्वतन्त्र होकर निर्भीक भाव से सुधरा हुआ जीवन बिताने का मौका ही नहीं मिलता। इसलिए, यह काम पुलिस के द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए गैर-सरकारी संस्था होनी चाहिए, जो छूटे हुए कैदियों की इस तरह सहायता करे कि वे मामूली सामाजिक जीवन में घुलमिल जायँ। जब जेल के भीतर सुधार हो और बाहर भी उसके लिए अनुकूल वातावरण मिल जाय, तब वह कैदी न रहकर समाज का अनुभवी और चुस्त अंग बन सकता है। इसी उद्देश्य से यदि सजा दी जाय तो, जिसको सजा मिले वह भी सुखी हो और समाज भी। समाज का इतना कर्तव्य है; क्योंकि कोई भी आदमी बिना कारण बुरा नहीं बन जाता—समाज के संगठन में कुछ ऐसा दोष होता है जिससे बुरी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है अथवा बुरे काम करने की आवश्यकता महसूस होती है।

ऐसी हों कि जिससे हमारे लोगों का उत्साह ऊँचा रहे। मैंने कहा भी कि जो कुछ हो, कुछ ऐसी शर्तें जरूर रखी जायँ जिनसे हमारी जीत का आभास मिले। महात्माजी ने कहा कि जहाँतक जितना हमने सचमुच जीता है उतना ही सुलहनामे में आ सकता है, उससे अधिक नहीं; जहाँतक सचमुच हमने जीता है उससे अधिक अगर सुलहनामे में आ भी जाय तो वह किसी काम का नहीं होगा; क्योंकि हमको उतना ही लाभ समझौते से मिल सकता है जितना लाभ उठाने की शक्ति हममें है और वह शक्ति उसी परिमाण में आई है जिस परिमाण में हम जीत सके हैं; इसलिए यह मोह छोड़ देना चाहिए कि अपनी शक्ति से अधिक हम समझौते से पा सकेंगे। मैंने सोचा कि महात्माजी की निष्ठा सत्य पर इतनी है कि वह शक्ति से अधिक समझौते से भी लेने में कुछ असत्य देखते हैं, इसी वजह से न तो उसकी आशा रखते हैं और न उसके लिए प्रयत्न करते हैं। बात भी ठीक ही है। जो हम पचा नहीं सकते वह ले लेने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता, बल्कि उससे हानि ही है।

महात्माजी का लार्ड इरविन पर विश्वास था। वह समझते थे कि वायसराय जितना कहते हैं उतना पूरा करेंगे। लार्ड इरविन का भी महात्माजी पर विश्वास था। वह भी चाहते थे कि कोई ऐसा रास्ता निकल आये जिससे गोलमेज-कान्फरेंस में कांग्रेस शरीक हो जाय। इसके लिए वह भी, जहाँतक जा सकते थे वहाँतक जाने के लिए, तैयार थे। वहाँतक वह गये भी; पर उनके नीचे के जो अधिकारी थे वे समझौते की बात को ही नापसन्द करते थे। वे मानते थे कि उन्होंने आन्दोलन को दबा दिया है, अब समझौते की कोई जरूरत नहीं है। पर चूँकि ब्रिटिश गवर्नमेंट गोलमेज-कान्फरेंस में महात्माजी को ले जाने पर तुली हुई थी, इसलिए वह चाहती थी कि कुछ बातें करके उनको वहाँ भेज देना चाहिए—उसके बाद फिर देखा जायगा। इत्तिफाक से लार्ड इरविन के पद का समय भी उसी वक्त खत्म हो गया! समझौता करके वह चले गये। उनके स्थान पर लार्ड विलिंगडन आ गये, जो सोलह आने नीचे के अधिकारियों के हाथ में थे या उनसे सहमत थे। नतीजा यह हुआ कि समझौते पर हस्ताक्षर तो हुआ, पर लार्ड इरविन के जाते ही उसे किसी-न-किसी तरह बेकार बना देने का प्रयत्न शुरू हुआ। जहाँ तक लार्ड इरविन के जमाने में उसकी शर्तें पूरी की जा चुकी थीं वहाँ तक तो पूरी हुईं, पर बाकी शर्तों के पूरी होने में दिक्कत पेश आने लगी। कई महीने तक महात्माजी को शर्तों को पूरा करवाने मे परेशान रहना पड़ा। हमारी ओर से तो केवल एक ही शर्त पूरी करनी थी। वह यह थी कि सत्याग्रह बन्द कर दिया जाय। यह काम तो जैसे ही समझौता हो गया और महात्माजी तथा वर्किङ्ग-कमिटी की ओर से विज्ञप्ति निकल गई कि सत्याग्रह बन्द कर दिया जाय वैसे ही सभी जगहों मे बन्द हो गया। गवर्नमेंट को तो कैदियों को छोड़ना, जब्त आश्रम-कमिटियों को वापस देना, नमक-कानून के रहते भी जो सुविधा देने की बातें तय हुई थीं उनको पूरा करना, गुजरात में जब्त जमीन के सम्बन्ध में जाँच करना इत्यादि अनेक बातें करनी थीं। इनमें से हरएक में अड़चने डाली गईं। जो सबसे सीधा था—कैदियों को छोड़ना, उसमें भी महीनों लिखा-पढ़ी करते रहना पड़ा।

बिहपुर (भागलपुर) का जब्त आश्रम तो अन्त तक नहीं छूटा ! जव कोई दूसरा बहाना न मिला तो गवर्नमेंट की ओर से कुछ ऐसा प्रयत्न किया गया कि उस जमीन पर कुछ लोगों से दावा कराकर उनसे कुछ लिखापढी करा ली गई और उसी के भरोसे उसपर कब्जा रखा गया। बात यह थी कि, जैसा ऊपर कहा गया है, प्रान्तीय अधिकारी शर्तो को मानना चाहते ही नही थे, अत: जहाँतक वे वाधा डाल सके, डालते ही गये !

समझौते के समय ही एक घटना हुई जिसने देश मे बहुत वड़ी हलचल पैदा कर दी। सरदार भगतसिह प्रभृति के मुकदमे का, जो बहुत दिनो से चल रहा था, अन्तिम निर्णय सुना दिया गया। उनको फाँसी की सजा हो गई। उन पर अभियोग यह था कि उन्होने एक अंग्रेज अफसर को मार डाला था जिसने साइमन-कमीशन के आगमन के समय लाला लाजपत रायजी पर वार किया था, जिसकी वजह से कुछ दिनो के बाद उनका देहान्त हुआ था। महात्माजी ने लार्ड इरविन से बहुत कोशिश की कि वह फाँसी की सजा माफ कर दें—उसके बदले मे आजीवन कैद की सजा कर दे, पर वायसराय इस पर राजी नहीं हुए। इधर काग्रेस का बाजाब्ता अधिवेशन, जो सत्याग्रह के जमाने मे नही हुआ था, कराची मे करने का निश्चय किया गया। उसका समय भी नजदीक आ गया। समझौते को कांग्रेस मे मंजूर कराना था; क्योकि उसकी एक शर्त यह थी कि कांग्रेस का प्रतिनिधि गोलमेज-कान्फरेस मे शरीक हो। महात्माजी का विचार था कि सरदार भगत सिह की फाँसी अगर रुक गई तो देश में अच्छा वातावरण हो जायगा; तब केवल समझौते के पास कराने मे ही सुविधा न होगी, बल्कि और तरह से भी जो सघर्ष चल रहा था वह कम हो जायगा, जिससे सच्चा समझौता जैसा होना चाहिए वैसा पूरा हो सकेगा। पर लार्ड इरविन फाँसी न रोक सके। शायद उनपर दूसरे अधिकारियों का इतना जोर पड़ा कि वह ऐसा नही कर सके। उन्होने अन्त मे यह कहा कि आप अगर चाहे तो मैं फाँसी की तारीख को काग्रेस के बाद तक टाल सकता हूँ, पर फाँसी की सजा रद्द नही कर सकता। महात्माजी ने कहा कि अगर ऐसा है तो मैं यह नही चाहता कि कांग्रेस तक फाँसी टाल दी जाय और जब काग्रेस समझौते को मजूर कर ले तो उसके बाद फाँसी दे दी जाय, इससे अच्छा तो यह हो कि कांग्रेस के पहले ही फाँसी हो जाय ताकि काग्रेस किसी भ्रम में न रहे, सारी स्थिति जानकर जो उचित समझे सो करे। ऐसा ही हुआ। काग्रेस के ठीक दो-तीन दिन पहले चुपचाप फाँसी हो गई। सब कुछ हो जाने के बाद यह बात प्रकट की गई। इससे लोगो में, विशेषकर पंजाब की तरफ, बहुत हलचल और रोष पैदा हुआ।

समझौते की कुछ शर्तो से पडित जवाहरलालजी दुखी थे। महात्माजी को उन्हें बहुत समझाना पड़ा। पर वह कुछ ऐसे लोगो मे तो थे नही जो एक बात तय हो जाने के बाद भी उसका विरोध करते ही रहते। इसलिए, वह यद्यपि असतुष्ट थे तथापि चुप रह गये। कुछ दूसरे लोग तो फाँसी के कारण आवेश मे आकर अथवा समझौते से ही असंतुष्ट होकर उसका विरोध करने लगे। कराची-कांग्रेस के समय बहुत ही दूषित वातावरण हो गया। जब हमलोग रेल से कराची जा रहे थे तभी रास्ते मे बहुत विरोधी प्रदर्शन हुए। महात्माजी को लोगों ने काले फूल दिए, दूसरे प्रकार से भी यह बताया कि

समझौते से और सारी बातों से लोग असंतुष्ट हैं। उस समय महात्माजी की धीरता, सहिष्णुता और अपने निश्चय पर अटल दृढ़ता देखने ही योग्य थी। प्रदर्शन करनेवालों के गुस्से को अपने मीठे शब्दों से, अपने ऊपर सारा दोष लेकर, खत्म करते रहे। कांग्रेस में विरोध का तूफान-सा आता हुआ मालूम पड़ा। पर उन्होंने उसको इतनी खूबी से सँभाला कि दूसरे किसी से उस तरह सँभाल में नहीं आ सकता था। उनके प्रेम-भाव से विरोधी भी पिघल जाते; जो बहुत गुस्से में आते वे भी शांत होकर जाते!

कराची-कांग्रेस के बाद यह निश्चय हो गया कि कांग्रेस के प्रतिनिधि गोलमेज कान्फरेंस मे जायँगे—केवल महात्माजी ही वहाँ कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करेंगे। पर यह तभी हो सकता था जब समझौते की शर्तें पूरी हो जायँ। इसमें काफी अड़चनें आईं। महात्माजी बराबर लिखापढ़ी करके शर्तों को पूरा कराने मे लगे रहे। इसमे भी उनकी सहिष्णुता और दृढ़ता खूब देखने में आईं। वह अपनी बातें छोड़ते नहीं थे; क्योंकि वह जानते थे कि कोई भी अधिकारी समझौते की शर्तों को खुलकर साफ-साफ न मानने की बात कभी न कहेगा; पूरा तो उन्हें करना ही पड़ेगा, पर वे अड़चने डालकर हमको इतना थका दे सकते है कि हम स्वयं निराश होकर कह दे कि अब शर्तें पूरी हो गईं या पूरी करने की जरूरत नही रह गई! महात्माजी इसके लिए तैयार नही थे। वह एक-एक करके सभी शर्तों को पूरा कराते रहे। अन्त मे, गोलमेज-कान्फरेंस मे जाने का समय आ गया। उस वक्त तक गुजरात की जमीन-सम्बन्धी जाँच की बात पूरी नही हो पाई थी। महात्माजी भी इसपर अड़ गये कि यह बात अगर तय नही होगी तो हम गोलमेज-कान्फरेंस मे शरीक नही हो सकेंगे। हार मानकर लार्ड विलिंगडन ने उनकी बात मंजूर कर ली। चूँकि गोलमेज-कान्फरेंस में पहुँचने के लिए बम्बई से जहाज तक मामूली तौर से महात्माजी नहीं पहुँच सकते थे, इसलिए खास गाड़ी करके वह पहुँचाये गये, नियत समय से ज्यादा कुछ देर तक जहाज रोक रखा गया!

महात्माजी की बात लार्ड विलिंगडन ने मजबूर होकर मान ली थी; पर वह उसी समय से इस फिक्र में थे कि किसी-न-किसी तरह महात्माजी तथा कांग्रेस को दबाना चाहिए! उधर महात्माजी इंगलैंड पहुँचे, इधर षड्यंत्र रचे जाने लगे कि कांग्रेस को किसी-न-किसी उपाय से दोषी ठहराकर सख्ती के साथ दबा दिया जाय जिससे वह फिर सिर न उठा सके! सरदार वल्लभ भाई पटेल, जो कराची-कांग्रेस के सभापति हुए थे, महात्माजी की गैरहाजिरी मे शर्तों को पूरा कराने और परिस्थिति सँभालने मे बहुत ही दृढ़ता तथा दक्षता से लगे रहे। पर जब एक तरफ से बिगाड़ने ही पर गवर्नमेंट के अधिकारी तुले हुए थे तो उनकी क्या और कहाँ तक चल सकती थी। उधर गोलमेज-कान्फ्रेंस में भी ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई कि वहाँ भी महात्माजी जैसा चाहते थे वैसा वह नही कर पाये। वहाँ पर संसार के सामने यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट तो बहुत-कुछ करने को तैयार है, पर हिन्दुस्तान के लोग आपस में मेल करके कोई एक बात कह नहीं सकते—उनके आपस के झगड़े और परस्पर अविश्वास इतने गहरे हैं कि ब्रिटिश गवर्नमेंट को मजबूरी अपने हाथों में

बहुत-से अधिकार रखने पड़ते हैं ! यहाँ पर राउण्ड-टेबुल-कान्फ्रेंस की सभी बातें लिखना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

जब महात्माजी वहाँ से निराश होकर चले तब हिन्दुस्तान में अधिकारियों ने उस समय तक ऐसी परिस्थिति पैदा कर ली थी कि कांग्रेस को दबाने में वे अपनी मनमानी कर सकें। बंगाल की गिरफ्तारियाँ, संयुक्तप्रदेश में किसानों के साथ सख्तियाँ और सीमाप्रान्त की कड़ाइयाँ—सबने वर्किङ्ग-कमिटी को इस गंभीर परिस्थिति पर विचार करने को मजबूर किया। हमलोग महात्माजी की वापसी का इंतजार करने लगे। जिस दिन वह जहाज से बम्बई पहुँचनेवाले थे उसी दिन वहाँ पर वर्किङ्ग-कमिटी की बैठक मुकर्रर की गई। हम लोग सबके-सब जहाँ-तहाँ से बम्बई के लिए रवाना हुए। पंडित जवाहरलालजी प्रयाग से उसी ट्रेन में सवार हुए जिसमें मैं भी था। प्रयाग से थोड़ी ही दूर पर गाड़ी को बेजगह ठहराकर जवाहरलालजी गिरफ्तार कर लिये गये ! अब यह बात साफ हो गई कि गवर्नमेंट यह नहीं चाहती है कि महात्माजी से हम सब लोग सलाह-मशविरा कर सकें या वह खुद कोई सुलह का रास्ता निकालें। वह इसपर तुल गई थी कि किसी-न-किसी तरह से कांग्रेस को दबाना और तोड़ देना ही चाहिए। हमलोग बम्बई पहुँचे। जनता ने महात्माजी का बड़े उत्साह और समारोह के साथ स्वागत किया। महात्माजी ने उतरते ही वर्किङ्ग-कमिटी से बातें करके लार्ड विलिंगडन को तार दिया कि वह उनसे मिलकर अपनी गैरहाजिरी में पैदा हुई परिस्थिति के संबन्ध में बातें करना चाहते हैं, जिससे कोई रास्ता निकल आवे। पर लार्ड विलिंगडन ने मिलने से इनकार कर दिया ! कोई बात नहीं हो सकी। हमलोग समझ गये कि अब फिर लड़ाई छिड़ गई। बस उसी रात को हमलोग जहाँ-तहाँ अपने-अपने स्थानों के लिए रवाना हो गये।

बम्बई से हमलोगों के रवाना हो जाने के बाद भी महात्माजी ने तारों द्वारा बातें करने की कोशिश नहीं छोड़ी। पर कोई नतीजा नहीं निकला। उनकी भी गिरफ्तारी रात के समय हो गई ! वह यरवदा-जेल पहुँचा दिये गये। उसी दिन सभी प्रान्तों में जितने प्रमुख लोग थे, गिरफ्तार कर लिये गये। जितने आश्रम, कांग्रेस के दफ्तर तथा कांग्रेस का काम करनेवाली दूसरी सम्बद्ध संस्थाएँ, सब गैर-कानूनी बना दी गईं—सबके प्रमुख कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये। जेल में चले जाने तक हमलोगों को कोई ऐसा खास मौका नहीं मिला कि कोई तैयारी करें या लोगों को कोई आदेश दे सकें। कांग्रेस के कार्यकर्त्ता भी नहीं जानते थे कि अब हमें क्या करना चाहिए। जनता को तो कुछ पता ही न था कि इस बार क्या कार्यक्रम रहेगा। हम लोगों ने सुना, गवर्नमेंट के अधिकारियों का विचार था कि इस बार सारा आन्दोलन दो-चार दिनों के अन्दर ही समाप्त कर दिया जायगा ! पर ऐसा हुआ नहीं। जितनी भी सख्ती हो सकती थी, खूब की गई। गवर्नमेंट का प्रयत्न यह था कि कोई कांग्रेसी अगर जेल के बाहर रह भी जाय तो उसके पास कोई ऐसा साधन न रह जाय जिसके द्वारा वह काम को आगे बढ़ा सके। इस तरह, कांग्रेसी लोगों को कोई पैसा भी देता तो उसके लिए वह गिरफ्तार

कर लिया जाता। उनको कोई अपने घर में आसरा देता तो उसे कड़ी सजा मिलती। यहाँ तक कि उनके लिए भाड़े की सवारियाँ भी वर्जित थीं! तार-डाक तो वे काम में ला ही नहीं सकते थे! समाचार-पत्रों में कोई सच खबर भी भरसक छपने नहीं पाती थी! दूसरे भी जितने साधन उनके काम आ सकते थे, सभी से वे वंचित कर दिये गये! पर जनता मे १९३० के सत्याग्रह का इतना प्रभाव शेष था कि बिना किसी के बताये ही लोगों ने सत्याग्रह के रास्ते ढूँढ़ निकाले। गवर्नमेंट के जो हुक्म निकलते थे वे इसमें बहुत सहायक हुआ करते थे। जो कुछ भी गवर्नमेंट मना करती थी वही लोग करने लग जाते थे। इस तरह, सत्याग्रह आरम्भ हो जाता था। आन्दोलन को दो-चार दिनों के अन्दर खत्म कर देने का गवर्नमेंट का इरादा पूरा नही हुआ। महीनों तक आन्दोलन जोरों से चलता रहा। पर गवर्नमेंट जनता की कमजोरी परख गई थी। जो कमजोर स्थान था उसी पर उसने चोट की।

१९३० के आन्दोलन में ही, जब वह समाप्त होने पर आ रहा था, हमने एक कमजोरी महसूस की थी। लोग जेलखाने से नहीं डरते थे, लाठियाँ भी खुशी से सह लेते थे, कही-कहीं गोलियों का भी मुकाबला उन्होंने बड़ी बहादुरी से किया था। पर गवर्नमेंट जब धन-सम्पत्ति पर अधिकार करने लगी तब लोग कुछ सहमने लगे। हमने इसका नतीजा देख लिया था, और गवर्नमेट ने भी इस कमजोरी को समझ लिया था, इसलिए इस बार गिरफ्तारियों के बाद लम्बी-लम्बी सजाएँ तो मिलती ही थीं, साथ-साथ बड़ी रकमो के जुर्माने भी होने और कड़ाई से वसूल किये जाने लगे। अगर कोई अपनी गाड़ी, चाहे वह घोड़ा-गाड़ी हो या बैल-गाड़ी या मोटर, सत्याग्रह के काम में लगा देता तो वह गाड़ी भी जब्त हो जाती! यदि कोई अपने मकान मे सत्याग्रह का काम होने देता तो वह मकान भी जब्त हो जाता! बैंकों मे जमा रुपये अगर सत्याग्रह के काम में लगाये जाते तो रुपये भी कुर्क कर लिये जाते—उनकी निकासी तक रोक दी जाती! इस तरह, हर तरफ से रास्ता बन्द कर दिया गया, ताकि सत्याग्रही न तो कुछ बोल सके, न कहीं आ-जा सके, न किसी से पैसे ले सके, न किसी के घर में आश्रय पा सके, न किसी प्रकार के धन पर कोई अधिकार रख सके, न कोई सवारी ही काम में ला सके! जिस पर भी सदेह होता वही सत्याग्रही समझ लिया जाता; उसपर ये सब सख्तियाँ लाद दी जाती। नतीजा इसका यह हुआ कि जो सत्याग्रही थे वे तो नही दबे; पर दूसरे-दूसरे लोगों में, जो स्वयं सत्याग्रह न करके सत्याग्रहियों के साथ सहानुभूति दिखाते थे या सहायता देते थे, आतंक पैदा करके सत्याग्रही निःसहाय कर दिये गये। तो भी, देश ने लार्ड विलिंगडन की चुनौती का अच्छा और शानदार मुकाबला किया। बहुत दिनों तक गवर्नमेंट आन्दोलन को बन्द नहीं कर सकी। पर आहिस्ता-आहिस्ता, साल-डेढ़-साल के बाद, आन्दोलन धीमा पड़ गया। गवर्नमेंट यह कहने के योग्य हो गई कि उसने अब परिस्थिति पर पूरी तरह काबू कर लिया है।

चौबीसवाँ अध्याय

महात्माजी ने अपनी 'आत्मकथा' में बताया है कि उनको बचपन में ही अछूतोद्धार के प्रश्न का आभास मिल गया था। जब उनको इसका पूरा ज्ञान हुआ कि यह कुप्रथा कितनी अमानुषिक और अस्वाभाविक है तब से उन्होंने इसे मिटाने के प्रयत्न मे कोई कसर उठा न रखी। जब हिन्दुस्तान में लौटकर सार्वजनिक काम शुरू किया तब अस्पृश्यता-निवारण को अपने कार्यक्रम का एक मुख्य अंग बना रखा। इसपर जहाँतक हो सका, जोर देते रहे। क्रियात्मक रूप से इसे दूर करने में सचेष्ट रहे। कांग्रेस के कार्यक्रम का यह एक महत्त्वपूर्ण काम हो गया। सेठ जमनालालजी ने तो उसे एक कर्तव्य बना लिया। कुछ दिनों तक वह इसी काम में लगे रहे। सारे देश में कांग्रेस का संगठन जैसे-जैसे विस्तृत और सुदृढ़ हुआ, अस्पृश्यता-निवारण पर जोर दिया जाने लगा। हजारों वर्षों से प्रचलित और स्थापित यह कुप्रथा एकबारगी उखाड़-फेंकी नहीं जा सकती थी; पर इसमें संदेह नही कि इसकी जड़ हिल गई।

राजनीतिक कारणों से हिन्दू-मुस्लिम मसला भी विकट बनता गया। खिलाफत-आन्दोलन के जमाने मे जो दृश्य देखे गये, वे थोड़े दिनों के बाद प्रायः स्वप्नवत् भूल-से गये। आपस के दंगे-फसाद बहुत बढ़ गये। यद्यपि देखने के लिए उनके रूप और कारण धार्मिक हुआ करते थे तथापि वे वास्तव में राजनीतिक कारणों से ही हुआ करते थे—कही गाय की कुर्बानी के लिए, कही मुहर्रम के ताजिए पर ईंट-पत्थर फेंकने के लिए, कही मसजिदों के सामने बाजे बजाने के लिए और कहीं-कहीं जुलूस निकालने के लिए भी। कहीं-कहीं तो व्यक्तिगत झगड़ा भी सामूहिक दंगे का कारण बन जाता था! जैसे ही राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया, और ऐसा मालूम हुआ कि अब कुछ राजनीतिक अधिकार भारतवासियों के हाथ आनेवाले हैं, वैसे ही यह प्रयत्न किया जाने लगा कि उसके बँटवारे में किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा लिया जाय—चाहे उसके हासिल करने के प्रयत्न और त्याग में हिस्सा लिया गया हो या नहीं! इस तरह मुसलमानों का संगठन बना, जो अपनी ओर से दावा पेश करने लगा! अस्पृश्य जातियों का भी संगठन बना, जिसने अछूतों की ओर से भी दावा पेश किया! अंग्रेजी सरकार की नीति यही रही कि

जबतक सब दल के लोग हिन्दुस्तान मे मिलकर माँग पेश न करें, वह बहुत-कुछ नही कर सकती; अगर कुछ करती भी तो उसमे ऐसी शर्तें लगा दी जाती जो सारे देश के लिए झगड़े का कारण बन जातीं। इसी नीति के अनुसार, जब पहले-पहल मिण्टो-मार्ले-सुधार आया तो उसमें बराय-नाम कुछ प्रतिनिधि व्यस्थापिका-सभाओं मे लिये गये, पर किसी विषय में हिन्दुस्तानियों के हाथ में अधिकार नही दिये गये! उसके साथ भी मुसलमानों के लिए अलग चुनावक्षेत्र का ऐसा पच्चर लगा दिया गया जिससे देश के लोग—मुस्लिम और गैरमुस्लिम—दो हिस्सों में बाँट दिये गये! और, मत देकर प्रतिनिधि चुनने का जो थोड़ा-बहुत अधिकार हिन्दुस्तानियों को मिला वह हिन्दुस्तानी की हैसियत से नही, मुस्लिम और गैरमुस्लिस की हैसियत से! निश्चय प्रकाशित करने के पहले मुसलमानो की एक जमायत को प्रोत्साहन देकर इस तरह की माँग पेश कराई गई कि उसी माँग के उत्तर में यह घरफोड़ पद्धति सुधार के नाम से चलाई गई! पर जब इस तरह की कोई चीज चल जाती है—जब विष बोया जाता है, तब वह फैले बिना रह नही सकता। नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों के बाद कुछ औरों ने भी कुछ अलग चुनाव-क्षेत्र की माँग पेश की; कुछ औरों के लिए भी अलग चुनावक्षेत्र कायम किये गये। जैसे सिक्ख, इसाई इत्यादि। गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे महात्माजी को एक ऐसी स्थिति का मुकाबला करना पड़ा जो पहले से तैयार करके रखी गई थी!

१९३० की प्रथम गोलमेज-कान्फ्रेन्स में विशेषकर इसी बात पर जोर था कि जो नया विधान बने वह सारे हिन्दुस्तान के लिए बने। हिन्दुस्तान का एक वह हिस्सा था जो अंग्रेजी राज के नाम से बिल्कुल अंग्रेजी पार्लियामेट के अधीन चलता था, दूसरा वह हिस्सा था जिसमे देशी रजवाड़े अंग्रेजी सल्तनत की मातहती मानते हुए अपनी-अपनी रियासतो को अपने तरीको से चलाया करते थे। सवाल यह था कि दोनों के ही लिए एक विधान बने अथवा केवल अंग्रेजी हिस्से के लिए ही; यदि दोनो के लिए बने तो उसमें रजवाड़ों का स्थान क्या हो। इस कान्फ्रेन्स में रजवाड़ों के प्रतिनिधि बुलाये गये थे। जब ब्रिटिश सरकार ने सारे देश में स्वराज्य की लहर जोरों से बढ़ती देखी तो उसको ऐसा मालूम हुआ कि जहाँ तक हिन्दुस्तान के अंग्रेजी हिस्से का सम्बन्ध है, अधिकार दिये बिना बहुत दिनों तक काम नहीं चल सकता। तब उसने रजवाड़ों को अपना हथकंडा बनाकर देश के शासन को अपने हाथों मे रखने का रास्ता सोचा। कुछ रजवाड़े उसके हथकण्डे बनकर और कुछ सचमुच देशप्रेम से प्रभावित होकर गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे गये। गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे वे सारे देश के लिए एक संघ-विधान के पक्षपाती हो गये। यह बात पहले-पहल वही आई कि विधान का रूप एक संघ का हो, जिसमें रजवाड़े भी शरीक हों; चूँकि वे अपनी-अपनी रियासतों में अन्दरूनी मामलों में बहुत करके स्वतन्त्र समझे जाते थे, इसलिए वे संघ में शरीक होने के लिए शर्तें खोजने लगे। ब्रिटिश सरकार दूसरी तरफ इस चिन्ता में थी कि सारे हिन्दुस्तान की यदि एक व्यवस्थापिका-सभा हो, तो उसमें रजवाड़ों के प्रतिनिधि और ब्रिटिश भारत के ऐसे प्रतिनिधि—जो राष्ट्रीय आन्दोलन से सहानुभूति नही रखते अथवा जो किसी-न-किसी कारण ब्रिटिश सरकार का साथ देना चाहते हैं,

दोनों मिलकर राष्ट्रीय दल को दबाये रख सकेंगे। इस प्रकार, यद्यपि देखने मे प्रतिनिधियों द्वारा शासन होने लगेगा तथापि वास्तविक रूप में अधिकार परोक्ष रीति से अंग्रेजों के ही हाथों में रह जायगा।

१९३१ मे महात्माजी दूसरी गोलमेज-कान्फरेन्स मे गये। वहाँ उन्होंने राष्ट्रीय माँगों के खिलाफ एक दीवार खड़ी देखी, जो अंग्रेजों की नही, हिन्दुस्तानियों की थी, जिसको अंग्रेजों ने ही प्रोत्साहन देकर तैयार कराया था! वहाँ हजार कोशिश करने पर भी कोई ऐसा रास्ता नहीं निकल सका जिसको सभी हिन्दुस्तानी मंजूर करते। मुख्यत: मुसलमानों और अस्पृश्यों के नेता कांग्रेस की माँग में शरीक नहीं हुए। कुछ नेता ऐसे ही चुनकर बुलाये गये थे जो शरीक नहीं होते! हजार कोशिश करने पर भी एक भी कांग्रेसी मुसलमान वहाँ नही बुलाया गया! नतीजा जो होनेवाला था वही हुआ। आपस का मतभेद नहीं मिटा। महात्माजी को अपनी हार माननी पड़ी। इसी वाद-विवाद में अस्पृश्यों की ओर से यह माँग पेश की गई थी कि धारासभाओं में उनके लिए स्थान सुरक्षित कर दिये जायँ और मुसलमानों की तरह उनके भी प्रतिनिधि अलग चुनाव-क्षेत्र द्वारा—जिसमें केवल अस्पृश्य-वर्ग के लोगों को ही उम्मीदवार बनने तथा मत देने का अधिकार हो—कायम कर दिये जायँ।

महात्माजी अस्पृश्यता को एक पाप समझते थे। वह हिन्दू-समाज से उसे दूर करने का सिरतोड़ प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने सोचा, अस्पृश्यों का यह अलग चुनाव-क्षेत्र सवर्ण हिन्दुओं से अछूतों को हमेशा के लिए अलग कर देगा, वे अछूत के अछूत ही रह जायँगे। अतः इस चीज को वह धार्मिक दृष्टि से बरदाश्त नही कर सकते थे। विरोधी लोग तो यह मानते थे कि राजनीतिक कारणों से अस्पृश्यों को हिन्दुओं में मिलाकर मुसलमानों के मुकाबले के लिए महात्माजी को रखना था, इसीलिए वह उनको अलग चुनाव-क्षेत्र देने का विरोध कर रहे हैं। पर जो लोग महात्माजी के विचारों से परिचित थे, जो उनकी सचाई में विश्वास करते थे, उनके सामने यह स्पष्ट था कि इसे वह एक धार्मिक प्रश्न समझते थे, इस पर धार्मिक दृष्टि से विचार करते थे। वह अस्पृश्यों को हिन्दू-जाति का अंग मानते थे। वह उनको भी उस समाज में वही स्थान दिलाना चाहते थे जो दूसरी किसी भी जाति के लोगों को प्राप्त है। जब उन्होंने देखा कि अलग चुनाव-क्षेत्र इस सुधार के लिए घातक होगा और अस्पृश्यों को दूसरों से राजनीति में भी अलग कर देगा, तब उन्होंने गोलमेज-कान्फरेन्स में घोषणा कर दी कि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इस माँग को अगर मंजूर किया तो वह हरगिज नही मानेंगे और उसमें उनको जान भी देनी पड़ी तो उसकी भी बाजी लगा देंगे। उस समय लोगों ने इस मार्मिक वाणी का कोई विशेष अर्थ नहीं लगाया और न इसको कोई महत्त्व ही दिया। अगर इसकी ओर किसी का ध्यान गया भी तो उसने समझ लिया कि यह एक वाग्-विलासमात्र है और जोरों से उस माँग का विरोध करने का एक तरीका है, इससे अधिक यह महत्त्व नहीं रखता है। पर महात्माजी ने समझ-बूझकर इन शब्दों को कहा था। वह अक्षरशः इनका पालन करने का निश्चय कर चुके थे।

जब आपस में साम्प्रदायिक विषयों का कोई फैसला न हो सका तो प्रधान मंत्री मैकडोनल ने यह घोषणा कर दी कि इस विषय का फैसला वहाँ के प्रधान मंत्री करेंगे। कुछ दिनों के बाद प्रधान मंत्री ने अपना फैसला दिया। उसमे एक बात यह थी कि अस्पृश्य-वर्ग के लिए धारा-सभाओ मे केवल स्थान सुरक्षित ही नहीं रखे जायँगे, बल्कि उनके लिए अलग चुनाव-क्षेत्र भी कायम किये जायँगे और इन क्षेत्रों मे केवल अस्पृश्य-वर्ग के लोग हा उम्मीदवार बन सकेंगे तथा वोट दे सकेंगे। यह फैसला प्रधान मंत्री मैकडोनल के अवार्ड यानी पंचायती फैसले के नाम से मशहूर किया गया। पर वास्तव में यह पंचायती फैसला था नहीं; क्योंकि पंचायती फैसला वही दे सकता है जिसको सभी वादियों तथा प्रतिवादियों ने स्वेच्छा से पंच बनाया हो। पर श्री रम्जे मैकडोनल को हिन्दुस्तान के विभिन्न दलों के नेताओं ने—और खासकर गांधीजी ने, जो देश की सबसे बड़ी सार्वजनिक संस्था कांग्रेस के प्रतिनिधि थे—कभी पंचायत की अनुमति नहीं दी थी। प्रधान मंत्री की हैसियत से वह जो चाहें सो फैसला देने का उन्हें अधिकार था। यह उनका इसी प्रकार का फैसला था। पंचायती फैसले और किसी अधिकारी के फैसले में जो अन्तर है उसे याद रखना जरूरी है। अधिकारी के फैसले को मानने के लिए कोई पक्ष वाध्य नही है। अगर वह किसी तरह उसे तोड़वा सके, बदलवा सके या रद्द करवा सके तो इसमे कोई नैतिक दोष नही माना जाता। इसलिए दोनों पक्षों को अधिकारी के फैसले के विरुद्ध अपील करने का हक कानूनी तौर पर दिया गया है। पर पंच तो सभी पक्षो की मर्जी से मुकर्रर किया जाता है। नैतिक दृष्टि से उसके फैसले को मानना सभी पक्षों के लिए वाजिब और मुनासिब होता है। इसलिए कानून में भी पंच के फैसले के खिलाफ अपील नहीं है—जबतक यह साफ-साफ साबित न हो जाय कि पंच ने बेईमानी की है, या अपने अधिकार से बाहर जाकर पंचायत में नही दी गई बात पर भी फैसला दिया है। यह इतना कहना इसलिए आवश्यक हो गया है कि पीछे चलकर जब गाधीजी ने इस फैसले का विरोध किया तो नैतिक दृष्टि से इसमें कोई दोष की बात नही थी। इस फैसले को पच का फैसला कहना ही गलत था, क्योंकि उन्होंने कभी पंचायती मानी ही नही थी।

अस्तु। इस फैसले मे, जैसा ऊपर कहा गया है, अस्पृश्य-वर्गों के लिए अलग चुनाव क्षेत्र दिये गये थे, जिसके विरुद्ध, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, महात्माजी ने जान की बाजी लगाकर लड़ने की बात गोलमेज-कान्फ्रेन्स मे ही कह दी थी। फैसले में एक बात यह भी थी कि सभी पक्ष, जिनका उसके किसी अंश से सम्बन्ध था, यदि एक-मत होकर उसे बदलवाना चाहेंगे तो वह बदला भी जा सकता है। यरवदा-जेल में जब महात्माजी को समाचार-पत्रों से फैसले की खबर मिली, तो उन्होंने गवर्नमेंट को लिखा कि अछूतों से सम्बन्ध रखनेवाला यह फैसले का अंश बदलना चाहिए, और यदि गवर्नमेंट उसपर राजी न होगी तो अपने प्राणों की बाजी लगाकर उनको उसका विरोध करना पड़ेगा। गवर्नमेंट ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। बहुत लिखा-पढ़ी के बाद जेल के अन्दर से ही उन्होंने घोषणा की कि जबतक वह अंश बदल नहीं दिया जाता, वह अनशन

करेंगे। अनशन आरम्भ करने की तिथि भी उन्होंने घोषित कर दी। निश्चित तिथि पर अनशन आरम्भ भी कर दिया। यह खबर जैसे ही प्रकाशित हुई, सारे देश में खलबला मच गई। पण्डित मदनमोहन मालवीय, श्रीराजगोपालाचार्य प्रभृति नेताओ ने बम्बई मे एक कान्फ्रेन्स बुलाई। उसमे अस्पृश्य-वर्गों के नेता डा० अम्बेदकर और दूसरों को भी बुलाया। सारे देश के मुख्य कांग्रेसकर्मी, जो उस समय जेल के बाहर थे, सम्मेलन में शरीक होने के लिए बम्बई पहुँच गये।

उस समय प्रश्न यह था कि अस्पृश्य-वर्ग के नेता से मिलकर कोई ऐसी बात तय कर ली जाय जिसे गांधीजी मंजूर कर लें, उसीके मुताबिक श्री मैकडोनल का फैसला बदलवा दिया जाय और तब महात्माजी अनशन छोड़ दे। उनकी शर्त पूरी हो जाने पर वह अनशन छोड़ देंगे ही, ऐसी आशा थी। पर शर्त के पूरी होने में बहुत बड़ी कठिनाई दीख पड़ती थी। कई दिनों तक बम्बई मे बाते होती रही। उसके बाद यह सोचा गया कि पूना में चलकर ही बातें करना ठीक होगा, जहाँ महात्माजी से मिलने का भी मौका रहेगा और सभी बातें उनसे पूछी जा सकेंगी। गवर्नमेंट ने भी उनसे मिलने की इजाजत प्रमुख लोगों को दे दी। दूसरे प्रकार की सुविधाएँ भी मिल गईं। कई दिनों की बातचीत के बाद एक रास्ता निकला। अलग चुनाव-क्षेत्र छोड़ देने के लिए डा० अम्बेदकर राजी हो गये; पर उन्होने दो शर्तें लगाईं—एक तो यह थी कि अलग चुनाव-क्षेत्र नही होंगे, पर उनके लिए धारासभा मे उनकी जनसंख्या के अनुपात से स्थान सुरक्षित होना चाहिए; दूसरी यह कि दस वर्षों के लिए मान लेना चाहिए कि अन्तिम चुनाव यद्यपि सभी मिलकर करे तथापि प्रत्येक स्थान के लिए चार उम्मीदवारों को अस्पृश्य-वर्ग के लोग ही चुनकर नाम दे दें और उनमे से ही एक को सब लोग मिलकर चुनेगे। कई दिनो तक सवेरे-शाम महात्माजी के पास बाते होती रही।

महात्माजी चारपाई पर लेटे-लेटे आम के एक पेड़ के नीचे बातें करते रहे। सब लोग, जो जेल के अन्दर जाते, चारपाई के चारो ओर बैठकर या खड़े होकर सुना करते। उस समय जिस धैर्य और सहिष्णुता के साथ वह बाते करते वह देखने योग्य था। साथ ही, उनके प्रत्येक शब्द से यह टपकता था कि अपने इस अनशन से वह सवर्ण हिन्दुओं के लिए कोई राजनीतिक लाभ नही उठाना चाहते थे, बल्कि उनकी चिन्ता अस्पृश्य-वर्गों की स्थिति के सम्बन्ध में ही थी। वह चाहते थे कि अस्पृश्यता जल्द-से-जल्द निर्मूल हो जाय। पर अलग चुनाव-क्षेत्रों द्वारा एक प्रकार से वह स्थायी बन जाती थी। इन्ही बातों को उन्होने कई बार बहुत ही जोरों से, मर्मस्पर्शी शब्दों में, डा० अम्बेदकर से कहा। अन्त मे वह भी पिघले। समझौता हो गया। इसके लिए महात्माजी प्रतिदिन घण्टों बाते करते रहे। ऐसा मालूम पड़ता था कि उनमे एक अजीब शक्ति आ गई है, जो अनशन के दिनों में भी उन्हें इस योग्य बना देती है कि वह घण्टों गम्भीर विषय पर भी बाते करते-सुनते रहें। तब भी, शरीर की कमजोरी तो दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी, जिसका पता उनकी धीमी होती जाती हुई आवाज से लगता था। इस समझौते से अस्पृश्य-वर्गों को एक बड़ा लाभ यह हुआ कि उनको जितनी जगहें श्री

मैकडोनल के फैसले से मिली थीं उससे कहीं ज्यादा मिल गईं। श्रीअमृतलाल ठक्कर ने, जो इस विषय में बड़ी दिलचस्पी रखा करते थे, उनकी जनसंख्या निकालकर बतला दिया कि उनको कितनी जगहें मिलनी चाहिए। समझौता होते ही गवर्नमेंट को सूचना दे दी गई। उसने सारी बातें प्रधान मंत्री मैकडोनल को तारों द्वारा पहुँचा दी। वहाँ से चन्द घंटों के अन्दर ही उत्तर आ गया कि उन्होंने अपने फैसले का वह अंश, जिसके सम्बन्ध में महात्माजी ने अनशन किया था, रद्द कर दिया और उसके स्थान पर यह समझौता मान लिया। यह सूचना गवर्नमेंट ने जेल में पहुँचा दी। तब महात्माजी ने अनशन समाप्त किया। आपस की इस बातचीत में शरीक सभी लोग, अनशन समाप्त होने के समय, पूना में हाजिर थे। उनके अलावा कवीन्द्र रवीन्द्र ठीक उसी समय पूना पहुँच गये। उस यज्ञ में उन्होंने भी योग-दान किया। महात्माजी ने अपने सभी अनशनों को ईश्वर का नाम लेकर आरम्भ किया और ईश्वर की प्रार्थना के साथ ही समाप्त किया। इस मौके पर भी ऐसा ही हुआ। इसका सुन्दर वर्णन स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र ने उसी समय लिखा था।

उस समझौते मे एक शर्त यह भी थी कि सवर्ण हिन्दू अछूतपन दूर करने का प्रयत्न करेंगे और अस्पृश्य जातियों को उन्नत बनाने मे सचेष्ट होंगे। पूना से, समझौता हो जाने पर, हम सब बम्बई आये। वहाँ हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना की गई, जो उस दिन से आज तक उसी काम में लगा हुआ है। महात्माजी ने जेल से ही अछूतोद्धार-सम्बन्धी लेख लिखना आरम्भ किया। गवर्नमेंट ने भी इस सम्बन्ध के लेखों को नहीं रोका। जो लोग बाहर रह गये थे उन्होंने जोरों से अस्पृश्यता-निवारण का काम शुरू किया। केवल हरिजन-सेवक-सघ की स्थापना ही नहीं हुई, बल्कि सभी स्थानों पर इस बात का प्रयत्न भी जोरों से होने लगा कि अस्पृश्यता-निवारण किस तरह कार्य-रूप में परिणत किया जाय। एक रूप इस प्रयत्न का यह हुआ कि जिन मंदिरों और देवस्थानों मे अस्पृश्य लोग दर्शन-पूजन के लिए नहीं जाने पाते थे वे उनके लिए खोल दिये जायँ, उनको वहाँ दर्शन-पूजा की सुविधाएँ दी जायँ। इसके पहले कई जगहों पर ऐसे प्रयत्न किये गये थे। कई स्थानों मे इसके लिए सत्याग्रह भी हुआ था। अब इस सारे कार्य-क्रम में बहुत शक्ति आ गई। काम जोरों से चलने लगा। कुछ दिनों के बाद महात्माजी ने यरवदा-जेल मे ही इस सम्बन्ध मे इक्कीस दिनों का उपवास किया। यह उपवास उन्होंने प्रायश्चित्त के रूप में किया था। मै उस समय हजारीबाग-जेल में था। वहाँ पर यह सूचना पाकर कई आदमियों ने इक्कीस दिनों तक फलाहार किया। कही-कहीं कुछ लोगों ने तो उपवास भी किया। यह एक ऐसा सुअवसर था जब सारे देश को, विशेषकर हिन्दू-जाति को, अस्पृश्यता के प्रश्न पर सोचने का और इस कुप्रथा के सम्बन्ध मे कर्त्तव्य-पालन के निमित्त निश्चय करने का, मौका मिला। इस उपवास में महात्माजी ने इस समस्या के हल को सामाजिक विषय के स्तर से उठाकर एक धार्मिक वृत्ति के स्तर पर पहुँचा दिया। उसी का यह फल हुआ कि सारे हिन्दू-समाज मे इससे खलबली मच गई। नतीजा यह हुआ कि आज अस्पृश्यता आहिस्ता-आहिस्ता अपने दुर्ग के एक-एक कोने से निकलती जा रही है।

महात्माजी ने जेल से लिखना जारी रखा। उसमें जब कोई कठिनाई और बाधा आने लगी तो उन्होंने फिर भी अनशन किया, जिसके फल-स्वरूप गवर्नमेंट ने मजबूर होकर उनको छोड़ दिया। जेल से निकलने पर उन्होंने किसी राजनीतिक काम में हाथ नहीं डाला। वह अपने विचार से अब भी जेल के अन्दर ही थे। जो कुछ वह जेल के अन्दर से कर सकते थे, नैतिक दृष्टि से उतना ही करना उन्होंने उचित समझा। चूँकि उनको अस्पृश्यता-निवारण-सम्बन्धी कार्य करने की इजाजत जेल में भी थी, इसलिए उन्होंने इसीको बाहर आने पर भी जोरों से चलाया। अपने पत्र में लेखादि लिखने के सिवा उन्होंने देश का दौरा भी करना शुरू किया। सत्याग्रह का आन्दोलन आहिस्ता-आहिस्ता धीमा पड़ने लगा। फिर महात्माजी को ऐसा कोई आभास मिला कि अब इसको अधिक चलाना ठीक न होगा। अन्त में कुछ दिनों के बाद आन्दोलन स्थगित कर दिया गया।

पर वह पहले-जैसा ही सवारियों पर, मोटर और रेल पर, दौरा करते रहे। इस दौरे में उन्होंने देश के विभिन्न प्रदेशों में अस्पृश्यता-निवारण की बात सुनाई। सनातनी विचार के हिन्दुओं ने उनका बहुत विरोध किया। कुछ विद्वानों ने शास्त्रों द्वारा उनका समर्थन भी किया। कहीं-कहीं दोनों पक्ष के शास्त्रार्थ भी हुए। एक प्रकार से हिन्दू-समाज का मन्थन होने लगा। इसी कारण रुष्ट होकर पूना में कुछ लोगों ने महात्माजी पर सभा में जाते समय विस्फोटक बम भी फेंका; पर सौभाग्य से वह बच गये। उनके दौरे में एक सज्जन ने बहुत जगहों में बाधा डाली। वह जहाँ जाते वहीं पहुँच वह 'सत्याग्रह' करते, अर्थात् उनको सभा में जाने से रोकने का प्रयत्न करते। उस रुकावट को दूर करने के लिए प्रबन्धकर्ता लोग अनेक उपाय रचते, पर वह सज्जन पीछा नहीं छोड़ते।

पूना के अलावा और कई जगहों में भी महात्माजी पर हमले किये गये। कहीं-कहीं हल्की चोट भी आई। पर वह अपने संकल्प में अटल रहे; दौरा करते ही गये। अन्त में उन्होंने उड़ीसा पहुँचकर यह निश्चय किया कि अब पैदल ही दौरा करना चाहिए। बस कई दिनों तक उस सूबे में पैदल ही दौरा करते रहे। उस सूबे के एक बड़े हिस्से में इस प्रकार से पाँव-पाँव फिरे। जैसा ऊपर कहा गया है, इस भगीरथ प्रयत्न से अस्पृश्यता के दुर्ग की दीवारें टूटने लगीं। यद्यपि आज भी यह कहना सत्य नहीं होगा कि अस्पृश्यता उठ गई तथापि इतना कहना सच है कि जैसे एक पौधा जड़ से हिला दिया जाय—उखाड़ कर फेंका न जाय, तो भी वह सूखने लगता है, उसका एक-एक पत्ता सूखता जाता है, उसकी टहनियाँ सूखती जाती हैं, अन्त में वह मर जाता है; वैसे ही अस्पृश्यता की जड़ हिल गई है, उसके पत्ते और टहनियाँ सूखती जा रही हैं, अब उसकी जड़ों में यह शक्ति नहीं है कि पृथ्वी, आकाश और जल से अपने को कायम रखने के लिए पौष्टिक पदार्थ ले सकें। और, जब पौधा इस पौष्टिक पदार्थ से वंचित हो जाता है तो उसे सूखना ही पड़ता है। उसी तरह, इस कुप्रथा को अब मर जाना ही है; क्योंकि यह बुरी प्रथा एक पौधा मात्र ही नहीं है, बल्कि हजारों वर्ष से पाला-पोसा हुआ एक बहुत बड़ा वृक्ष है जिसने बहुत दूर तक की गहराई में अपनी जड़ों को फैला रखा है। इसलिए,

हिल जाने के बाद भी, इसके एकबारगी सूख जाने में अभी समय लग रहा है। इसकी वर्तमान अवस्था उस बड़े वृक्ष की है जो बड़े तूफान में उखड़कर गिर जाता है, पर गिर जाने के बाद भी उसका कुछ-न-कुछ सम्पर्क पृथ्वी के साथ रह जाने के कारण हरा रहता है, फिर भी उसमें वास्तविक जान नहीं रह जाती है। उसी तरह, यह वृक्ष गिर गया है, पर अब भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह निर्जीव हो गया है।

महात्माजी इस प्रश्न को एक धार्मिक प्रश्न के रूप में देखते थे। पर साथ ही अस्पृश्य जातियों की आर्थिक अवस्था को भी वह भूले नहीं थे। वह चाहते थे कि उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधरे। उनमें और कुछ हरिजनों में इस विषय पर मतभेद था। कुछ हरिजनों का विशेषकर ऐसे लोगों का जो आधुनिक शिक्षा पाये हुए हैं और जो केवल आर्थिक तराजू पर ही सब कुछ तौलना जानते हैं, यह विचार था कि उनकी राजनीतिक और आर्थिक अवस्था यदि सुधार दी जाय, तो समाज में उनका जो उचित स्थान है वह उनको खुद-ब-खुद मिल जायगा। इसलिए वे लोग मंदिरों और देवस्थानों को खुलवाने के प्रयत्नों को उतना महत्त्व नहीं देते थे जितना महात्माजी। उनलोगों का विचार था कि मंदिरों के बदले हरिजनों के लिए स्कूल खुलवाना, अधिक नौकरियाँ दिलवाना, जमीन दिलवाना और दूसरे प्रकार से उनकी आर्थिक स्थिति सुधारना ज्यादा जरूरी है। किन्तु महात्माजी भी इन विषयों को अपनी आँखों से ओझल नहीं रखते थे। अस्पृश्यों को समाज में दूसरे हिन्दुओं की बराबरी का स्थान दिलाना तथा धार्मिक विषयों में उन्हें उन्नत करना भी वह उतना ही आवश्यक समझते थे। इसका कारण यह था कि महात्माजी के विचार में मानवता के नाते किसी भी मनुष्य को अछूत मानना अथवा उसे देवदर्शन का अधिकार न देना, अस्पृश्यों के प्रति और जो अस्पृश्यता मानते हैं उनके लिए भी, पाप है। इसलिए जबतक समाज इस पाप से मुक्त नहीं किया जायगा तबतक समाज की स्थिति भी सुधर नहीं सकती। हरिजन इस समाज के अंग है। हरिजन को जितना सुधारना चाहिए, नहीं सुधारा जा सकता। महात्माजी अपने काम में लगे रहे। जैसे उन्होंने सनातनियों के विरोध की परवा नही की वैसे ही हरिजनों के विरोध से भी वह अपने विचारों से विचलित नहीं हुए। अब तो सारा देश यहाँ तक एकमत पर पहुँच गया है कि इस समय के बने विधान ने अस्पृश्यता को एक अपराध या जुर्म करार दिया है और राज्य का यह धर्म बताया है कि वह उसको निर्मूल कर दे।

इसके अलावा, पिछड़े हुए लोगों की उन्नति के लिए, उस विशेष मंत्री पर यह भार दिया जायगा जो इस विषय पर ध्यान दिया करेगा और उसका यह कर्तव्य होगा कि वह उन नियमों तथा विधियों का पालन करावे, जो अस्पृश्यता दूर करने के लिए बनाई जायँगी। वह सभी पिछड़ी हुई जातियों की शिक्षा और हरएक दृष्टि से उनकी उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहेगा। दस साल के बाद एक कमीशन होगा, जो उनकी और दूसरी पिछड़ी हुई जातियों की स्थिति की जाँच करके राष्ट्रपति के सामने सभी बातों की रिपोर्ट पेश करेगा। वह रिपोर्ट धारासभा में विचारार्थ रखी जायगी। फिर उन सभी लोगों के लिए, जिनके लिए अलग चुनाव-क्षेत्र और धारासभाओं में निश्चित स्थान

सुरक्षित रखे गये हैं, नये विधान में वे सब हटा दिये जायँगे। अस्पृश्यवर्ग और आदिम जातियों के लिए अभी दस वर्षों तक स्थान सुरक्षित रखे जायँगे। इस तरह, नये विधान में, और लोगों की बराबरी में उनको ला देने के लिए, जहाँ तक विधान और नियम से हो सकता है, प्रयत्न किया गया है। जो भी गवर्नमेंट हो, चाहे जिस-किसी भी दल की हो, उसको वैधानिक नियमों के अनुसार ही काम करना होगा। इसमें संदेह नही कि जो कुछ अस्पृश्यता रह गई है उसके दूर करने में और पिछड़ी हुई जातियों को दूसरों की बराबरी में पहुँचा देने मे ये नियम बड़े काम के होंगे। पर नये विधान और भविष्य के लिए ही यह कार्यक्रम नहीं बना है। जो कुछ पिछले कई वर्षों से हो रहा है और जिनके अनुसार कांग्रेसी सरकारें काम करती आ रही है उन्हीं बातों को नये विधान में एक पूर्ण रूप देने का प्रयत्न किया गया है। जब से महात्माजी ने जोर लगाया तभी से सभी कांग्रेसी, जिनका कहीं भी इससे कुछ सम्पर्क हुआ है, इसे दूर करने के प्रयत्न में लगे है। फलस्वरूप कई सूबों म, विशेषकर दक्षिण में—जहाँ यह प्रश्न बहुत ही जटिल और उग्र रूप धारण किये हुए था—कानून द्वारा मंदिरों और देवस्थानों में हरिजनों का प्रवेश करा दिया गया। इसके लिए कानून भी बन गये। सभी जगहों में उनके लिए विशेष छात्रवृत्ति देकर, छात्रालय खोलकर, और दूसरे प्रकार से भी, शिक्षा मे प्रोत्साहन दिया जा रहा है। उनको नौकरियाँ भी दी जा रही है—यद्यपि अभी शिक्षा के अभाव के कारण सभी स्थानों के लिए उनमे से योग्य उम्मीदवार नहीं मिलते और जितनी जगहे उन्हें मिलनी चाहिए थी उतनी अभो नहीं मिली है। १९३७ मे ही, जब कांग्रेस पहले-पहल कई सूबों मे मंत्रिमंडल बना सकी, हरिजन-मंत्री मुकर्रर हुए। वे इस समय भी प्रायः सभी सूबों मे हैं। केन्द्र मे तो दो ऐसे मंत्री है। इस प्रकार बहुत तेजी के साथ वायुमंडल बन रहा है। जो हजारों वर्षों तक रूढ़ि बनी रही है वह अब आहिस्ता-आहिस्ता टूटती जा रही है। इसमे सदेह नही कि यह कुप्रथा शीघ्र ही नेस्तनाबूद हो जायगी।

पच्चीसवाँ अध्याय

जब १९३० में महात्माजी साबरमती-आश्रम से, नमक-कानून तोड़ने के निमित्त सत्याग्रह आरम्भ करने के लिए, डाडी-यात्रा पर निकले थे, तब उन्होने कहा था कि वह आश्रम में स्वराज्य लेकर ही लौटेंगे। दृढ़ निश्चय के साथ उन्होंने यह कहा था। इसका एक प्रमाण हमको तब मिला जब इसका प्रयोग हरिजनों के लिए अलग चुनाव-क्षेत्र-सम्बन्धी प्रधान मंत्री मैकडोनल के साम्प्रदायिक निर्णय के बदलवाने में उन्होंने किया। उस समय किसी ने उनकी इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया था, और न किसी ने यह सोचा था कि उस यात्रा मे अगर वह स्वराज्य नहीं प्राप्त कर सके, तो उसका फल यह होगा कि वह उस आश्रम को--जिसे उन्होंने कितने परिश्रम और आशाओं के साथ बनाया था और जहाँ उन्होंने अपने आदर्शों के अनुरूप सेवक तैयार करने का प्रयत्न किया था—एकबारगी हमेशा के लिए छोड़ ही देंगे। पर महात्माजी जब इस तरह की बातें कहते थे तो वह बिना सोचे-विचारे नही कहते थे। एक बार कोई बात कह देने पर उसे वह भूलते नहीं थे—उसको पूरा करके ही छोड़ते थे। इसलिए, जब वह १९३१ के आरम्भ में जेल से निकले तो बराबर इधर-उधर सफर करते रहे। फिर गोलमेज-कान्फ्रेन्स से लौटने के बाद जेल में बन्द रखे गये। जेल से निकलकर वह हरिजन-सेवा और भूकम्प-पीड़ित बिहार की सहायता के लिए सफर करते रहे। बिहार में कुछ दिनों तक ठहरे भी, साबरमती नही गये। साबरमती-आश्रम की एक शाखा वर्धा में कई वर्षों से, श्रीविनोबा जी की देख-रेख मे, चल रही थी। महात्माजी भी हर साल वहाँ वर्ष में कुछ दिनों के लिए जाकर ठहरा करते थे। हरिजन-यात्रा समाप्त होने के बाद उन्होंने वर्धा मे जाकर रहने का निश्चय किया। कुछ दिनों तक वर्धा में सेठ जमनालाल बजाज के दिये हुए बगीचे में रहे। वहीं पर ग्राम-उद्योग-संघ की स्थापना की और चर्खा-संघ के काम का तरीका बहुत करके बदल दिया। १९३४ से १९४२ तक वर्धा मे या वहाँ से चार मील की दूरी पर सेगाँव मे रहकर उन्होंने रचनात्मक कार्य का फैलाव बहुत बढाया। सेगाँव एक छोटा-सा गाँव है, जिसके हिस्सेदार मालिक सेठ जमनालालजी ही थे। सेगाँव का ही नाम सेवाग्राम पड़ गया, जो आज संसार में विख्यात है। यह आठ वर्ष का

समय विशेषकर रचनात्मक काम में ही लगाया गया। उस कार्यक्रम में एक-एक विषय को लेकर उन्होंने देश का मार्ग-निर्देश किया।

हरिजन-सेवक-संघ का जिक्र ऊपर आ चुका है। उसके मंत्री श्री ठक्कर बापा और प्रधान सेठ घनश्याम दास बिरला थे। उसका मुख्य दफ्तर दिल्ली में कायम हुआ। आज भी वही है। पर सारे काम की प्रेरणा महात्माजी से उसे मिलती रही। महात्माजी ने अपना एक नियम बना लिया था कि वह जहाँ-कहीं जाते और रहते, हरिजनों के लिए पैसे जमा करते। इसके लिए उन्होंने कई तरीके निकाल लिये। जब कभी वह सफर में जाते तो उनके दर्शनों के लिए जो भीड़ आती उससे हाथ बढ़ाकर पैसे माँगते। रेल के स्टेशनों पर जहाँ-कहीं गाड़ी ठहरती, लोगों की भीड़ लग ही जाती; बस महात्माजी का हाथ डब्बे के बाहर निकल आता, लोग पैसे देने लगते। संध्या के समय बराबर सार्वजनिक प्रार्थना किया करते। उसमें भी बड़ी भीड़ हुआ करती। तो उस अवसर पर भी वह पैसे जमा करते। कुछ दिनों से हस्ताक्षर लेने की चाल चल गई। बहुत लोग बड़े लोगों से हस्ताक्षर लेना चाहते। महात्माजी ने एक नियम बना लिया कि वह पाँच रुपये लिये बगैर किसी को हस्ताक्षर नही देंगे। इससे अब हस्ताक्षर की माँग तो कम हो गई, पर उससे कुछ पैसे तो आ ही जाते। उनको यह भी नही कहना पड़ता कि वह कुछ ही लोगों को हस्ताक्षर देंगे, सबको नही। जो कोई फीस दाखिल कर देता उसको हस्ताक्षर मिल जाता। जो नही करता, वह चाहे कितना ही बड़ा आदमी क्यों न हो, हस्ताक्षर उसको नही मिलता। धनी लोग पाँच रुपये के बदले बहुत अधिक देकर हस्ताक्षर लेते। इन तरीकों से वह वर्ष-भर मे एक बड़ी अच्छी रकम जमा कर लेते, जो हरिजन-सेवक-संघ को दे दिया करते। 'हरिजन' नामक साप्ताहिक पत्र अङ्गरेजी में और थोड़ा-बहुत नाम बदलकर हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला तथा उर्दू मे भी बराबर निकलता रहा। जैसा उनका तरीका था, वह 'हरिजन' मे स्वयं बहुत लिखा करते थे। जो कुछ दूसरे लिखते थे वह भी, बिना अच्छी तरह शोधे, नही छापा जाता था।

खादी के काम मे एक नया दृष्टिकोण वह वर्धा में बैठकर लाये। जब उन्होने खोज करके चरखा निकलवाया और उसको शुरू में साबरमती-आश्रम में चलवाना शुरू किया, तो देश की स्थिति यह थी कि बहुत जगहों मे चरखे चलते थे, जिनके द्वारा तैयार हुए सूतों से बहुत प्रकार के कपड़े बना करते थे। बहुत जगहों मे तो मोटे ही सूत निकला करते थे जिनसे मोटे कपड़े ही तैयार हुआ करते थे। पंजाब के बहुत घरों मे चरखे चला करते थे, पर सूत बहुत करके खेस-जैसी चीजों के बनाने मे ही खर्च होता था। राजपूताना में भी मोटा कपड़ा ही ज्यादा करके बनता था। पर कहीं-कही महीन सूत भी बनता था, जैसे आंध्र में। वहाँ का महीन सूत का कपड़ा बहुत ही प्रसिद्ध था। इसी तरह, बिहार में एक विशेष प्रकार की रूई हुआ करती थी, जिसका रंग बहुत ही सुन्दर होता था। उससे बहुत महीन सूत कातकर बहुत ही मुलायम और खुशरंग कपड़ा बना करता था, जिसे 'कोकटी' कहते है। नैपाल-राज्य में कोकटी का बड़ा आदर था। विशेष करके पाल-राज्य से मिले हुए दरभंगा-जिले में कोकटी बहुत बना करती थी। नैपाल के

प्रोत्साहन से ही यह कपड़ा चलता रहा। पर यह सब होते हुए भी यह कहना अत्युक्ति नही कि चरखा प्रायः लुप्त हो चुका था, दिन-दिन लुप्त होता जा रहा था। करघों की हालत इतनी गिरी नही थी—यद्यपि करघे भी कम होते जा रहे थे। बिहार में, गवर्नमेंट ने, १९२१ की मनुष्य-गणना के साथ, करघे का भी हिसाब लगवाया था। पता चला था कि बिहार-सूबे मे प्रायः पाँच करोड़ का कपडा करघों पर बनता है! पर अधिक करके सूत मिल का ही हुआ करता था। उसी तरह, और सूबों मे भी, करघों पर बहुत कपड़ा बना करता था। अनुमान है कि उस समय जितना कपड़ा देश में तैयार होता था उसका एक-चौथाई से एक-तिहाई तक हाथ के करघों पर ही तैयार हुआ करता था। महात्माजी ने देखा कि चरखे को अगर प्रोत्साहन नही दिया जाता है तो एक समय आयेगा जब करघे भी बन्द हो जायँगे; क्योंकि कारखानों को सूत बनाकर साथ ही कपड़े बुन लेने में अधिक लाभ था; केवल सूत की कताई में उतना फायदा नही था। इसलिए वे अवश्य केवल सूत की कताई कम कर देंगे और कताई-बुनाई दोनों करने लगेंगे। इसका फल यह होगा कि हाथ के करघों के लिए मिलों से सूत मिलना कम होता जायगा और अन्त मे बन्द हो जायगा। इसलिए उन्होंने सोच लिया कि करघों को भी अगर जीवित रखना है तो फिर से चरखा चलाना जरूरी है। उस वक्त तक जहाँ-तहाँ जो स्वदेशी को प्रोत्साहन देने-वाले लोग थे वे करघे पर ही अधिक जोर दिया करते थे।

जब से चरखे का काम शुरू किया गया, काम करनेवालों का प्रयत्न यह रहा कि जितना अच्छा और महीन कपडा बनाया जा सके, बनाया जाय। तय किया गया कि जहाँ जो उत्पत्ति-केन्द्र खोले जायँ, इस बात का प्रयत्न किया जाय कि कम खर्च में बढ़िया-से-बढ़िया कपड़े तैयार किये जायँ। पर दिक्कत यह थी कि वहाँ चरखे तो चलते, पर रूई का अभाव था। इसलिए वैसी रूई यहाँ और भी दूर से लाई जाकर सूत कातनेवाली कत्तिनों को दी जाती। कहीं-कहीं वह रूई वहाँ खरीद ली जाती और सूत का दाम देकर बेची जाती थी। कहीं-कहीं सूत और रूई का बदला होता, जिसमें सूत के डेढ़-गुने पौने-दो-गुने के हिसाब से सूत की बारीकी पर रूई दी जाती। जो अधिक रूई मिलती वह उनको मजदूरी मे दी जाती। मैं खुद कई उत्पत्ति-केन्द्र जाकर देखा करता और स्वयं रूई-सूत तौला करता। गरीब कत्तिनों की भीड़ लगी रहती। वे दूर-दूर से आकर सूत बेच जाया करती। उससे जो चन्द पैसे मिल जाते वही उनका सहारा रहता। यदि खादी-भंडार उनका सूत नही खरीदते तो कई दूसरे भी खरीदनेवाले होते। कहीं-कहीं अधिक करघे चला करते, बुनकर लोग मिल और चरखे के सूत मिलाकर बुना करते। ऐसी जगह कुछ सूत बिक जाया करते। यहाँ भी जब चरखा-संघ ने काम शुरू किया तो कत्तिनों का काम बहुत बढ़ गया, सूत अधिक बनने और बिकने लगा। अभी यह विचार नही था कि सूत कातने के लिए जो मजदूरी दी जाती है उससे कत्तिनों को अभी क्या बचता है और उनका पूरा पारिश्रमिक होता है कि नही। यह सभी समझते थे। हम उनको यह भी न दें तो बिचारी की यह आमदनी भी बन्द हो जाय। हम जो यह देते है तो उनके प्रति यह हमारी बड़ी मेहरबानी है। यह भी सोचना पड़ता था कि हम जो खादी

तैयार करते है वह सब निकल जाय। इतनी कम मजदूरी देने पर जो खादी बनती थी उसकी कीमत मिल के कपड़े से बहुत ज्यादा होती और खादी बेचने का एक बहुत बड़ा सवाल हमारे सामने रहता। एक तरफ तो हम खादी को सुन्दर और शृङ्गारिक बनाकर लोगों को लुभाते थे; दूसरी तरफ हमारी कोशिश यह रहती थी कि हम उसको मिल के कपड़े की कीमत में ला दें। काम तो कठिन था, पर इसमें सफलता बहुत हद तक मिली; क्योंकि कत्तिनो की जैसी उन्नति होती गई, हम बढिया खादी तैयार करते और कीमत भी घटाते गये। मोटी खादी की कीमत तो प्रायः मिल के कपड़े की कीमत मे आ गई थी, पर महीन खादी की कीमत में अभी बहुत फर्क था।

मै देखता था कि ऐसे उद्योग से बहुत गरीबों को कुछ-न-कुछ रोजी मिलने लगी है—यद्यपि वह थोड़ी ही थी। इसलिए खादी का प्रचार और प्रसार बढ़ाना हम अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उस समय ऐसा मालूम देता था कि हम अगर बिक्री बढ़ाने का प्रबन्ध कर सकें तो हम जितनी चाहें उतनी खादी उत्पन्न कर सकते है। पर हाँ, बारीक और महीन खादी की उत्पत्ति सीमित होगी; क्योकि महीन सूत कातनेवाली कत्तिनें कम थी और उनकी प्रगति भी ज्यादा नही थी। फिर हमे तो लोगों को यह बताना था कि यद्यपि गज-पीछे खादी में अधिक पैसे लगाने पड़ते थे, तो भी कई दृष्टियों से खादी सस्ती थी। हमारा दावा था कि खादी अधिक टिकाऊ होती है और यह दावा शास्त्रीय रीति से साबित किया जा सकता है। एक बात यह थी कि जहाँ सिर्फ रूई पैदा होती थी वहीं पर यदि उसका कपड़ा बन जाता है, तो खेत से रूई निकालने के थोड़े ही दिनों के अन्दर कपड़ा तैयार हो सकता है। पर जो कपड़ा मिल में तैयार होता है उसकी रूई कम-से-कम माल-डेढ-साल पहले खेत से निकाली गई होती है। समय का असर टिकाऊपन पर पड़ता ही है। यह समय एक और प्रकार से खादी में और भी कम लगता था; क्योकि तैयार होने पर कपड़ा जहाँ बनता था वहीं आसपास मे जल्द-से-जल्द बिक जाता था, और मिल का कपड़ा तैयार होने के बाद भी कारखाने के अन्दर से दूकानों में जाकर पड़ा रह जाता। दूसरा कारण भी अधिक टिकाऊपन के लिए था। जहाँ रूई पैदा होती थी वहाँ खेत से निकाली जाकर घर मे ओटनी पर ओटी और धुनकी से धुनी जाती जिससे उसका सूत तैयार हो सकता था। इस तरह उसकी उटाई और धुनाई में तथा उसके रेशों में उतना जोर और उतनी खीचतान नही पड़ती जितनी मिल में पड़ती है। इसमें शक नहीं कि मिल की उटाई में भी रूई काफी खीचतान में पड़ जाती है। फिर ओटे जाने के बाद वह गाँठो में इतना कसकर बाँधी जाती कि एक ईंट की तरह हो जाती है, फिर उसे धुनने के वक्त बिलगाना पड़ता है। उस क्रिया से उसके रेशे बहुत कमजोर हो जाते हैं। खादी में स्थानीय रूई इन क्रियाओं से पहले बच जाती है, इसलिए उसके रेशे की ताकत बनी रहती है। फिर धुनाई का तरीका भी मिल का ऐसा होता है कि जिसमें रेशे पर बहुत काफी जोर पड़ता है। रेशे कई बार खींच-तानकर दुरुस्त किये जाते है। मिल की बनी प्यूनी सूत कातने में तो बहुत अच्छी है, क्योंकि उसके सब रेशे सीधे कर दिये जाते है, पर इसमें शक नहीं कि ऐसा करने में उनकी दुर्गति हो जाती है। यही कारण है कि जिस रूई से

मिल में बीस नम्बर का सूत बनता है उसी रूई से चरखे पर आसानी से चालीस-पचास नम्बर तक का सूत बन सकता है। सूत की कताई मे भी मिल में रेशों को ज्यादा खींचतान बर्दाश्त करना पड़ता है। इन सब कारणों से मिल का सूत, ताकत में, हाथ के सूत का मुकाबला नही कर सकता है। पर इसकी शर्त यह है कि जितने प्रकार की क्रियाएँ होती हैं वे ठीक तरह से की जायें। जैसे—ठीक तरह से उटाई-कताई नही होगी तो सूत अच्छा नहीं हो सकता। अगर ठीक तरह से सूत नही काता गया, उसमें जितने परिमाण में बल देना चाहिए उतने में नही दिया गया, तो सूत कमजोर होगा।

मिल के और हाथ के काम में एक बहुत बड़ा फर्क यह पड़ता है कि मिल के एक प्रकार की धुनाई और कताई करने पर अगर कुजी लगती गई तो ठीक वैसी ही बुनाई और कताई होगी, उसमें बहुत फर्क नही पड़ेगा। अगर पुर्जे में कही कोई ऐब हो तो वह पुर्जा हमेशा अपना ऐब सूत में दिखाता जायगा। सूत के कातने मे अगर पुर्जे मे कोई ऐब है तो हर दो गज सूत पर उस पुर्जे का ऐब सूत में देखने में आयेगा या सूत ऐसे स्थान पर पहुँचेगा तो पुर्जे का असर उस पर पड़ेगा ही। इसलिए कल के काम में एक प्रकार की समानता होती है, चाहे वह गुना में हो या सूत मे। हाथ के कामों में यह बात नहीं होती है; क्योंकि एक तो मनुष्य कल की तरह काम नही कर सकता और दूसरे उसकी शक्ति, मनोवृत्ति तथा अनेक दूसरी बातों का असर उसके काम पर पड़ता ही रहता है, इसलिए हाथ के काम में, करनेवाले का व्यक्तित्व, विशेष रूप से, व्यक्त होता रहता है। जबतक कातनेवाला पूरा दक्ष नही हो जाता, सूत समान नही होता और न उसमें समान शक्ति होती है। पर कल के सूत मे एक विशिष्ट स्थान पर जो विशेष कमजोरी आयेगी, वह सहसा देखने में नहीं आती है; क्योंकि इसकी कमजोरी अगर होती है तो नियमित रूप से ठीक उतनी दूर पर नही होती जितनी मिल में।

अगर खादी का ठीक प्रबन्ध किया जाय, जैसा होना चाहिए, तो इसमें संदेह नहीं कि वह बाद मे मिल के मुकाबले कम खर्च में तैयार कराई जा सकती है। खादी का असली रूप में सिद्धांत यह है कि जहाँ किसान अपने खेत में कपास पैदा करे वहीं पर वह उसके घर में ओटी और धुनी जाय तथा उसका सूत घर में ही तैयार कर लिया जाय और वह सूत भी गाँव में ही बुन लिया जाय। इस तरह तैयार की हुई खादी घर के लोग इस्तेमाल करें। इससे एक तो जल्द-से-जल्द रूई का कपड़ा तैयार हो सकता है, इसलिए समय बीतने की वजह से जो कमजोरी जानी जाती है वह बहुत हद तक बचाई जा सकती है—दूसरे, कारखाने की यह हालत है कि कपास एक गाँव में पैदा की जाती है, फिर लादकर कुछ दूर के किसी शहर में ढोकर धुनवाई के कारखाने में पहुँचाई जाती है, वहाँ ओटकर वह गाँठों में कसकर बाँधी जाती है, वे गाँठें भी जहाँ-कहीं घिरनी-कल है वहाँ पहुँचाई जाती है। हिन्दुस्तान में ही कितने सौ मीलों की दूरी से रूई लाकर घिरनी-कल मे सूत बनाते है। बहुत करके तो विदेशों से भी रूई लानी पड़ती है। दूसरे देशों में, जैसे इंगलैंड में, तो सारी रूई दूसरे देश से ही मँगानी पड़ती है, क्योंकि वहाँ रूई नहीं होती है। पर उससे जो कपड़ा तैयार होता है वह दुनिया के सब देशों में, जहाँ

उसकी खपत होती है और जिस कारखाने से उसका सम्पर्क होता है, पहुँचाया जाता है। उस देश के गाँव-गाँव तक में वह बेचा जाता है। इस तरह, खेत से उटाई के कारखाने तक और उटाई के कारखाने से घिरनी-कल तक तथा घिरनी-कल से खरीदार तक कपास, रूई और कपड़ा ढोने में जो इतना खर्च पड़ता है वह खादी में एकबारगी बच जाता है। वह कुछ छोटी रकम नही होती। कपड़े की कीमत का एक बड़ा अंश ढलाई का खर्च होता है। इसके अलावा भी हर मौके पर बीच के व्यापारी अपना मुनाफा रखते है, जो कपड़े की कीमत में ही जोड़ा जाता है। ऊपर बताया गया है कि मिल के कपड़े के मुकाबले खादी अधिक मजबूत बनाई जा सकती है। ये सब बातें अगर ध्यान में रखी जायँ और गाँव के लोग गाँव की रूई को गाँव मे ही धुन-कात-बुनकर कपड़ा तैयार कर लें, तो इसमें कोई शक नही कि खादी अगर किफायत नहीं तो मिल के मुकाबले कम कीमत में ही गाँववालों को मिल सकती है। पर हम आलसी हो गये है। इसलिए बनी-बनाई चीज पैसे देकर लेना अधिक पसन्द करते है। इसीलिए खादी महँगी मालूम होती है।

महात्मा गांधी इन बातों पर जेल में बहुत विचार करते रहे। साथ ही, उनके सामने उस समय यह भी सवाल था कि कत्तिनों को जो मजदूरी मिलती है वह क्या इतनी कम होती है कि उससे उनका गुजारा नहीं चल सकता? और, यद्यपि 'जहाँ कुछ न हो वहाँ थोड़ा भी तो हो' की नीति के अनुसार उनको जो कुछ भी मिल जाता है वह उनको देना एक प्रकार की मेहरबानी है, तथापि खादी पहननेवाले को यह उचित नही है कि वह ऐसा कुछ करे जिससे सूत कातनेवाली कत्तिनों से अपना काम निकाले। इसलिए, उन्होंने वर्धा में खादी के सम्बन्ध में नई नीति निकाली। वह यह थी कि कत्तिनों को इतनी मजदूरी मिलनी ही चाहिए कि वे उससे अपना गुजर कर सके।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कत्तिनों की मजदूरी बढ़ा देने से खादी की कीमत बहुत बढ़ जाती थी। कम मजदूरी देकर भी खादी की बिक्री मे जितनी दिक्कत थी वह अधिक दाम बढाने से और बढ़ जाती थी। हमम से बहुतेरों का विचार था कि इस प्रकार जो खादी कम हो चली है वह और कम होती जायगी तथा खादी की बिक्री भी घट जायगी। गांधीजी उतनी दूर तक समझौता करने के लिए तैयार थे कि हम अगर उतनी मजदूरी नही दे सकते थे तो जो उस समय मजदूरी देते थे उससे कई-गुना मजदूरी बढ़ा देनी चाहिए। मजदूरी की दर इस तरह लगाई जाय कि जिसमे आध घटे काम करके कोई भी कत्तिन अगर औसत दर्जे का सूत कात सकती है और उसकी औसत प्रगति तीन सौ गज घंटे में है तो उससे वह तीन आने मजदूरी पा सकेगी। बहुत छान-बीन के बाद, और कुछ दिनों तक श्रीबिनोवा भावे के प्रयोग के बाद, यह निश्चय किया गया कि जिसमें और कार्यकर्त्ताओं को सूत खरीदने में आसानी हो और वे कत्तिनों का पता लगा सकें कि उन्हें ठीक मजदूरी दी जा रही है या नहीं, इसकी एक तालिका तैयार की जाय कि यह अमुक नम्बर का सूत है जिसके लिए लच्छी-पीछे अमुक मजदूरी दी जायगी। जैसा सोचा गया था—इससे खादी की कीमत बहुत बढ़ गई। साथ ही, यह भी मानना पड़ेगा कि

खादी की बिक्री कम नहीं हुई; क्योंकि बहुत करके जहाँ उत्पत्ति की जाती थी वहाँ खादी अधिक बिकने लगी और एक नया वर्ग खादी पहननेवालों का उत्पन्न हो गया। अभीतक जो कत्तिन सूत कातती थी अथवा जो बुनकर उसे बुनते थे वे अपने हाथ के कते हुए सूत से अपने हाथ का बुना कपड़ा खुद भी बहुत कम पहना करते थे। खादी बुननेवाले खुद खादी नहीं पहनते थे, दूसरे लोग ही उसका उपयोग करते थे। अब यह निश्चय किया गया कि सूत कातनेवाले और बुननेवाले भी खादी पहना करें। अधिक मजदूरी की एक शर्त यह भी थी कि उसमें से एक अंश काट लिया जायगा जिसके बदले में उसे पहनने के लिए खादी दी जायगी जिसको उसे स्वयं पहनना ही पड़ेगा। इस तरह, मजदूरी का एक अंश प्रति सप्ताह अथवा एक पखवारे में काट कर कत्तिनों के नाम पर जमा रखा जाता था और जब उनको जरूरत होती थी तो उनको कपड़ा दे दिया जाता था। इससे उनको एक दूसरा लाभ यह होता कि सब कत्तिनों के नाम पर अलग हिसाब रखा जाने लगा और उसके द्वारा प्रत्येक कत्तिन के साथ चरखा-संघ का प्रमाणित सम्बन्ध हो गया। मजदूरी लगाने के वक्त उसके हर लच्छी-सूत की जाँच भी होती और सूत की लच्छी के हिसाब से मजदूरी मिलने के कारण उनको सूत सुधारने मे काफी प्रोत्साहन मिला। इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरों को जो खादी मिलती वह पहले के मुकाबले बेहतर होती। यद्यपि लोगों को दाम ज्यादा देना पड़ता तथापि उतना खलता नही। खादी की माँग काफी बढती गई। जो डर था कि बेकार की दिक्कत बढ़ जायगी वह बहुत हद तक निराधार साबित हुआ। माँग बढ़ने के और कारण हो सकते है—दूसरे लोगो में अधिक जागृति इत्यादि। पर इसमें सन्देह नही कि उस नीति से खादी की उन्नति हुई।

इसका एक दूसरा नतीजा यह हुआ कि अप्रमाणित खादी बहुत बिकने लगी। चरखा-संघ स्वयं अपने केन्द्रों में खादी तैयार कराया करता और अपनी दूकानों में स्थान-स्थान पर बेचा करता था। इसके अलावा वह बहुतेरे व्यापारियों को, जो शुद्ध खादी बनवाते थे, प्रमाणपत्र भी दिया करता था। उनकी तैयार की हुई खादी भी वैसी ही शुद्ध समझी जाती थी जैसी चरखा-संघ की। इस तरह, अपनी खादी में और चरखा-संघ में इस तरह की प्रमाणित खादी उत्पन्न करनेवालों में, सस्ती-से-सस्ती और अच्छी-से-अच्छी खादी तैयार करने की एक प्रकार से होड़-सी लगी रहती थी। अभी जो चरखा-संघ ने मजदूरी बढ़ा दी थी उससे ऐसे खादी-उत्पादक भी, जो पुरानी मजदूरी पर ही सूत खरीदते थे, बहुत मुनाफा करने लगे। इसलिए प्रमाणित खादी वही समझी जाने लगी जो नई नीति के अनुसार काफी मजदूरी देकर तैयार कराई जाती। बहुतेरे उत्पादकों ने नई रीति मान ली। चरखा-संघ ने, अधिक मजदूरी की शर्त मनवाकर और उसकी देख-भाल का प्रबन्ध करके, उनको प्रमाणपत्र दे दिया। पर बहुतेरे ऐसे भी निकले जिन्होंने प्रमाण-पत्र नही लिया। वे पुराने ढंग से मजदूरी की पुरानी दर पर ही काम कराते रहे। ऐसे लोगों को, बहुतेरे कांग्रेसी लोग भी—जिन्होंने नई नीति को पसन्द नहीं किया, प्रोत्साहन देते रहे। इससे बाजार में खुले-आम प्रमाणित और अप्रमाणित खादी बिकने लगी। अप्रमाणित खादी बेचनेवाले और तैयार करनेवाले काफी मुनाफा करने लगे; क्योंकि उनकी खादी कम

खर्च में तैयार होती और उसे वे काफी मुनाफा करने पर भी प्रमाणित खादी से सस्ते दाम में बेच सकते। जितना फर्क मजदूरी में था उसके अनुपात मे खादी की बिक्री के दरम्यान कम फर्क था। वह मुनाफा पूरे रूप मे अप्रमाणित खादी बेचनेवालों को मिल जाता। इस प्रकार, अप्रमाणित खादी बहुत बिकने लगी। चरखा-संघ सब सूत खरीद नहीं सकता था; क्योंकि उसके पास इसके लिए काफी साधन नही था। इसलिए कम मजदूरी देकर भी दूसरों को काफी सूत मिल जाता। इसकी रोक-थाम करने का प्रयत्न चरखा-संघ ने किया। काग्रेस-कार्यकारिणी ने भी कांग्रेस-जनों को आदेश दिया कि वे प्रमाणित खादी ही व्यवहार मे लावे और अप्रमाणित खादी को खादी ही न समझे। बहुतेरो ने इस बात को नही माना ! अतः अप्रमाणित खादी खूब चलती ही रही।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नई नीति से खादी मे सुधार बहुत हुआ। चरखा-संघ सूत इत्यादि मे जितना सुधार करना चाहता था, कर सका। वह गाँव में खादी अधिक चलाने लगा। इसका दूसरा कारण यह भी हुआ कि महात्माजी ने यह निश्चय किया कि जहाँ तक हो सके, खादी जहाँ पैदा की जाय वही उसकी खपत होनी चाहिए। कुछ दिनों के बाद एक सूबे से दूसरे सूबे मे खादी का आना-जाना बन्द कर दिया गया। विशेष प्रकार की खादी इधर-उधर बाहर भेजने की इजाजत मिलती, पर मामूली तौर से खादी सूबे के बाहर नही भेजी जा सकती। ऊपर बताया जा चुका है कि कपड़े को एक स्थान से दूसरे स्थान मे ढोकर ले जाने में काफी खर्च पड़ता है। वह खर्च यथासाध्य खादी मे बचाने का प्रयत्न किया गया।

खादी की नीति में बड़ा परिवर्तन हो गया। उत्पत्ति और बिक्री पर जितना जोर दिया जाता था, आहिस्ता-आहिस्ता अब दिया जाने लगा। इससे खादी पहले के मुकाबले अधिक बिकती, पर अभी जो स्वावलम्बन पर अधिक ध्यान जाने लगा उस स्वावलम्बन का अर्थ यह है कि व्यक्ति और समाज दोनो अपने लिए खादी को अपने स्थान पर ही तैयार तथा इस्तेमाल करें। यह नीति एकबारगी नई नही थी; क्योंकि पहले भी कई जगहों में इसका प्रयोग किया गया था। इसमे कही-कही कुछ सफलता भी मिली थी। कुछ जगहों में स्वावलम्बन के खयाल से जनता के लिए वही काफी खादी तैयार कर दी जाती, जिससे वहाँ के लोगों को न बाहर से कपड़ा मँगाना पड़ता और न वहाँ की अपनी खादी बाहर भेजनी पड़ती। यह प्रयोग बहुत बड़े दायरे मे नही किया गया था, पर सफल हो गया था—यद्यपि इसका नतीजा स्थायी नही निकला, फिर भी जबतक वैसे स्थान पर कार्यकर्त्ता काम करते और लोगो का उत्साह बढाते रहे तबतक काम होता रहा। उनके हट जाने पर लोगों ने उतनी खादी बनाना भी छोड़ दिया, बस बाहर से फिर कपड़ा वहाँ आने लग गया ! महात्माजी ने सोचा कि जबतक लोगों में खादी के प्रति इतना उत्साह और प्रेम नही पैदा होगा कि उसे वे कभी छोड़ने को तैयार न हों तबतक यह काम उतना व्यापक नहीं हो सकता जितना वह चाहते थे। इसके लिए खादी-सम्बन्धी ज्ञान और खादी बनाने के साधन—दोनों की जरूरत थी। चरखा-संघ ने अब इस पर अधिकाधिक ध्यान दिया। उसे इतनी प्रेरणा मिली कि वह जहाँ काम करे

वहाँ लोगों को खादी का शास्त्रीय ज्ञान बतलावे और खादी-सम्बन्धी यन्त्रों में सुधार भी करावे। साथ-ही-साथ ऐसे यन्त्रो से काम लिया जाता कि लोग अच्छी मजबूत खादी बनाना सीखे।

अनुभव के बाद दो बातें विशेष महत्त्व की निकली। एक यह कि रूई ओटने से उसमे कुछ कमजोरी हो जाती है, इसलिए बिनौले निकाल देने का एक ऐसा तरीका निकाला गया, जो पहले से कही-कही प्रचलित था, पर सब जगहों मे नही। इसके लिए यन्त्र की आवश्यकता नहीं होती, केवल छोटी-सी एक पटरी और लोहे या लकड़ी की एक छोटी-सी ऊँगली के समान मोटी सीक काफी थी। धुनाई से भी रेशों मे कमजोरी आती ही है, इसलिए धुनाई के बदले हाथ से की गई तुनाई पर अधिक जोर दिया गया। इन प्रक्रियाओ से रेशे की शक्ति कम-से-कम बिखरती। इसका नतीजा कपड़े पर अवश्यम्भावी था कि कपड़ा अधिक मजबूत निकले। खादी की बुनाई का भी प्रश्न जटिल था। सब कुछ होने के बाद भी हाथ के कते सूत मे उतनी मजबूती और समानता नही आती थी जितनी मिल के सूत मे। इसलिए बुनकर उतनी तेजी के साथ हाथ-कते सूत का कपड़ा नही बुन सकते थे जितनी तेजी से मिल के सूत का। इसका नतीजा यह होता था कि खादी बुनने के लिए वे अधिक मजदूरी लेते थे। खादी का दाम इस कारण से भी अधिक होता था। महात्माजी ने सोचा कि सूत मे सुधार होना चाहिए जिससे बुनकरो को सुविधा हो। तुनाई इत्यादि से कुछ सुधार तो हुआ, पर दो सूतों को एक साथ बटकर बुनाई के योग्य बनाने की रीति बहुत उपयोगी साबित हुई। इसलिए इस पर भी जोर दिया जाने लगा कि दो सूत एक साथ बटकर दिया जाया करे। पर यह विशेष प्रचलित नही हुआ; क्योकि एक तो इसमे एक अजीब प्रक्रिया काम मे लाई जाती है और दूसरे फी गज कपड़े के लिए अधिक सूत भी लगाना पड़ता है। पर इसमे सन्देह नहीं कि कपड़े की मजबूती मे काफी फर्क पड़ जाता है। इस प्रकार की प्रक्रिया मे सुधार का प्रयत्न बराबर होता रहा है, पर इधर अब ज्यादा जोर उत्पत्ति बढ़ाने पर नही रहा। इसलिए, लड़ाई के दिनों मे, और उसके बाद भी, जब देश मे कपड़े की बहुत कमी रही, और जब इसका पूरा मौका भी था कि खादी की उत्पत्ति और बिक्री बहुत बढ़ाई जा सकती थी, तब वह नहीं बढ़ी और इस समय की जो एक बहुत बड़ी कमी थी वह भी पूरी नही की जा सकी।

स्वावलम्बन का काम तो कठिन है ही। इससे खादी की प्रगति देखने में ही नही आती। इसलिए बहुतों के मत मे खादी की नीति समय के अनुकूल नही रही है। उसकी जितनी प्रगति हो सकती थी, लोगो को उससे जितना लाभ पहुँचाया जा सकता था, कपड़े की कमी जिस हद तक दूर की जा सकती थी, इनमें से एक काम भी पूरा नहीं हुआ। कुछ लोग यह मानते हैं कि इस प्रकार की चरखा-संघ की नीति से ही खादी को बहुत नुकसान पहुँचा। लड़ाई के जमाने में, और उसके बाद भी, देश की मिलें लड़ाई के सामान तैयार करने में लगी थीं। इसलिए, जन-साधारण के इस्तेमाल के लिए, मामूली कपड़ा नहीं बनता था या कम बनता था। विदेशी

कपड़ा आना बन्द हो गया। इससे देश मे कपड़े की बड़ी कमी हो गई। इस मौके पर जितनी खादी बन सकती उसे देश खरीद लेता। यही मौका था जब खादी की उत्पत्ति बहुत बढ़ाई जा सकती थी। कपड़े का दाम इतना बढ़ गया था कि मिल के कपड़े के मुकाबले चरखा-संघ की खादी सस्ती पड़ती थी। जो कभी खादी नही पहन सकता था वह भी किफायत के कारण खादी लेना चाहता था। पर उसको खादी नही मिल पाती थी। कही-कही चरखा-संघ को यह भी सोचना और करना पड़ा कि उसके जो पुराने ग्राहक थे—अर्थात् जो आदतन खादीधारी थे—उनके ही हाथों खादी बेची जाय। यह खेद की बात है कि इस मौके से खादी की उत्पत्ति बढ़ाने का लाभ नही उठाया गया और कपड़े की कमी के कारण विदेशो से कपड़ा लाने की नीति गवर्नमेंट को माननी पड़ी!

स्वराज्य की सारी लड़ाई के जमाने में विदेशी-वस्त्र-वहिष्कार हमारे आन्दोलन का एक विशेष महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। इस सम्बन्ध मे अन्य नेताओं के साथ महात्माजी का सिद्धांत-सम्बंधी मतभेद भी रहा करता था। कुछ लोग केवल विदेशी वस्त्र का ही वहिष्कार नहीं चाहते थे, बल्कि उनकी नीति यह रहा करती थी कि सभी ब्रिटिश वस्तुओं का वहिष्कार करना चाहिए; क्योंकि हमारी लड़ाई ब्रिटिश के साथ थी, और चूंकि ब्रिटिश अपनी तिजारत पर ही बहुत-कुछ भरोसा करते है तथा उनका माल हिन्दुस्तान में ही बहुत खपता है, इसलिए उनके माल का वहिष्कार करके ही हम उनपर दबाव डाल सकते हैं, और इसी उपाय से हम स्वराज्य-सम्बन्धी अपनी माँग उनसे मनवा सकेंगे। गांधीजी इस प्रकार की वहिष्कार-नीति मे हिसा की कुछ भावना देखते थे, इसलिए वह सभी ब्रिटिश मालों का वहिष्कार पसन्द नहीं करते थे। कपड़े के सम्बन्ध में उनका यह विचार था कि ब्रिटिश लोगों ने अपने राजसत्तात्मक अधिकार का दुरुपयोग करके भारत के कपड़े के उद्योगधन्धों को नष्ट किया है, इसलिए ऐसे ही उद्योगो को पुनर्जीवित करना चाहिए, क्योंकि यह एक प्रकार से व्यापक और सार्वजनिक उद्योग था, इसके नष्ट हो जाने से गाँव के जीवन में बड़ा परिवर्तन आ गया था। वह मानते थे कि इसके पुनर्जीवित करने में केवल ब्रिटिश-वस्त्र-वहिष्कार से ही काम न चलेगा, बल्कि इसके लिए सभी विदेशो से वस्त्रों का आना बन्द करना जरूरी था। इसीलिए वह सभी विदेशी वस्त्रों के वहिष्कार पर विशेष जोर दिया करते थे, केवल ब्रिटिश-वस्त्र-वहिष्कार पर ही नही।

इधर कुछ वर्षों से, पिछली लड़ाई से पहले, जापान से भी बहुत कपड़ा आने लग गया था। एक प्रकार से जापानी कपड़ा अपना प्रभुत्व जमाता जा रहा था। महात्माजी मानते थे कि ब्रिटिश कपड़े को हटाकर जापानी कपड़ा काम में लाना देश के लिए हितकर नही होगा, देश-हित-साधन सब प्रकार से विदेशी-वस्त्र-वहिष्कार से ही होगा। इधर तो देश की मिलों में ही काफी कपड़ा तैयार होने लग गया है। विदेश से भी कुछ आने लगा है। इसलिए, यद्यपि अभी कपड़े और उसकी कीमत पर नियन्त्रण है तथा उसकी कीमत भी बहुत ही ऊँची है तथापि खादी को जितना चाहिए उतना प्रोत्साहन नही मिल रहा है। आगे क्या होगा, यह भविष्य के गर्भ में है।

महात्माजी ने खादी को केवल एक उद्योग-धन्धे के रूप में नही देखा था—यद्यपि

यह एक ऐसा उद्योग हो जाता जिससे जनता के सबसे गरीब तबके को सहायता मिलती। उन्होंने इसको बार-बार सब उद्योगों का केन्द्र कहा है, कई जगहों पर ऐसा लिखा भी है कि जैसे नक्षत्रों मे सबसे अधिक महत्त्व सूरज का होता है वैसे ही सब ग्रामीण उद्योगों में खादी का प्रमुख स्थान है। स्वराज्य-आन्दोलन के समय में खादी पहनना हमारे आन्दोलन का एक प्रतीक बन गया था। यदि महात्माजी का चलता और सब लोग उनकी बात मानते तो चरखा चलाना प्रत्येक कार्यकर्त्ता और नेता के लिए अनिवार्य हो जाता तथा खादी केवल शरीर पर ही न रहकर दिल के अन्दर भी घर कर लेती; पर ऐसा पूरी तरह हो नहीं सका। कांग्रेस ने इसे केवल एक वर्दी ही माना—वह शरीर पर ही रह गई, अन्दर नही घुस सकी! अगर वह अन्दर घुसती तो हमारे सारे जीवन में गहरा परिवर्तन होता। जहाँ एक तरफ बड़े-बड़े विशालकाय कारखाने दिन-दिन खुलते जा रहे हैं और छोटी-से-छोटी वस्तुओ को भी तैयार करने का काम अपने हाथों मे लेते जा रहे है तथा जहाँ जनता मे बेकारी दिन-दिन बढती जा रही है वही यह खादी इस बात को प्रमाणित करती है कि मनुष्य को सुखी बनाने और सच्चा आनन्द पहुँचाने के लिए बाहरी आडम्बर की उतनी जरूरत नही है जितनी सादा जीवन और आन्तरिक संतोष की। खादी शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा और मर्यादा को बढाती है। महात्माजी, अपने इक्कीस दिनों के उपवासों मे भी, जब उनकी शारीरिक शक्ति बहुत क्षीण हो जाती थी, चरखा चलाना एक दिन भी बन्द नही करते थे। जब सार्वजनिक काम में इतनी भीड़ होती थी कि उनको चरखा चलाने का समय मिलना कठिन हो जाता था, तब भी वह आराम और सोने के समय को घटाकर चरखा चलाने का समय निकाल लिया करते थे। वह चरखा चलाने को यज्ञ समझते थे। जिस धार्मिक भावना से चरखा चलाया करते थे उसी भावना से वह प्रार्थना किया करते थे। उनके लिए चरखा ही दरिद्रनारायण के साक्षात्कार का साधन था। यदि हम उस मर्म को समझ पाते तो हमारे जीवन में सादगी आती, हम कभी गरीबों की रोजी छीनकर बड़े कारखाने के मोह मे न पड़ते और शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा करने लग जाते। फिर तो सारे जीवन का रुख ही बदल जाता। बाहरी चमक-दमक और बाहरी आडम्बर को बढाकर जीवन के स्तर को ऊँचा करने का जो विचार फैल रहा है उसको भी हम ठीक-ठीक समझ लेते। तब हम आन्तरिक संतोष मे ही सच्चे आनन्द का अनुभव करने लगते। परन्तु, हमने वैसा न किया और न समझा। हम तो खादी को बस एक वर्दी मानकर ही चले। वर्दी तो बदली जा सकती है, वह किसी आध्यात्मिक तत्त्व से संबन्ध नही रखती। पर हमने खादी के आध्यात्मिक तत्त्व को ही नही खोया है, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी हम उतनी तरक्की नही कर पाये हैं जितनी करना चाहते थे।

छब्बीसवाँ अध्याय

जब महात्माजी लुप्तप्राय चरखे को फिर से प्रचलित करने का प्रबल प्रयास कर रहे थे तब हमारी आँखों के सामने, देखते-देखते, कितने ही छोट-मोटे घरेलू धधे—जिनको करके बहुतेरे गरीब गुजारा करते थे—कारखानों की चोट से अस्त-व्यस्त होते जा रहे थे। जब हम यह सोचते थे कि खादी को पुनर्जीवित करना बहुत आवश्यक हो गया है तो हमारी समझ में यह बात नही आती थी कि उन दूसरे धंधों को क्यों मरने दिया जा रहा है। यह बात नहीं थी कि गांधीजी का ध्यान उन धंधों की ओर नही गया था। पर शायद उन्होंने यह समझ लिया था कि जो चरखा लुप्त हो चुका है वह अगर पुनर्जीवित किया जा सकेगा तो दूसरी चीजों को, जो अभी लुप्त नही हुई है, जीवित रखना उतना कठिन नही होगा। इसलिए उन्होंने शक्ति को न बिखेरकर चरखे के पुनरुद्धार में उसे केन्द्रित रखना ठीक समझा; क्योंकि वह सबसे अधिक मुश्किल जान पड़ा। जो सबसे कठिन काम होता था उसीको वह हाथ में लेना पसन्द करते थे। एक बार का जिक्र है, उनसे किसी ने कहा—"महाराष्ट्र के गाँव में आपकी बातें लोग नही सुनते। जितना समय आपने वर्धा और सेवाग्राम मे लगाया है उतना अगर किसी दूसरे प्रान्त के गाँव में लगाते तो सारे सूबे की शक्ल बदल जाती, आपके कार्यक्रम को गाँव-गाँव अपना लिये होता।" उन्होंने उत्तर दिया—"अगर यह बात ठीक है कि महाराष्ट्र के गाँव मे हमारे कार्यक्रम की प्रगति बहुत कम है और लोग हमारी बाते कम सुनना चाहते है, तो क्या हमारे लिए यह उचित नहीं है कि हम वहीं पर अधिक समय दें? अगर वे मेरी नही सुनेंगे तो दूसरों की तो और भी कम सुनेंगे। तो, जब यह काम इतना कठिन है, इसे दूसरे कार्यकर्त्ताओं पर कैसे छोड़ दूँ? चूँकि यह काम कठिन है, इसलिए उनको इसका महत्त्व समझाना मेरा और भी कर्त्तव्य हो जाता है। इसीलिए मैं यहाँ बैठा हूँ।" शायद ऐसा कुछ करना उन्होंने सोचा होगा। यद्यपि दूसरे ग्राम-उद्योगों की तरफ उन्होंने शुरू से ध्यान नहीं दिया तथापि वह उनको छोड़ नहीं सकते थे। जब वह वर्धा में आकर बैठे तो उन्होंने फिर दूसरे ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहन देने का काम शुरू किया। इसके लिए ग्राम-उद्योग-संघ स्थापित करके एक-एक ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन देने और पुनर्जीवित करने का प्रबन्ध करने लगे।

महात्माजी बराबर खाद्य-पदार्थों के सम्बन्ध में प्रयोग करते रहे। जब वह इंगलैंड में पढ़ते थे तभी उन्होंने यह काम आरम्भ किया था। वहाँ निरामिष-भोजियों की संस्था स्थापित करके वह निरामिष भोजन का प्रचार करने में सहायक हुए थे। दक्षिण अफ्रिका में भी वह बराबर इसपर ध्यान रखते गये। जब से भारत लौटकर आये तभी से इसपर और भी अधिक जोर देने लगे। जब चम्पारन पहुँचे थे तो खजूर और मूँगफली उनका मुख्य खाद्य था। कुछ दिनों तक आम-जैसे फल खाने लगे। पीछे तो चावल भी खाते थे। पर एक उनका हमेशा का नियम हो गया था कि किसी तरह का कोई मसाला, यहाँ तक कि नमक भी, उस समय नहीं खाते थे। जो साग-सब्जी होती थी उसे केवल पानी के साथ उबालकर ही खा लिया करते थे।

उनका दृढ़ विचार रहा है कि अहिंसा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है और ब्रह्मचर्य के लिए सादा-से-सादा भोजन, जिसमें कोई वस्तु तामसी तथा उत्तेजक न हो। इसलिए वह इस फिक्र मे रहा करते थे कि भोजन ऐसा ही हो जो शरीर को स्वस्थ और पुष्ट रखने के लिए काफी हो, पर उसमे उत्तेजन की शक्ति न हो। साथ ही, इन्द्रियों को वश में करने के लिए जिह्वा को वश में करना भी अत्यन्त आवश्यक है। अतः स्वास्थ्य के लिए तामसी पदार्थ खाना वह बुरा मानते थे। खाने का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ और पुष्ट रखना है, न कि जिह्वा के स्वाद को सन्तुष्ट करना। इसीलिए उन्होंने भोजन में स्वाद को कभी स्थान नही दिया। केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से ही भोजन पर वह विचार किया करते थे।

देश के लोगों में भोजन के सम्बन्ध में बहुत तरह की गलतफहमी चलती है। हम अधिकतर स्वाद के लिए ही खाते हैं। यद्यपि सुस्वादु भोजन का असर शरीर पर चाहे बुरा न पड़ता हो, तथापि खाने में हम बहुत नुकसान ही करते हैं—स्वास्थ्य के लिए जितना आवश्यक है उससे अधिक ही खाते हैं। इसलिए महात्माजी इसको बहुतेरे पत्रों में बराबर लिखते रहे हैं कि वही चीज खाई जाय जो शरीर को स्वस्थ और चित्त को शुद्ध रख सके। साबरमती-आश्रम में, खाद्य-पदार्थों के सम्बन्ध में, बराबर प्रयोग होता ही रहा। अनेकानेक आश्रमवासी अपने शरीर से ही यह प्रयोग करते थे। महात्माजी तो इस विषय में अपने सारे जीवन में प्रयोग करते ही रहे। उन्होने दूध या दूध की बनी वस्तु को अपने लिए वर्जित कर रखा था। जब वह सख्त बीमार पड़े, किसी ने बकरी के दूध का सुझाव दिया। तबतक वह बिना दूध के ही रहते थे। जब से बकरी के दूध के गुणों का पता लगा तभी से वह उसे बराबर लेने लगे। मगनबाड़ी में कुछ दिनों तक उन्होंने नीम की पत्ती, खली इत्यादि का ही प्रयोग किया। कुछ दिन तो इस बात की धुन रही कि एक ही बार बिना पकाया भोजन किया जा सकता है या नहीं और इस प्रयोग के फलस्वरूप मनुष्य के स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ सकता है। डाक्टर ने इसके विरुद्ध कई बार कहा; पर उन्होंने माना नहीं, बहुत दिनों तक कच्ची चीज खाते रहे। दाँत उनका कमजोर था, बहुतेरे गिर गये थे, इसलिए किसी चीज को कुचल कर खाना उनके लिए कठिन था। कच्ची चीज सिल पर पीस दी जाती थी, वही वह खाते थे।

कच्चा गेहूँ भिगोकर, कद्दू-कोहँडा तथा दूसरे प्रकार की साग-सब्जी, सब-कुछ सिल पर पीस कर उनको दिया जाता था। नीम की पत्ती भी इसी तरह पीसकर दी जाती जिसे वह चटनी की तरह खा लिया करते थे। उनका खयाल था कि पकाने की बात यदि उठ जाये तो भोजन-सम्बन्धी बहुत झंझट दूर हो जाय, उससे केवल जलावन का खर्च ही नही बचे, समय भी बचे; स्वाद का तो एक प्रकार से वहिष्कार ही हो जाय! पर ऐसे प्रयोगों का फल अच्छा नही हुआ। उनका स्वास्थ्य फिर बहुत बिगड़ा। लाचारी उन्हें प्रयोग छोड़ने पड़े।

इस अवस्था में यह स्वाभाविक था जब उन्होने ग्राम-उद्योगो को फिर से जीवित करने को ठाना। विशेषकर ऐसे ग्रामोद्योगों पर उनका ध्यान गया, जो खाद्य-पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होने चावल, आटा, तेल और गुड़ के सम्बन्ध मे बहुत प्रकार के प्रयोग किये, और करते रहे। किसी तरह से कुछ थोड़े आदमियो को, जिनके द्वारा ये चीजे थोड़ी ही तैयार की जातीं, प्रोत्साहन देकर इस उद्योग मे सुधार कराया। एक और दृष्टि से यह उद्योग अत्यन्त आवश्यक है; क्योकि इसके बिना कोई भी मनुष्य रह नही सकता, यह मनुष्य के जीवन के लिए अनिवार्य वस्तु है। जीवनोपयोगी वस्तुओ मे खाद्य-पदार्थों का स्थान अगर सबसे ऊँचा नही तो बहुत ऊँचा अवश्य है। एक तो किसी तरह खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति बढ़ाई जाय जिससे देश के लोगो की जरूरत पूरी हो और उनकी कमी भी न रह जाय, दूसरे यह भी सोचा जाय कि इनका किस प्रकार से इस्तेमाल किया जाय कि इनसे अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जा सके और कम-से-कम खाने पर भी मनुष्य के जीवन के लिए स्वास्थ्यकर भोजन मिल सके। खाद्य-पदार्थों मे अन्न अत्यन्त आवश्यक है। अन्न में भी विशेषकर चावल और गेहूँ का उपयोग हिन्दुस्तान मे होता है। इसीलिए इन दोनों पर उन्होंने बहुत अधिक ध्यान दिया।

धान को कूटकर चावल निकाला जाता है। उसके निकालने के तरीके थोड़ा-बहुत गाँव में इस्तेमाल होते थे। एक तरफ यह प्रयत्न किया गया कि कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक चावल किस तरह तैयार किया जाये। एक तरीका सब जगह प्रचलित है—धान को ओखली में मूसल से कूटने का। उसमें परिश्रम काफी पड़ता है, पर चावल कम तैयार होता है। दूसरा तरीका ढेकी से धान कूटने का है। ओखल-मूसल के मुकाबले ढेकी ज्यादा चावल तैयार कर सकती है। चावल निकालने के हर प्रकार के तरीके में थोड़ा-बहुत सुधार किया गया है। कूटनेवाले के कम-से-कम परिश्रम से अधिक-से-अधिक चावल निकालने का रास्ता निकल गया है। पर एक नई पद्धति, जो विशेषकर उत्तर में पहले प्रचलित नहीं थी, यह निकल गई है कि चक्की से दलकर धान के ऊपर का छिलका निकाल देते है। मामूली तरह से धान कूटने में दो प्रक्रियाएँ हुआ करती हैं—पहली में धान के ऊपर का मोटा छिलका निकाल दिया जाता है और इस तरह जो चावल निकलता है उसपर एक बहुत महीन छिलका हुआ करता है जो देखने मे नहीं आता; दूसरी प्रक्रिया में वह छाँटकर साफ कर दिया जाता है जिससे वह बारीक महीन छिलका भी निकल जाता है। चक्की से धान दलकर वह पहली प्रक्रिया बहुत

आसान कर दी गई है। अगर धान बहुत सूखा रहा तो दलने में बहुत आसानी होती है। इस तरह से प्रयोग करके देखा गया है कि दूसरी प्रक्रिया केवल अनावश्यक ही नही है, बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर भी है। जो महीन छिलका चावल पर रहता है उसमें चावल की पौष्टिक शक्ति बहुत-कुछ रहती है। उसको निकाल देने से चावल क्षीण हो जाता है, पर देखने मे बहुत साफ नजर आने लगता है। यदि वह खूब अच्छी तरह छाँट लिया जाय तो उसमे एक प्रकार की चमक भी आ जाती है। चावल में जो घुन लगता है वह विशेषकर उसके ऐसे ही छिलके में, जो मोटा-सा होता है, घुन उसी को खाते है। यदि चावल खूब छाँट दिया जाय और छिलका बिल्कुल साफ कर दिया जाय, तो उसमें वर्ष तक घुन नहीं लगता। छिलके का जितना अंश रह जाता है उसी के अनुपात में जल्दी और अधिक घुन लगता है। प्रयोग का नतीजा यह निकला कि छिलका यदि न निकले तो चावल को, तैयार होने के बाद जल्द ही, खर्च कर देना जरूरी है। ऐसे चावल में पौष्टिक शक्ति बहुत अधिक हुआ करती है। इसीलिए महीन छिलके से युक्त चावल को 'पूर्ण चावल' नाम दिया गया है। इस प्रयोग से यह नतीजा निकला कि कम चावल पकाने से अधिक पौष्टिक पदार्थ मिल सकता है। इस तरह, पूर्ण चावल के उपयोग से दो प्रकार के लाभ होते है—एक तो जो छिलका रह जाता है उसका वजन चावल के साथ मिल जाता है, इस तरह जहाँ खूब छाँटे हुए चावल का वजन एक सौ मन में एक सेर निकला वहाँ उतने ही धान से 'पूर्ण चावल' एक सौ मन में चार या पाँच सेर निकला; इस प्रकार धान से चावल की उत्पत्ति सैकड़े चार-पाँच सेर अधिक हो जाती है; दूसरे यह भी देखा गया कि 'पूर्ण चावल' आदमी कम खा सकता है; क्योंकि कम चावल से ही तृप्ति हो जाती है और जितना छाँटा हुआ चावल आदमी पचा सकता है उससे कम ही 'पूर्ण चावल' हजम कर सकता है। इन प्रयोगों से इस प्रकार दोनों लाभ हुए—कम परिश्रम से अधिक चावल का तैयार होना और कम खाकर अधिक पौष्टिक पदार्थ पाना।

गेहूँ का, चक्की के आटे के रूप में, अधिक इस्तेमाल होता है। आटा बहुत महीन या कुछ मोटा हो सकता है। महीन आटे के लिए अधिक भारी चक्की होनी चाहिए। उस परिमाण मे उसके चलाने में अधिक परिश्रम भी लगता है। इसके अलावा गेहूँ के छिलके का अश भी चलनी में छानकर निकाल दिया जाता है। चावल की तरह गेहूँ के पौष्टिक पदार्थ का भी एक बहुत बड़ा अंश ऐसे छिलके में ही रहा करता है। उस छिलके को चोकर के रूप में छानकर निकाल देने से पौष्टिक पदार्थ निकल जाता है। इसमे भी इन प्रयोगों द्वारा दो फल निकले। एक तो यह कि चक्की का ऐसा सुधार किया गया कि कम-से-कम परिश्रम से गेहूँ पीसा जा सके, दूसरा यह कि छिलके को न निकाल कर आटे की पौष्टिक शक्ति बढ़ा दी जाय। इससे चावल की तरह उसमें भी दुगुना लाभ हुआ; क्योंकि जो चोकर निकल जाता है वह आटे के साथ ही रहकर उसका वजन छाने हुए आटे के वजन से ज्यादा बढ़ा देता है। जिस तरह चावल छाँटने का परिश्रम 'पूर्ण चावल' से बच जाता है उसी तरह बिना छाने ही आटे के इस्तेमाल से

आटा छानने का परिश्रम बच जाता है। आदमी जितना छाना हुआ आटा खा सकता है उससे कम ही बिना छाने हुए आटे से तृप्ति हो जाती है। उससे पौष्टिक पदार्थ भी मिल जाता है।

तीसरी चीज, जिस पर ध्यान दिया गया, तेल था। मनुष्य के खाद्य-पदार्थों में कुछ तेल-घी-जैसे चिकने पदार्थ का होना भी आवश्यक है। इसलिए तेल या घी का कुछ थोड़ा महत्त्व नहीं है। तेल कई प्रकार के बीजों से, जिनको तेलहन कहते हैं, कोल्हू में पेलकर निकाला जाता है। यह पद्धति बहुत दिनों से हिन्दुस्तान में जारी है। कोल्हू में बैल जोतकर काम निकाला जाता है। प्रयत्न किया गया कि बैल का परिश्रम कम हो जाय और तेल आसानी से निकल सके। इस प्रयत्न में भी काफी सफलता हुई। कोल्हू का ही ऐसा सुधार कर दिया गया कि जल्द-से-जल्द और अधिक-से-अधिक तेल निकाला जा सके।

चावल, गेहूँ और तेल—तीनों को बनाने के लिए बहुत-सी संस्थाएँ खुल गई हैं और खुलती जा रही हैं। पहले यह सब गाँवो के लोग खुद तैयार कर लिया करते थे। चावल कूटने और आटा पीसने का प्रयोग घर में ही हुआ करता था। इससे गाँव के लोगों को केवल एक उद्योग ही नही मिलता था, बल्कि एक प्रकार का शारीरिक श्रम भी हो जाया करता था। इन चीजों के कारखानों की वजह से सिर्फ यही नहीं हुआ कि करोड़ों आदमियों का ग्रामीण धन्धा, जो बगैर घर छोड़ बाहर गये हर घर मे हो जाता था, उनसे छीना जा रहा है, बल्कि यह भी हुआ कि जो खाद्य-पदार्थ इन कारखानों के द्वारा तैयार होते हैं उनमें वह पौष्टिक शक्ति भी नहीं रह जाती जो घर में कूटे-पीसे चावल और आटे में तथा गाँव में निकाले तेल में हुआ करती थी। वैज्ञानिक अनुसंधानों से यही नतीजा निकला है कि कलों द्वारा तैयार किये गये चावल, आटा और तेल में वह जीवनदायी पदार्थ नही होता या बहुत कम होता है जिसको 'विटामिन' कहते हैं। इन प्रयोगों का उद्देश्य यह था कि लोगों का धंधा उनके हाथ में रह जाय और देश का स्वास्थ्य भी कम खाकर सुधर जाय। गांधीजी ने इन बातों का बहुत जोरो से प्रचार किया। इसका असर भी कुछ पड़ा। पर यह अभी तक उतना नहीं फैला है जितना चरखा और खद्दर फैले। आज, जब खाद्य-पदार्थों की इतनी कमी है और करोड़ों मन अन्न विदेश से अरबों खर्च करके मँगाना पड़ रहा है, यह सोचने की बात है कि इन प्रयोगों से कितना लाभ हो सकता है और इनका प्रचार करके वह लाभ किस तरह सार्वजनिक बनाया जा सकता है। मै मानता हूँ कि 'पूर्ण चावल' और 'पूर्ण आटा' के इस्तेमाल से आज की अन्न की कमी एक अच्छे अंश में दूर की जा सकती है। इसमें कोई खर्च नही और न कुछ नया काम करना है। लोगों को बता देने से ही सफलता मिल सकती है। पर इस विषय में सबसे बड़ी दिक्कत है हमारा आलस्य और हमारी जड़ता ! हम चावल छाँटने और आटा पीसने के परिश्रम से बचना चाहते है, इसीलिए कारखाने में तैयार चावल और आटा इस्तेमाल करते हैं ! साथ ही, जो एक रूढ़ि और कुप्रथा छाँटे हुए चावल और छाने हुए आटे के खाने में चल रही है उसको जड़तावश छोड़ नही सकते ! अभी इसका काफी प्रचार भी नही हो पाया है।

भोजन में मीठा भी आवश्यक है। पहले हिन्दुस्तान के बहुत स्थानों में ईख की खेती होती थी। उसे कोल्हू में पेरकर गाँव में ही गुड़ बना लिया करते थे। गाँवों मे कही-कहीं छोटे-मोटे कारखाने में गुड़-चीनी बना लेते थे। पिछले पचीस-तीस वर्षो में यहाँ के प्रायः सभी छोटे कारखाने बन्द हो गये। उनकी जगह चीनी के विशालकाय कारखाने खड़े हो गये हैं। विज्ञान जाननेवालों का कहना है कि छोटे कारखानों में बनी चीनी में जितना जीवन-तत्त्व होता है उतना बड़े कारखानों की चीनी में नही होता। ऐसी चीनी का भी वही हाल है जो कुटे चावल और पिसे आटे का। गाँव के जीवन में इन बड़े कारखानों के कारण थोड़ा फर्क आ गया है। यह कारखाना किसान से ईख ले लेता है। फिर उसे कारखाने के एक हिस्से में डाल देता है। दूसरी तरफ अनेक प्रक्रियाओं से गुजरकर तैयार चीनी निकल आती है। एक कारखाना बहुत-सी ईख एक ही दिन के अन्दर पेर लेता है। जिस काम के लिए गाँवों में पहले हजारों कोल्हू चलते थे वही काम अब एक कारखाने के लिए काफी होता है। इसका यह नतीजा निकला कि खेती का काम जो लाभ और सुख पहुँचाता था वह जाता रहा। किसान अपने छोटे बैल से खेत आबाद करते थे। उसमें से अपने काम के लिए कई तरह के अन्न पैदा कर लिया करते थे। साथ ही, जरूरत के मुताबिक, नगद पैसों के लिए, ईख की खेती करके, गुड़ बना लिया करते थे, जिसे उनके बाल-बच्चे खाते थे। जब जरूरत ज्यादा होती तो उसे बेचकर लगान देने और कपड़े इत्यादि खरीदने में पैसे लगाते थे। उससे साल-भर धंधा मिलता था। जब खेती के दूसरे कामों की बहुत भीड़ नहीं रहती थी तब एक काम हाथ में रहता था। सब लोग कुछ गन्ना चाबते, कुछ रस पीते, कुछ गुड खाया करते। ईख के हरे पत्ते उनके मवेशी खाते। उनमें भी जो थोड़ी चीनी का अंश रहता उससे पशु लाभ उठाते। इस तरह, ईख की खेती कम होने पर भी, बहुत लोगों को उससे लाभ होता था।

किन्तु अब, बड़े कारखानों के हो जाने से, किसान को कुछ पैसे ज्यादा मिलते हैं। इसलिए जहाँ-जहाँ कारखाना है वहाँ ईख की खेती बहुत बढ़ गई है। इसका एक नतीजा यह हुआ कि जहाँ कारखाना नही वहाँ ईख की पैदावार का अनुपात कम हो गया है। किसान अब इसका खयाल नही रखता कि उसे कितनी जमीन में कितना गन्ना पैदा करना चाहिए जिससे वह खुद गुड़ बना सके। अब तो वह, जहाँ तक हो सकता है, पैसे के लालच मे, अधिक-से-अधिक ईख की खेती करता है। वह प्रतिदिन इतना ज्यादा गन्ना काट लेता है जितना वह कारखाने में पहुँचा सके। नतीजा यह होता है कि गन्ने का पत्ता एक साथ ही इतना अधिक हो जाता है कि मवेशी उसे खाकर सधा नहीं सकते। चूँकि वह जल्दी-जल्दी सारा गन्ना काटकर कारखाने में पहुँचाने का प्रयत्न करता है, इसलिए यह पत्ती सारे मौसम में न मिलकर चन्द दिनों में ही खतम हो जाती है। इस तरह, उसके मवेशी एक अच्छे सुस्वादु और पौष्टिक चारे से वंचित रह जाते हैं। जो बैल पहले कोल्हू में काम किया करता था वही अब गाड़ी में जुतकर गन्ना ढोने का काम करता है। इसके लिए बैल को बहुत दूर-दूर, चाहे कारखाने तक या रेल के स्टेशन तक,

गन्ने पहुँचाने के लिए जाना पड़ता है। वहाँ उसे घंटों, कभी-कभी तो एक दिन से अधिक, गाड़ियों की कतार म, कंधे पर भारी बोझ लिये, चुप खड़ा रहना पड़ता है !

गाँव मे जब गुड़ बनता था तब ईख पेरकर रस निकालने के बाद जो मीठा चफुआ (सीठा) बचता था उस सुखाकर उसका महीन अंश बैल को खिलाते थे और छोटे अंश को कुछ गुड़ पकाने में तथा कुछ घर के जलावन के काम में लाते थे। अब यह सब सीधे कारखाने में चला जाता है। कितने ही आदमी, जो गुड़ के काम में लगे रहते थे, अब बेकार हो गये। कारखाने में तो बहुत कम आदमी काम कर रहे हैं। लोग अक्सर कह दिया करते है कि कारखाने का नतीजा—चाहे वह कपड़ा बुनने का हो, या चावल कूटने का, या आटा पीसने का, या चीनी बनाने का—बहुतों की बेकारी होती है, यद्यपि देखने में मालूम होता है कि इसके द्वारा बहुत काम मिला। यह तो अब विचार करने से ही स्पष्ट हो जायगा।

हिसाब लगाकर देखा गया है कि किसी कारखाने का एक मजदूर जब सूत कातने का काम कारखाने मे करता है तब वह चौबीस घंटे के अन्दर इतना सूत कई तकुओं द्वारा कात सकता है जितना चरखे पर कातनेवाले प्रायः दो सौ आदमी मिलकर चौबीस घंटे में कातेंगे। जो कपड़े के कारखाने में बुनाई करता है वह प्रायः इतना काम कर लेता है जितना दस-बारह बुनकर ! देखने में एक जगह हजार-दो-हजार मजदूर काम करते हुए ढेर-का-ढेर कपड़ा तैयार कर देते है, तो लोग समझ जाते है कि बहुत लोगों को धंधा मिल गया; पर यह लोग भूल जाते है और इस ओर कभी उनका ध्यान भी नही जाता है कि उतने ही कपड़े तैयार करने मे उनसे कितने-गुने अधिक मजदूर गाँवों में काम करते अगर वह कपड़ा चरखो और करघों पर तैयार किया गया होता। इस तरह कारखानों के मजदूरों से कई-गुना आदमी बेकार हो गये !

यह बात केवल कपड़े के ही कारखाने की नही है। सभी कारखानों का हिसाब ऐसा ही है। फर्क इतना ही पड़ता है कि किसी कारखाने की वजह से बेकारी बहुत ज्यादा होती है और किसी में उस अनुपात से कम होती है। पर इसमे जरा भी सदेह नही कि कारखाने का नतीजा बेकारी बढाना ही है, घटाना नही। इस तरह, जब कपड़े के कारखानो से करोड़ों आदमियों की बेकारी बढ़ी तो चावल, आटा, चीनी आदि के कारखानों से बेकारी कुछ कम नही होती। प्रायः इस अनुपात में तो इनसे भी बढी है। इसलिए गाधीजी का ध्यान जब इन चीजों की ओर गया कि यह कही बेहतर होगा कि चरखे के अलावा गृह-उद्योगो की ओर भी ध्यान दिया जाय, तो उन्होंने उन उद्योगों को ही अधिक महत्त्व दिया जो मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक वस्तुएँ तैयार करते है और जो इसी वजह से बहुत ही व्यापक भी है। इनसे गाँववालों को धंधा मिलने के अलावा जन-साधारण के स्वास्थ्य-सुधार में भी बहुत सहायता मिलने की, जैसा ऊपर बताया गया है, आशा थी।

चीनी और गुड़ के सम्बन्ध में उन्होंने एक चीज और भी जनता के सामने जोरों से रखी। हिन्दुस्तान में बहुत-सी चीजे ऐसी है जिनका रस निकालकर गुड़ और चीनी

तैयार हो सकती है। जैसे—ताड़, खजूर इत्यादि। इस तरह के दरख्तों से कहीं गुड़ काफी बनता भी है। आयुर्वेद के तथा यूनानी चिकित्सक इस गड़ और चीनी को, ईख के गुड़ और चीनी के मुकाबले, दवाओं के लिए, अधिक लाभदायक समझते हैं। जहाँ इन दरख्तों की संख्या बहुत है वहाँ भी इनसे गुड़ नही बनाया जाता! न मालूम देश में कितने करोड़ ऐसे दरख्त हैं जो यों ही खड़े हैं, पर जिनका उपयोग किया जाय तो बहुत अधिक गुड़ या चीनी बन सकती है। इन पेड़ों से जो रस निकाला जाता है वह लाभदायक गुड़ के बदले ताड़ी के रूप में ही खर्च होता है, जिससे नुकसान भी होता है। इसलिए महात्माजी ने ताड़ के रस से गुड़ बनवाने का काम शुरू करवाया—कुछ लोगों को ऐसे काम में लगाया। जहाँ ऐसा गुड़ बनता है वहाँ उसका बनना देखकर उसका प्रचार और जगहों में भी किया जाय। सभी ताड़ के पेड़ यदि गुड़ बनाने के काम में लगा दिये जायें तो बहुत ज्यादा गुड़ बन सकता है। ऐसा विचार किया गया कि बिहार-सूबे में जितने ताड़ हैं उन सबका अगर गुड़ के काम मे इस्तेमाल किया जाय तो उनसे उतनी चीनी तैयार हो सकती है जितनी आज बिहार के सभी कारखाने मिलकर तैयार करते है! आजकल गुड़ और चीनी के कारखाने बहुतायत से बिहार और संयुक्तप्रांत में ही है। उनमें काफी चीनी तैयार होती है। किन्तु ताड़ों के उपयोग से जितने लोगों को काम मिलेगा वे कारखानों मे लगे हुए लोगों से कई-गुना अधिक होगे। साथ ही, गन्ने की खेती में लगने-वाली सारी जमीन दूसरे काम में लगाई जा सकेगी। फिर तो बिना किसी जमीन को बझाये हुए ही उतनी चीनी देश को मिल जायगी।

एक और विषय की ओर भी ध्यान दिया गया। उससे एक बहुत ही लाभकारी खाद्यपदार्थ, बिना किसी कारण और परिश्रम के, लोगों को मिल सकता था। वह है मधु। मनुष्य को परिश्रम करके इसे पैदा नही करना पड़ता था। इसे मधुमक्खी ही अपने परिश्रम से पैदा करती है। मनुष्य को केवल एकत्र संचित मधु को बटोर लेना पड़ता है। यदि मधुमक्खियों के लिए सुविधाजनक कोई स्थान प्रस्तुत कर दिया जाय, मधु निकालने में थोड़ी सावधानी बरती जाय, जिस छत्ते को मधुमक्खियाँ बहुत परिश्रम से बनाती हैं वह एक ही बार मधु निकालकर तोड़ न दिया जाय, तो बहुत जल्दी-जल्दी मधुमक्खियाँ काफी मधु तैयार करके दे सकती हैं। छत्ता बनाने में उनका बहुत परिश्रम और समय लगता है। जो लोग उनके पालने का तरीका ठीक नहीं जानते वे छत्ते को तोड़-मरोड़ कर मधु निचोड़ लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि मधुमक्खियों को फिर परिश्रम करके छत्ता तैयार करना पड़ता है। जब छत्ता तैयार हो जाता है तभी वे उसमें मधु जमा कर सकती हैं। यदि छत्ता न तोड़ा जाय, बिना तोड़े ही उसमें से मधु निकाल लिया जाय, तो उनका जो समय फिर छत्ता बनाने में लगता है वह भी मधु बनाने में ही लगे। इस प्रकार कम समय में ही मधु काफी तैयार हो जाय। मधु बहुत ही गुणकारी खाद्य-पदार्थ है। यदि मधुमक्खियों के लिए सुविधा कर दी जाय तो बिना हमारे कुछ किये ही वे मधु देती रहेंगी।

एक और जानने योग्य बात यह है कि फूल फूलने की फसल से रस लेकर मधु-

मक्खियाँ मधु तैयार करती हैं, पर उस फसल को कुछ नुकसान नहीं पहुँचाती है। उनके बैठने से फूली-फली फसल की और भी उन्नति हो जाती है। अपने साथ कोई ऐसी वस्तु ले जाकर वे उसपर छोड़ आती है कि जिससे अन्न के दाने और अधिक पुष्ट हो जाते हैं। चूंकि इस तरह गाँव के लोगो को बिना परिश्रम और बिना खर्च के एक बहुत ही अच्छा खाद्य-पदार्थ मिल जाता है, इसलिए ग्रामोद्योग में मधुमक्खी पालने की ओर जोर दिया गया। इसकी जानकारी हासिल करना और खोज करके नई बातें निकालना ग्रामोद्योग का एक मुख्य काम हो गया है। यदि इसका पूरा प्रचार हो जाय तो देश का बड़ा लाभ हो और लोगों का स्वास्थ्य भी सुन्दर हो जाय।

खाद्य-पदार्थों में मुख्य स्थान अन्न का भी है। इसलिए अन्न की अधिक उपज करना अत्यन्त आवश्यक है। ग्रामोद्योग का यह एक बड़ा काम है कि अन्न की उपज किसी तरह बढ़ाई जाय। यह एक जानी हुई बात है कि जमीन मे खाद देने से उपज बहुत बढ जाती है। इसका कारण यह है कि जमीन में कुछ ऐसी चीज होती है जिसको लेकर ही अन्न बनता है। इसलिए जब एक बार फसल निकाल ली जाती है तब जमीन के तत्त्व का एक अंश निकल जाता है। खाद इसी कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक है। यह खाद बहुत करके ऐसी चीज से भी तैयार की जा सकती है जो या तो फेंक दी जाती है या बरबाद हो जाती है या सड़कर दुर्गन्ध फैलाकर स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो जाती है। इसलिए, सब ऐसी वस्तुओं का इस प्रकार संग्रह करना कि वे खाद का रूप धारण कर ले और मनुष्य-समाज के लिए हानिकर वस्तु न रहकर खाद्य-वस्तुओं के उपजाने में सहायक बन सकें, ग्रामसुधार और ग्रामोद्योग का एक बड़ा काम है।

देखा जाता है कि मनुष्य के मल-मूत्र, घर का बुहारन इत्यादि कुछ हद तक खाद बनाने के काम में लाये जाते हैं। पर यदि ठीक व्यवस्था हो तो कोई भी चीज बरबाद न होनी चाहिए। अभी तो गोबर भी बहुत करके जलावन के लिए उपला बनाने में खर्च कर दिया जाता है। मवेशी का मूत्र भी बेकार सूखने दिया जाता है। जिस किसान के पास जलाने का दूसरा कोई साधन नही है उसको गोबर से उपला बनाने की जरूरत है; पर यह मुमकिन है कि उस गोबर का यदि खाद के लिए ठीक उपयोग किया जाय तो शायद उससे उतना जलावन पैदा किया जा सके जितना उपले से मिलता है, और अन्न तो ऊपर से मिल ही जाय। पर यह केवल गोमूत्र और गोबर की ही बात नही है, मनुष्य के मल-मूत्र का भी अच्छा उपयोग हो सकता है। यह काम आसानी से और सफाई के साथ किया जा सकता है। थोड़ी बुद्धि लगाकर इनसे काम लिया जा सकता है। आजकल गाँवों में ऐसी कुप्रथा है कि घर के नजदीक, रास्ते पर और जलाशय के पास ही लोग मल-मूत्र कर दिया करते हैं। यदि लोग इसका खयाल रखें कि खेत में वह खाद बन सकता है, तो गाँव में घर के नजदीक या जलाशय पर गंदगी भी न फैले और साथ ही खेतों को भी एक सुन्दर खाद मिल जाय। यह एक जानने लायक बात है कि मल अगर यों ही छोड़ दिया जाय, तो उसका रस बहुत-कुछ सूख जाता है जिससे जमीन को जितना लाभ मिलना चाहिए उतना नहीं मिलता; पर यदि वह मिट्टी के

नीचे ढक दिया जाय, तो उसका सब अंश किसी-न-किसी रूप में खाद बन जाता है। इसलिए उसे कुछ मिट्टी के अन्दर ढक देना सबसे अच्छा होता है। यह आसानी से किया भी जा सकता है। जोते हुए खेत में थोड़ी मिट्टी हटाकर मल करना और फिर ऊपर से मिट्टी डालकर उसे ढक देना कोई उतना कठिन काम नही है। केवल थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है। शहर में तो यह काम म्युनिसिपैलिटी करती है, शहर के तमाम मल को खेत में गाड़ देती है। पर आज भी मल-मूत्र से खाद बनाने का प्रबन्ध, जैसा चाहिए वैसा, शायद ही कहीं हो। इसलिए यह एक अत्यन्त आवश्यक काम है जिसकी ओर सबको ध्यान देना चाहिए। इसमें म्युनिसिपैलिटी की ओर गाँव के लोगों का ध्यान देना आवश्यक है। जितनी चीजें बुहारन के रूप में फेंकी जाती है, सब खाद के रूप में परिवर्तित कर दी जा सकती है। 'कम्पोष्ट' बनाना कठिन नही है। एक-दो फुट गहरे गढे में बुहारन को तह-पर-तह लगाकर, बीच-बीच में गोबर रखकर, पूरा बिछा देना काफी है और कभी-कभी थोड़ा पानी डाल देने से भी चार-छः महीने के भीतर चीजे खाद बम जाती है। वह बहुत ही उत्तम प्रकार की खाद होती है; क्योंकि उसमे सब प्राकृतिक चीजें हुआ करती हैं। उन चीजों को खाद बनाने में किसी विशेष रासायनिक प्रयोग अथवा रासायनिक वस्तु की आवश्यकता नही होती। प्रकृति उन चीजों को खाद बनाती है। उनमें ऐसे कीटाणु भी रहते है जो खेती के लिए आवश्यक है—जो जमीन को खाद्य-पदार्थ पहुँचाने के अलावा उसे इतना योग्य बनाते है कि वह आवश्यक मात्रा में जलवायु खींच सके। इसलिए, विद्वानों के विचार से, इस प्रकार तैयार की हुई खाद, कृषि के लिए, अधिक उपयोगी और आवश्यक है। ग्रामोद्योग की ओर से इस विषय में काफी खोज की गई। इसके प्रचार का प्रबन्ध भी किया गया। गवर्नमेंट के कृषि-विभाग की ओर से भी किया जाता है; पर इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ इसकी अभी बहुत कम गुजाइश है। आज जो अन्न की कमी हो रही है वह—यदि ठीक प्रबन्ध हुआ तो—बहुत हद तक दूर की जा सकती है।

सत्ताईसवाँ अध्याय

खाद्य-पदार्थों में गोरस का बहुत महत्त्व है। दूध एक प्रकार से उन सभी पदार्थों का दाता है जो मनुष्य-जीवन के लिए आवश्यक है। साधारण लोगों में चन्द ऐसे हैं जो जन्म के कई महीने बाद तक केवल दूध के आहार पर जिन्दा रहे और पले हैं। इस देश में दूध का महत्त्व पुराने काल से ही लोगों ने इतना समझा कि उसको अमृत का स्थान दिया। आज देश का दुर्भाग्य है कि बच्चे के लिए भी दूध मिलना कठिन हो गया है। ऐसा मालूम होता है, मानों अब दूध मिलेगा ही नहीं। दूध गाय से मिलता है। भैंस, बकरी इत्यादि से भी। पर कई कारणों से, जिनका विवेचन आगे किया जायगा, गाय को ही अधिक महत्त्व दिया गया है।

भारत कृषि-प्रधान देश है। यहाँ सौ में प्रायः सत्तर आदमी गाँव में रहते हैं जो कृषि से ही किसी-न-किसी रूप में अपना गुजर करते हैं। अन्य देशों मे—जैसे दक्षिण-अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका इत्यादि मे—आदमियों की आबादी के हिसाब से जमीन बहुत है; इसलिए जो लोग खेती करते हैं उनके पास जमीन काफी रहती है। एक-एक का खेत बहुत बड़ा हुआ करता है। हिन्दुस्तान में आबादी ज्यादा होने की वजह से, और बहुत दिनों से खेती जारी रहने के कारण, जमीन बहुत आबाद हो गई है, पर छोटा-छोटा खेत एक-एक घर या कुटुम्ब को रह गया है। ऐसे खेतों का दारमदार बहुत करके बैल पर ही है; क्योंकि बैल ही खेत जोतते हैं, फसल तैयार होने पर दौनी करते हैं और बोझ ढोने के लिए गाड़ी में जोते जाते हैं। इसलिए बैल के बिना किसान का एक कदम भी चलना कठिन है। गाय दूध भी देती है और खेती के लिए बैल भी। यद्यपि भैंसा खेत का कुछ काम कर सकता है तथापि उससे उतना काम नहीं होता जितना बैल कर सकता है। कहीं-कहीं भैंसे भी खेत के काम में लगाये तो जाते हैं, पर वे उतना काम नहीं देते जितना बैल देता है। गाय का इसी कारण अधिक महत्त्व है। इसके अलावा भैंस या भैंसा गाय के मुकाबले में, बहुत खाते हैं। उनका पालन-पोषण भी अधिक खर्चीला होता है। इससे स्पष्ट है कि गोपालन केवल दूध या दूध से बनी दूसरी खाद्य-वस्तुओं के लिए ही आवश्यक नहीं है, बल्कि अन्न पैदा करने के लिए भी, जो मनुष्य का मुख्य खाद्य है, अत्यन्त आवश्यक है।

महात्माजी ने गौ के महत्त्व को खूब समझ लिया था। वह यह भी जानते थे कि उसको यह महत्त्व हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म में क्यों दिया गया है। इसलिए गोसेवा को वह एक महत्त्वपूर्ण काम समझते थे। जब ग्रामोद्योगों का उद्धार और उन्हें प्रोत्साहन देने का काम उन्होंने शुरू किया, तो उसमें गोसेवा को भी बहुत उच्च स्थान स्वाभाविक रीति से मिल गया। जब इसके लिए उन्होंने गोसेवा-मंडल की स्थापना सेठ जमुनालाल बजाज के अधीन करवाया तब उसे आज की रूढ़ियों से बचाकर सच्ची सेवा का प्रबन्ध कराना और उसके निमित्त आवश्यक खोज कराना उस मण्डल का ध्येय तथा कार्यक्षेत्र बनाया।

हिन्दू गाय को माता समझते हैं। उसकी पूजा भी करते हैं। हिन्दू-पुराणों में क्षीर-समुद्र का वर्णन मिलता है। कृष्ण-लीला में तो गोपालन, दूध, मक्खन इत्यादि का विशद वर्णन है ही। उन दिनो किसी की सम्पत्ति उसके गोधन के परिमाण मे ही आँकी जाती थी। कितने ही युद्ध गौ के कारण हुआ करते थे। अब उस समय की प्रथा का आभास मात्र रह गया है। तो भी सब यज्ञो मे गो और गोरस तथा गोबर का स्थान आज भी हिन्दू-समाज मे महत्त्व रखता है। गोदान एक बड़ा पुण्य का काम समझा जाता है। किसी भी पावन तिथि पर अथवा बड़े संस्कार के समय गोदान ही एक आवश्यक क्रिया माना जाता है। गोपाष्टमी के मेले के अवसर पर गौ की विशेष करके पूजा की जाती है। पर यह सब होते हुए भी आज जितनी दुर्दशा गाय की हिन्दुस्तान मे होती है, वैसी कही भी नही! इसे खाने को पूरा नही मिलता। यह ठीक तरह से रखी नही जाती। नतीजा यह होता है कि यद्यपि मवेशियों की संख्या आज हिन्दुस्तान में बहुत है तो भी दूध बहुत ही कम मिलता है। बैल दिन-पर-दिन कमजोर होता जा रहा है, जिससे खेती भी खराब होती जा रही है। जैसे-जैसे आबादी बढती जाती है, गोचर-भूमि आबाद होती जाती है। गायों के चरने के लिए बहुत जगहों में बहुत कम भूमि रह गई है, कितनी जगहों में तो बिल्कुल है ही नहीं।

गोसेवा में सुधार करना इन सब कारणों से अत्यन्त आवश्यक हो गया है। बकरीद के दिन गो-बध करने के कारण मुसलमानों के साथ जहाँ-तहाँ हिन्दू लड़ जाया करते हैं। पर गाय किस तरह सुख से रखी जाय, किस तरह वह अधिक उपयोगी बनाई जाय, इस पर हिन्दू ध्यान नही देते। वे यह भी भूल जाते है कि जो गाये कुर्बानी के लिए अथवा और कारणों से कत्ल की जाती है उनमे से अधिक को तो हिन्दुओं के ही घरो से मोल लेकर कतल करनेवाले कतल करते है। बात यह है कि इस समय जैसी गायें हमारे पास अधिक करके होती है, उनका पालना कठिन हो गया है, उन पर जो खर्च किया जाता है वह वसूल नहीं हो पाता, सहायक होने के बदले गाय भार-रूप हो जाती है, तब इसका एक ही नताजा हो सकता है—वह यह कि रखनेवाले के लिए उसे कतल करनेवाले के हाथ बेच देना ही अधिक लाभदायक हो जाता है। खास करके कलकत्ता—जैसे एक बड़े शहर में गाय को एक या दो ब्यान से अधिक रखना इतना खर्चीला काम हो जाता है कि बहुत कीमती गाय को भी कत्ल करनेवाले के हाथ बेच देना जिन्दा गाय रखने से अधिक लाभदायक होता है! इससे

मौजूदा गौओं का नाश तो होता ही है, सारी नस्ल दिन-दिन खराब होती जाती है। आज की कैफियत यह है कि अच्छी नस्ल की गाय मिलना कठिन होता जा रहा है।

हिन्दू बहुत जगहों मे बूढी, लँगड़ी और बीमार गायों के लिए पिंजरापोल खोलना एक धर्म का कृत्य समझते है। उसमें बहुत पैसे भी खर्च किया करते है। कहीं-कहीं इन गोशालाओं में कुछ अच्छी गायें भी रखी जाती है। पर अधिक करके ये गोशालाएँ केवल बेकार जानवरों के लिए ही हुआ करती थी। महात्माजी ने बहुत ही विवेचना के बाद गो-सेवा और गोरक्षा की सारी पद्धति बदलने का निश्चय किया। इसलिए, एक विशेष गोशाला उन्होंने अपनी देख-रेख में कायम कराई, जिसके चलाने का भार सेठ जमुनालाल बजाज और उनके भतीजा श्रीराधाकृष्ण बजाज ने अपने ऊपर लिया। फिर सभी ऐसे विद्वानों का, जो इस विषय का ज्ञान रखते थे, एक सम्मेलन किया गया। वहाँ विवादग्रस्त विषयों पर विचार करके एक नीति निर्धारित की गई। उस गोशाला में, तथा अन्य जगहों में, जो काम किया गया है उसका नतीजा यह निकला कि एक काफी अच्छा कार्यक्रम बन सका। यदि इस कार्यक्रम के अनुसार काम किया गया तो इसमें सन्देह नहीं कि गोवंश की अच्छी उन्नति होगी, भारतवर्ष को दूध और बैल दोनों ही बेहतर मिलेंगे।

अबतक ब्रिटिश गवर्नमेंट की तरफ से भी बहुत गोशालाएँ बनाई गई थीं। खासकर फौज के लिए, उन बड़े-बड़े शहरों के लिए जहाँ विशेषकर बड़े अंग्रेज अफसर रहा करते थे, अच्छा दूध-मक्खन मुहैया करने के खयाल से ये गोशालाएँ कायम की गई थी। इसलिए इन गोशालाओं में स्वभावत: अधिक ध्यान इस बात पर दिया गया कि ज्यादा दूध कैसे मिले। गायों में कुछ ऐसी नस्ल की गायें होती है, जो दूध ज्यादा देती हैं; पर जिनके बछड़े वैसे अच्छे और मेहनती तथा काम करनेवाले नहीं होते। दूसरी गाये ऐसी होती है, जो दूध तो देती हैं, पर उतनी मात्रा में नही जितनी मात्रा में पहली किस्म की गायें; किन्तु उनके बछड़े बहुत अच्छे हुआ करते हैं, जो अधिक काम कर सकते हैं, अधिक बोझा ढो सकते है। एक तीसरी किस्म की ऐसी गायें है, जो दूध बहुत कम देती है; पर जिनके बछड़े मामूली तौर से अच्छे हुआ करते हैं। चौथी किस्म की गाय ऐसी है, जो न ज्यादा दूध ही देती है और न अच्छे बछड़े। अंग्रेजों के जमाने मे गोशालाओं में चूँकि दूध की ही ज्यादा खोज थी, इसलिए पहली किस्म की गायों को ही अधिक महत्त्व दिया गया, उनके पालने-पोसने का काम ज्यादा किया गया। जहाँ-जहाँ ऐसी नस्ल की गायें मिलीं, वे मँगाकर इन गोशालाओं में रखी गई। इन गोशालाओं में उन्हीं को प्रोत्साहन देकर उनकी ही तरक्की की गई। पर तो भी सरकारी गोशालाओं का, खासकर फौजी गोशालाओं का, खर्च काफी रहा। प्राय: सभी ऐसी गोशालाएँ बहुत नुकसान उठाकर चलाई जाती रहीं; क्योंकि उनके अपने सारे खर्च केवल दूध से ही निकालने पड़ते थे, बछड़े किसी काम के नहीं होते थे; पर बछड़े रखे भी नहीं जाते थे, जन्म के थोड़े ही दिनों के बाद मांस के लिए कत्ल कर दिए जाते थे—यदि वे बच भी जाते तो उनकी नस्ल ही ऐसी थी कि वे बहुत काम के नहीं होते थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान को दूध और बछड़े—दोनों की ही जरूरत

है। इसलिए यह स्पष्ट हो गया कि यहाँ दूसरी किस्म की गायों को ही, जहाँ तक हो सके, गाँव की दृष्टि से, प्रोत्साहन देना आवश्यक है। हाँ, बड़े शहरों में—जहाँ केवल दूध की ही जरूरत हो, बछड़ों की नहीं—शायद पहली किस्म की गाय भी कुछ काम दे सकती है, यद्यपि यह भी शायद मँहगी ही पड़ेगी; क्योंकि केवल दूध से ही सारा खर्च निकालना पड़ेगा। अगर अंग्रेजी अमलदारी की प्रथा के विरुद्ध बछड़े जिन्दा रखे जायँ तो उनको खिलाना पड़ेगा; पर उनसे बहुत काम नहीं मिलेगा। इसलिए, यह निश्चय हुआ कि जो गोशाला कायम की जाय, उसमें अधिकतर इसी तरह की सर्वाङ्गीण—अर्थात् जो दूध और बछड़े अच्छे देवें वही—गायें रखी जायँ और उनकी नस्ल भी सुधारी जाय।

अक्सर देखा गया है कि दूध अच्छा देखकर लोग गायों को दूर-दूर से बहुत खर्च करके मँगवाते हैं। जब रेल नहीं थी, तब जानवरों का बहुत दूर आना-जाना नहीं हुआ करता था। इस तरह देश-भर मे कई नस्लें कायम हो गईं, जो किसी विशेष स्थान में ही पनपी और बढी। उन दिनों भी लोग गोपालन और नस्ल के सुधार की बात समझते थे, इनका वैज्ञानिक शास्त्र भी जानते थे। जब जहाँ जिस तरह के बैल की जरूरत समझी गई तब तहाँ उस तरह के बैल, नस्ल का सुधार करके, तैयार किये गये, जो आज भी मिलते हैं। इस देश मे ऐसे बैल मिलते हैं, जो धीमा तो चलते हैं, पर काफी बोझ ढो सकते हैं। ऐसे बैल भी मिलते हैं, जो बोझ कम ढो सकते हैं, पर तेज भाग सकते हैं प्राय: घोड़े के समान तेजी के साथ रथ दौड़ा सकते हैं। मामूली तौर से अक्सर बैल ऐसे होते हैं, जो हल खीचते हैं और बोझ ढोते हैं तथा साधारण चाल से चलते भी हैं। गाये भी ऐसी बनाई गई थी। तभी वे आज भी मिलती हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के बैलों को पैदा कर सकती हैं, जो या तो अधिक परिमाण में दूध ही दे सकती हैं या अच्छे बैल ही।

जो प्रथा दूर-दूर से गायों को लाकर रखने की, विशेषकर अंग्रेजी अमलदारी की गोशालाओं की वजह से, चल पड़ी थी वह कई तरह से हानिकर साबित हुई। एक तो अपने प्राकृतिक स्थान से बहुत दूर ले जाने की वजह से वह गाय वहाँ के जलवायु में ठीक खपती नहीं है, दूसरे उस कारण से उसे वह चारा खाने को नही मिलता जो अपने स्थान मे उसे मिला करता था, तीसरे उसके योग्य सभी जगहों में साँड़ भी अच्छे नही मिलते। यदि वह गाय अपने स्थान पर ही रह गई होती तो वह अपनी नस्ल के बहुतेरे गाय-बैल पैदा करती, और अगर उसको अपने ही स्थान में उन्नति करने का साधन दिया गया होता तो वह एक उन्नत नस्ल पैदा करती; पर अन्य देश में पहुँचकर वह स्वयं भी कुछ दिनों के बाद खराब हो जाती है, उसके वंशज तो उतने अच्छे होने से रहे। यह सम्भव नहीं कि सूखे प्रदेश—पंजाब, राजपूताना अथवा सिन्ध—की गायें बगाल या बिहार-जैसे सरस प्रदेश में उतने ही सुख से रह सके जितना सुख उन्हें अपने जन्मस्थान में अनायास प्राप्त था। इसलिए यह एक सिद्धान्त के रूप में निकाला गया कि किसी एक जगह की नस्ल की गायों को कहीं दूर ले जाकर उनसे नस्ल बढ़ाने का प्रयत्न बहुत करके सफल नहीं होगा। जहाँ जिस नस्ल का जानवर अधिक होता है वहीं का जलवायु उस नस्ल के लिए अनुकूल है। यदि उसे वहाँ उन्नत करने का प्रयत्न किया जाय तो वह प्रयत्न अधिक सफल हो

सकता है। जो थोड़े-बहुत प्रयोग किये गये है उनका नतीजा बहुत अच्छा निकला है। नस्ल सुधारने मे गाय और साँड़ दोनों की उन्नति आवश्यक है। पर गाय चाहे कितनी भी अच्छी हो, अगर उसको साँड़ अच्छा न मिले, तो केवल उसका बच्चा ही खराब न होगा, बल्कि उसका दूध भी कम हो जायगा। इसलिए, अगर किसी स्थान में मामूली तौर से सर्वाङ्गीण गाये हों और उनके साथ अधिक दूध देनेवाली नस्ल का साँड़ लगाया जाय, तो देखा गया है कि दूध बढ़ जाता है। इसलिए अगर कहीं दूसरी जगह से जानवर लाना ही आवश्यक समझा जाय, तो साँड़ लाना अधिक लाभदायक होगा।

गो-सेवा-संघ का यह दूसरा सिद्धान्त-सा बन गया है कि गाये कही दूर न ले जाई जायँ, सबसे अच्छी स्थानीय नस्ल को ही उन्नत करने का प्रयत्न किया जाय; अगर शास्त्रीय ढंग से देख-विचार कर यह मालूम हो जाय कि अमुक प्रकार का साँड़ अधिक लाभदायक होगा, तो उस प्रकार का साँड़ वहाँ मँगाया जाय, गाय नही; इस प्रकार स्थानीय नस्ल को सुधारना ही वहाँ का बड़ा सुधार माना जाय। वास्तव मे नस्ल सुधारने का काम कठिन है। इसमे शास्त्रीय ज्ञान और अनुभव की बड़ी जरूरत है। इसलिए यह काम हर कोई नही कर सकता। जहाँ भी इसका प्रयत्न किया जाय, ज्ञान और अनुभव रखनेवाले अच्छे योग्य व्यक्ति ही इसका भार उठायें। नही तो डर है कि ऐसे प्रयत्न से अनर्थ भी हो जाय।

गो-सेवा के सम्बन्ध मे महात्माजी ने एक और नया सुधार देश के सामने रखा, जो हिन्दुस्तान के लिए एक घृणित बात थी। हिन्दू जबतक गाय जीती रहती है तबतक उससे जो कुछ काम निकाल सकते है, निकालते है। किन्तु उसके मर जाने पर उसे छूना भी पसन्द नही करते है! इसलिए जिस जाति के लोग मरे जानवर को उठाते और उसके चमड़े इत्यादि निकालते है, वे आज हिन्दू-समाज में अछूत समझे जाते है! चमड़े से काम लेने मे हिन्दू हिचकता है। वह चमड़े का काम करना नही चाहता। महात्माजी ने देखा कि मरी गायों के चमड़े इत्यादि से यदि काम न लिया जाय तो गाय रखना आर्थिक दृष्टि से शायद सफल न हो। इसलिए उन्होने समझाया कि एक मरी गाय का चमड़ा, मांस, हड्डी, सीग, चर्बी, स्नायु इत्यादि सभी चीजों को काम मे लाना चाहिए; इनसे जो कुछ पैदा किया जा सके, पैदा करना चाहिए। उन्होंने वर्धा के पास नालवाड़ी मे एक चर्मालय खुलवाया जहाँ मरे मवेशियों का चमड़ा निकालकर पकाया और तैयार किया जाता था, मांस और हड्डी की खाद बनाई जाती थी, स्नायु से ताँत बनती थी, चर्बी निकालकर जिन कामों मे लगाई जा सकती उनमे लगाई जाती थी। इस तरह, देखा गया कि मरी गाय के यदि सभी अंग ठीक उपयोग मे लाये जायें तो वह एक अच्छी रकम देती है।

कलकत्ता-जैसे बड़े शहर मे तो व्यापारियों ने यह भी दिखलाया है कि गाय जब बिसुख जाती है तब यदि वह पाली जाय, उस वक्त तक के लिए इन्तजार किया जाय जब वह फिर दूध देने लगे, उसके बछड़े को भी आवश्यकता के अनुसार दूध दिया जाय, तो इस तरह गाय पालना इतना खर्चीला हो जाता है कि उसमें मुनाफा नही हो सकता। इसलिए, वहाँ बहुत व्यापारी अच्छा दूध देनेवाली गाय बाहर से ले जाते है, और जहाँ तक

हो सकता है, उससे पहले ब्यान में ही दूध से पैसे निकाल लेते हैं, बच्चे को भी बेच देते हैं। पहले अच्छी कीमत में बच्चा बिक जाया करता था। जो दूध बच्चा पीता था वह भी बच जाया करता था। पैसे भी निकल आते थे। कतल करनेवाले इस तरह की सूखी गाय को बहुत कम कीमत देकर खरीद लेते थे और बेचनेवाले कम कीमत पर बेचकर भी मुनाफे में रह जाते थे; क्योंकि सूखी गाय को खिलाने का खर्च बच जाता था, सिर्फ दूध से ही इतने पैसे निकल आते थे कि गाय की कीमत और उसके पालने का खर्च कुछ मुनाफे के साथ लौट आता था। कसाई मांस, चमड़ा, चर्बी इत्यादि से जितना पैसा निकालता था उतने से ही वह जिस दाम पर गाय खरीदे हुए होता था उससे अधिक फायदा उसको हो जाता था। इसलिए उसको इस तरह की गाय खरीदकर कतल करने मे मुनाफा रहता था।

महात्माजी को ये सब बाते मालूम हो गई थी। इसलिए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि गायों की रक्षा तभी हो सकती है, जब उनका पालन केवल भार न होकर कुछ मुनाफा देनेवाला हो जाय, अर्थात् आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो जाय। इस के लिए चार चीजे जरूरी थीं—(१) गाय अधिक दूध दे, (२) उसके बछड़े अच्छे हों, (३) उसका गोबर इस तरह काम मे लाया जाय कि वह खाद बनकर खेती के लिए लाभदायक हो जाय, (४) उसके मर जाने पर उसके चमड़े इत्यादि से जो कुछ निकाला जा सकता है वह निकाल लिया जाय। अच्छा दूध और बछड़ा देने वाली गाय नस्ल सुधारने से ही पैदा हो सकेगी। इसलिए उन्ही पशुओं की नस्ल सुधारने पर उन्होंने जोर दिया। उनके प्रयोग का फल यह निकला कि यह काम, जेसा ऊपर वतलाया जा चुका है, यदि ज्ञान और बुद्धिमत्ता के साथ किया जाय तो, सफल हो सकता है। खाद के सम्बन्ध मे प्रयोग करके उन्होंने यह देख लिया कि इससे खेती की काफी उन्नति हो सकती है। चमड़े के काम से, जो समाज की रूढियो के कारण सबसे कठिन था, यह साबित हुआ कि यह भी मुनाफे का ही काम है। जैसा ऊपर कहा गया है, चमड़ा निकालना इत्यादि घृणित काम समझा जाता था। उस काम को आवश्यक काम बतलाकर ऐसे लोग उसमें लगाये गये जिनकी जाति ऐसे काम के नजदीक जाती नही थी। घृणा का कारण यह भी था कि वह काम भी गंदा है। इसलिए उसके करने के तरीके मे सुधार करके उसमे सफाई लाने का प्रयत्न किया गया, जिससे उसके विरुद्ध जो भावना गदगी के कारण थी वह कम हो जाय। मामूली तौर से जो जानवर मर जाता है उसके चमड़े से गांव के अस्पृश्य-वर्ग के लोग जूते इत्यादि अथवा और किस्म की जरूरत की चीजें बनाते थे। हड्डी फेंक दी जती थी। उसे गिद्ध-कौए नोचा करते थे। इस तरह एक अत्यंत उपयोगी चीज, जिसकी अच्छी खाद बन सकती, यों ही बरबाद हो जाती थी। जहाँ वह चीज फेंकी जाती वहाँ कई दिनो तक दुर्गन्ध फैलाकर हवा बिगाड़ती रहती थी। हड्डी बेकार ही पड़ी रह जाती थी। उसे जमा करके कुछ व्यापारी विदेश मे भेज दिया करते थे। वहाँ उससे खाद के अलावा और भी कई चीजे बनाई जाती थी जिनसे अच्छा दाम निकल आता था।

महात्माजी ने मांस से खाद तैयार कराई। हड्डी अलग से काम में लाई गई, जिससे विशेष काम खाद का होता था। चर्बी अलग निकाल ली जाती थी। यह सब एक ही प्रक्रिया में हो जाया करता था। इस तरह, यद्यपि यह काम हिन्दू-विचार से बहुत घृणित होता तथापि इसे उन्होंने एक अत्यन्त लाभदायक काम साबित करा दिया। साथ ही, घृणा की भावना भी दूर करा दी। जितनी गोशालाएँ हिन्दुस्तान मे हैं, सब अगर केवल बेकार पशुओं के आश्रय के लिए ही न रह जायँ, बल्कि वे व्यापारिक रीति से चलाई जायँ, तो जितना खर्च उनपर आज देश में हो रहा है उतना उन्हीं से निकल सकता है, इस प्रकार वे बहुत अधिक लाभप्रद हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि इन गोशालाओं मे अच्छी नस्ल की गाये रखी जायँ, जो काफी दूध दिया करें, जिनके पालने से मुनाफा हो; ऐसा नही कि बेकार पशु ही गोशालाओं में रहें। पशुओं का खर्च तो मुनाफे से ही निकल आया करे यदि गोशालाओं में अच्छे और बेकार पशुओं का ठीक अनुपात रखा जाय, चारा पैदा करने और गोचर के लिए गोशाला के पास काफी जमीन हो, गोरस बेचने का—चाहे दूध के रूप मे या उससे और कुछ बनाकर—ठीक प्रबंध हो, गोमूत्र और गोबर तथा गोशाला के बुहारन से खाद बनाने का ठीक प्रबंध हो, उस खाद का भी अच्छा उपयोग हो, गाय की नस्ल सुधारने का अच्छा प्रयत्न हो, मरे हुए पशुओं के चमड़े इत्यादि के उपयोग के लिए गोशाला के साथ ही चर्मालय भी हो। इससे प्रत्येक गोशाला स्वावलम्बी हो जाय। साथ ही, उससे देश का उपकार भी होने लगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि गोपालन मे खर्च का एक मद ऐसा होता है कि जिसकी वजह से बहुत घाटा होने लगता है। बिसुखी हुई गाय जबतक काम देने लायक तैयार न हो जाय तबतक गो-वंश के पालन का खर्च एक बहुत बड़ा खर्च का मद होता है। इसके लिए सोचा गया कि गोशाला से कुछ दूर पर ही यदि जमीन मिल जाय, जहाँ बिसुखी गाय के लिए चारा काफी मिलता हो, तो गोशाला में केवल दुधारू जानवर ही रखे जायें, जिनसे दूध की बिक्री मे सुविधा हो। इस तरह की बिसुखी गाय और उसके बच्चे—जबतक वे काम के लायक तैयार न हो जायें—ऐसे स्थान मे रखे जायें जहाँ उनके पालने में खर्च कम पड़े। तो, इसका फल यह होगा कि एक बड़े मद पर जो बहुत खर्च पड़ता है उसमे काफी कमी आ जाय।

नस्ल के बिगड़ने का एक कारण यह होता है कि इसकी जरूरत नही महसूस की जाती कि किस गाय का किस तरह के साँड़ के साथ लगाया जाना लाभदायक होगा। बिना समझे-बूझे कोई भी साँड़ किसी भी गाय से लगा दिया जाता है। बस वह नस्ल बिगाड़ देता है। अगर नस्ल को उन्नत करना हो तो यह आवश्यक है कि गाय अच्छे साँड़ से लगाई जाय। विदेशों में गाय के प्रति कोई धार्मिक भावना नहीं है। वहाँ जिस जानवर को बेकार समझते हैं वह मार डाला जाता है। उसके मांस इत्यादि से जो पैसे निकल सकते है, निकाल लेते है। इसलिए, नस्ल के सुधार का जो काम ऐसे देशों मे किया जाता है उसके लिए बुरी नस्ल के जानवर कतल कर दिये जाते हैं। इस देश

में ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए, कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे बुरी नस्ल के जानवरों को बिना मारे ही नस्ल का सुधार हो सके। इसका एक ही तरीका है। वह यह है कि बुरी नस्ल के साँड़ों का कहीं भी मेल गायों के साथ न होने पाये। हिन्दू-समाज में ही यह बात चल गई है कि बैल को बधिया करना बुरा काम नहीं माना जाता है। अधिकांश बैल बधिया किए हुए ही होते हैं। इसलिए लोकमत बधिया करने के विरुद्ध नहीं है। यदि ऐसा प्रयत्न किया जाय कि बुरी नस्ल के सभी बछड़े बधिया कर दिये जायँ, केवल अच्छी नस्ल के बैल ही साँड़ के लिए रखे जायँ, तो नस्ल सुधारने का काम प्रगति कर सकता है। यह कोई नई बात नहीं है; क्योंकि हिन्दुओं में श्राद्ध के समय वृषोत्सर्ग की प्रथा बहुत दिनों से चली आती है। शास्त्रों में वृषोत्सर्ग के लिए अच्छा-से-अच्छा बाछे ही दागकर छोड़ने का महत्त्व बतलाया गया है। जो वर्णन ऐसे बाछे का शास्त्रों में किया है उससे स्पष्ट मालूम होता है कि बढ़िया-से-बढिया बाछा ही दागना चाहिए। बाछा को दागकर उसे घूमने-फिरने की आजादी दे दी जाती है। इसका अर्थ यह है कि वह कहीं बाँधकर न रक्खा जाय, स्वतंत्र होकर घूमता रहे; जबतक अच्छा-से-अच्छा खाद्य-पदार्थ मिले, खाया करे और अच्छा-से-अच्छा गोवंश देवे। पर और बातों की तरफ से, जो महत्त्वपूर्ण थी, लोगों का ध्यान हट गया—उनके अर्थ को लोग भूल गये। जैसे-तैसे बाछे को श्राद्ध के दिन दाग देने का रिवाज जारी हो गया। आजकल लोग ऐसे साँड़ों को अपने खेत में चरने नही देना चाहते; क्योंकि जमीन उनके पास इतनी कम होती है कि उसकी फसल से परिवार का पालना उनके लिए कठिन हो जाता है। नतीजा यह होता है कि दागा हुआ मामूली बाछा घर-घर जैसा-तैसा चारा खाता फिरता है। अच्छे साँड़ से ही गौएँ संस्कारी हुआ करती है। यहाँ साँड़ का यह हाल है! ऐसी दशा में नस्ल के बिगड़ने के सिवा दूसरा नतीजा नही हो सकता। इसलिए, आज की स्थिति में मामूली तौर से सभी बाछों को बधिया करा देना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रथा को जोर से चलाना चाहिए। साथ ही, अच्छे-से-अच्छे साँड़ों को, चाहे वे जहाँ से मिलें, लाकर पालना चाहिए। जो लोग मिला-जुलाकर उसे पालें वे अपनी ही गाय के लिए उससे काम लें। यदि एक गृहस्थ उसे न पाल सकता हो तो कई गृहस्थ सहयोग करके उसे पालें। जो उसके पालन में शरीक न हो, वह जब कभी उस साँड़ से काम ले तब शुल्क देकर ही। इस तरीके से नस्ल का सुधार थोड़े प्रयत्न में हो सकता है। पर इसके लिए अच्छी नस्ल का साँड़ खास तौर की देखरेख में रखना तथा सावधानी से उसका पालन-पोषण करना आवश्यक है। उतना ही आवश्यक यह भी है कि दूसरे बछड़े बधिया कर दिये जायँ।

एक और काम जरूरी है। नस्ल के सुधार में गाय भी अच्छी होनी चाहिए। यदि बूढ़ी—कम दूध और कमजोर बछड़े देनेवाली—गाय भी बियाती रहे तो नस्ल के सुधार में कठिनाई होगी। इसलिए इस तरह की गायों को भी किसी-न-किसी तरह बच्चा जनने से रोकना जरूरी है। इसका एक ही रास्ता है। वह यह है कि साँड़ों के साथ उन गायों का सम्पर्क न होने दिया जाय। यदि ऐसा चारागाह मिल जाय, जहाँ

कम-से-कम खर्च में ऐसी गायें रखी जा सकें, जहाँ कोई साँड़ उनके बीच जाने नहीं पावे, तो एक पीढ़ी के भीतर ही सब गायें समय पाकर खुद मरकर अपनी नस्ल का अन्त कर सकती हैं। इसमें किसी तरह के गोवध की आवश्यकता अथवा आशंका नहीं और न इसमें गाय को कष्ट देने की ही जरूरत है। गोचर-भूमि में उनपर ऐसा नियंत्रण हो कि साँड़ों के साथ उनका समागम न हो पाये। जब वे मरें तो उनके हाड़-मांस से जो कुछ निकाला जा सके तथा उनके जीते-जी मूत्र-गोबर से जो कुछ पैदा किया जा सके, वह कर लिया जाय। दोनों तरह की आमदनी मिलाकर उनपर जो खर्च पड़ा होगा वह अगर सबका सब नहीं निकल आवेगा तो उसका बड़ा अंश जरूर मिल जायगा।

महात्माजी ने गोशाला के विविध प्रयोगों से गो-सेवा को एक ऐसा रूप दे दिया है कि वह सचमुच एक लाभप्रद व्यवसाय हो जाय। यदि उनके कार्यक्रम को देश ने अपना लिया तो इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ दूध की इतनी कमी है वहाँ दूध अधिक मिलने लगे, घी-मक्खन जहाँ दुर्लभ हो रहा है वहाँ वह प्रचुर मात्रा में मिलने लग जाय, बैल न मिलने अथवा उसके कमजोर हो जाने से खेती जो कमजोर होती जाती है उसम जान आ जाय, गोमूत्र-गोबर और मास-हड्डी की खाद से उपज अधिक बढ जाय, गोवध के कारण जो अच्छी नस्लों का लोप-सा होता जाता है वह बन्द हो जाय, नस्ल मे काफी तरक्की हो जाय, गोपालन भार न रहे, एक लाभदायक पेशा हाथ आ जाय और दूध के साथ-साथ अन्न की वृद्धि भी देश में हो जाय। इस विषय मे भी महात्माजी ने एक नई विचार-धारा और नया दृष्टिकोण हमारे सामने रखा है। ये सब चीजें सिर्फ अट-कल और अनुमान की ही नहीं रह गई है, बल्कि प्रयोग द्वारा छोटे पैमाने पर प्रमाणित भी हो चुकी हैं। साथ-ही-साथ, उन्होंने ऐसा प्रयत्न किया कि जो काम घृणित समझा जाता था, जिससे दूर रहना इज्जत पाने का एक कारण माना जाता था, वह घृणित काम न रह जाय और इज्जत पाने की जड़ भी कट जाय!

अठाईसवाँ अध्याय

वर्धा में रहते-रहते महात्माजी ने निश्चय किया कि गाँव का सुधार अगर करना है तो गाँव के लोगों के जीवन को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, उनमे रहकर उनकी सभी बातों से परिचित हो जाना चाहिए और जहाँ-जहाँ उनको किसी असुविधा या कठिनाई का मुकाबला करना पडता हो, सबको जान लेना चाहिए; यह ज्ञान तबतक पूरा नही हो सकता जबतक आदमी उन्ही के बीच में उन्ही की तरह रहने न लगे और उनके अनुभव को अपना अनुभव न बना ले; इसलिए गाँव में देहाती जीवन बिताना अत्यन्त आवश्यक है; वह जीवन ऐसा नही है कि औरों पर ही एक प्रकार का बोझ हो जाय और दूसरों का आराम कम करके अपना आराम बढा ले, बल्कि वह ऐसा है कि जहाँ तक हो सके, दूसरों के सुख के बढाने मे उसके द्वारा सहायक हुआ जाय।

वर्धा एक छोटा-सा शहर है। उस वक्त की आबादी पचीस हजार होगी। पर तो भी वह एक शहर ही है। इसीलिए उन्होंने वहाँ से चार मील की दूरी पर 'सेगाँव' नामक गाँव में जाकर रहने का निश्चय किया। यह गाँव यों तो चार मील दूर है, पर उन दिनों वर्धा से वहाँ तक कोई सड़क ऐसी नही थी जिसपर मोटर इत्यादि वहाँ जा सके। बैलगाड़ी किसी तरह सूखे दिनों में चली जाती थी। पर वर्षा में वहाँ जाना कठिन हो जाता था। वहाँ की मिट्टी काली है। इसलिए, जब पानी बरसता है, तो वह इतनी गीली और लचीली हो जाती है कि आदमी के पैर बहुत जगहों मे धँस और फिसल जाते है। वर्धा से सेगाँव के रास्ते मे कहीं-कही तो पथरीली जमीन मिलती है और कँटीली झाड़ियाँ भी यहाँ से वहाँ तक लगी हुई है। ऐसे गाँव की एक छोटी-सी झोपड़ी में, जहाँ पहले से श्री मीरा बहिन जाकर रहती थी, महात्माजी ने जाने का निश्चय किया! वहाँ एक-आध झोपड़ी और तैयार हो गई। कुछ दिनों तक तो महात्माजी ने इस तरह का नियम रखा कि वहाँ दूसरे लोग न रहें। यहाँ तक कि श्रीमहादेव भाई देसाई भी वहाँ नहीं रहते थे। उनको रोजाना मगनबाड़ी से सेगाँव जाना-आना पड़ता था। सुबह जाकर वह दिन-भर का काम करते और संध्या को लौटकर मगनबाड़ी आते; फिर जो कुछ करना होता, करते। दूसरे लोग भी बहुत ही कम जा-आ पाते; क्योंकि जाने में काफी कठि-

नाई होती। आहिस्ता-आहिस्ता लोगों ने बैलगाड़ी में आना-जाना आरम्भ किया। कुछ दिनों के बाद तो सेठ जमनालाल बजाजजी ने मोटर-कार के पहिए लगाकर एक छोटी-सी बैलगाड़ी बनवा ली, जिसमें दो आदमी बैठकर जा सकते थे ! आहिस्ता-आहिस्ता यहाँ से वहाँ तक एक ऐसी सड़क निकली कि और अच्छे दिनों मे ताँगे भी आने-जाने लगे। कई वर्षों के बाद पक्की सड़क बन गई। अब तो आसानी से मोटरकार जा-आ सकती है। टेलीफोन भी लग गया है। यह सब-कुछ कई वर्षों में हो सका। पर जब केवल हिन्दुस्तान के ही दूर-दूर के प्रान्तों से नहीं, विदेशों से भी बहुतेरे लोगों का आना-जाना होने लगा, तब इन सुविधाओं के बिना काम चल ही नहीं सकता था।

गाँव तो छोटा है। आबादी कुछ हरिजनों की है और कुछ दूसरे लोग भी हैं। कुछ दिनों तक महात्माजी के वहाँ जाने से लोगों पर कोई विशेष असर पड़ता नजर नहीं आया। छूत-अछूत न मानने से लोगों ने आश्रमवासी का एक प्रकार से समाज-बहिष्कार किया। पर जो लोग आश्रम मे रहते थ वे एक-न-एक प्रकार से गाँव वालों की सेवा करते ही थे—जब तब गाँव की सफाई कर देना, कोई बीमार पड़ जाय तो उसकी सेवा-सुश्रूषा कर देना इत्यादि। प्रार्थना से भी वे आहिस्ता-आहिस्ता प्रभावित होने लगे। फिर बच्चों को शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया। वहाँ गोशाला खुल जाने के बाद बच्चों को दूध भी दिया जाने लगा। आश्रम में चरखे नियमपूर्वक चला करते थे। इसका भी कुछ-न-कुछ असर लोगों पर पड़ता रहा। वहाँ का जीवन ठीक गाँव वालों के जीवन की तरह बनाया गया। महात्माजी के लिए जो झोपड़ी बनी वह गाँव के लोगों के रहने की झोपड़ी-जैसी ही बनी। बाँस-फूस और मिट्टी की दीवारें, खपड़े की छाजन, मिट्टी से लिपी-पुती दीवार और जमीन। बस चटाई बिछाकर उस पर छोटी-सी गद्दी रख महात्माजी बैठा करते थे। एक छोटा-सा पंखा छप्पर से लटकाया हुआ था। जब कोई आता था, वही खींचा करता था, या स्वयं भी जरूरत पड़ने पर खींच कर थोड़ी-बहुत हवा कर लिया करते थे। सबसे बढ़कर सफाई का खयाल बहुत था। शौच इत्यादि के बाद उसका बर्तन साफ करना, मल को खेत में इस प्रकार डालना कि उसकी गंदगी देखने में न आवे, उसकी बदबू न मिले, उससे अच्छी खाद बनकर खेत को उपजाऊ बना दे—यह सब आश्रमवासी खुद किया करते थे। भोजन के सम्बन्ध म बहुत करके जो साग-सब्जी वहाँ होती थी उसी से काम चलाया जाता था। आटा वही पीस लिया जाता था। 'पूर्ण चावल' भी वहीं बना लिया जाता था। आहिस्ता-आहिस्ता मकान बढ़ने लगे, काम बढ़ने लगे, आश्रमवासियों की संख्या भी बढ़ने लगी। कितनी ही संस्थाओं के केन्द्र उस गाँव में स्थापित हो गये। यहाँ तक कि उसका नाम भी 'सेगाँव' से बदलकर 'सेवाग्राम' हो गया, जो थोड़े ही दिनों में बहुत प्रसिद्ध हो गया। महात्माजी की इच्छा थी कि जिस तरह गाँव के लोग रहते है उसी तरह वहाँ रहा जाय; वहाँ जो कुछ सुविधा मिल सकती थी उसीके आधार पर वहाँ रहा जाय; जितनी सफाई से दिन बिताया जा सकता है, बिताया जाय; इस तरह ग्रामीणों की रहन-सहन और उनके जीवन में सुधार किया जाय।

उदाहरण के लिए उनके कुछ कष्टों का जिक्र करना अच्छा होगा। गाँव में साँप अक्सर हुआ करता है। वहाँ भी था। किस तरह साँपों से लोगों की रक्षा हो, यह एक प्रश्न सामने आया। आरम्भ में वहाँ कोई महात्माजी के पास जाता तो एक बक्स देखने को मिलता जिसके चारों ओर शीशे की दीवार होती और सिरे पर ढक्कनदार तख्ता लगा रहता। वहाँ जो साँप मिलते वे पकड़कर नमूने के लिए इसी में रखे जाते। कौन साँप विषैला होता है और कौन नही, यह जानना आवश्यक हो गया। इसलिए इस विषय का अध्ययन पहले-पहल ही शुरू हुआ। स्थान-स्थान के साँपों के नमूने देख-देखकर तैयार रखे गये। किस तरह साँप पकड़कर बक्स में रखे जायँ, यह भी कुछ लोगों ने सीख लिया। एक बाँस के ऊपरी सिरे पर सूराख करके दूसरे वैसे ही बाँस से कुछ दूर पर रखकर दोनों के बीच एक लम्बी रस्सी लगा देते, जिसका एक छोर सिरे के ऊपर इस तरह बँधा हुआ होता कि वह उसमें से निकल न सके और दूसरी तरफ वह इच्छानुसार ढीली भी की जा सके। साँप पकड़ने मे यह बहुत काम देती। साँप जिधर से आता हो उधर के रास्ते मे यह रख दी जाती। साँप जब लंगर और रस्सी के बीच में आ जाता तो रस्सी खीचकर वह बाँध लिया जाता। इस तरह आसानी से साँप पकड़ा जाता था। इन सब प्रयोगो का मतलब यह था कि गाँव के लोगों को बतला दिया जाय कि वे साँपों को पहचान ले और उनमें जो जहरीले हों उनसे वे बचे रहें तथा जिसको वे पकड़ना चाहें उसे पकड़े भी। जो साँप आश्रम मे मिलते थे वे मारे नहीं जाते थे। वे पकड़कर रख लिये जाते थे। फिर गाँव से दूर जंगल-झाड़ मे ले जाकर छोड़ दिये जाते थे।

महात्माजी को इस बात का स्वयं अनुभव करना पड़ा कि गाँव के लोग मलेरिया द्वारा किस तरह सताये जाते है। वहाँ मलेरिया का प्रकोप बरसात के दिनों में, और कुछ बाद तक भी, रहा करता था। महात्माजी को स्वयं मलेरिया हो गया। वर्धा के डाक्टर वहाँ जाया करते थे, पर महात्माजी अभी उनसे अपनी चिकित्सा नही कराते थे, जबतक उनकी हालत कुछ अधिक खराब न हुई। तब उनको शहर के अस्पताल मे लाने की बात चली। महात्माजी का विचार था कि जो सुविधा सेगाँव के लोगों को न मिलती हो उसे वह सेगाँव मे ही रहकर कैसे लेवे। इसलिए वह वर्धा आकर अपना इलाज कराना नही चाहते थे; क्योकि सेगाँव के लिए वह सुविधा अप्राप्य थी।

यद्यपि सेगाँव देहात था तो भी वहाँ दूध की कमी थी। इसलिए वहाँ पर केवल आश्रमवासियो के लिए ही नही, गाँववालों के लिए भी, गोशाला का खोलना आवश्यक हो गया। महात्माजी के सिद्धान्त के अनुसार वहाँ भी एक गोशाला चलने लगी जिससे वहाँ के बच्चों को भी दूध दिया जाता था।

सेगाँव में रहते-रहते नई तालीम का एक कार्यक्रम महात्माजी ने देश के सामने रखा। नई-तालीमी-संघ का केन्द्रीय दफ्तर भी सेगाँव में ही कायम किया गया, जहाँ नई-तालीमी-संघ की रीति से चलनेवाली एक पाठशाशा भी कायम होकर चलने लगी। चरखासंघ की ओर से एक खादीशाला भी कायम हो गई, जिसमें चरखा इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाली सभी क्रियाओं की शिक्षा, भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये हुए विद्यार्थियों को, दी

जाती है। चरखा-संघ का दफ्तर भी उठाकर वहीं लाया गया। इस प्रकार, यदि आज कोई जाकर देखे तो, सेवाग्राम में बहुतेरे मकान बन गये है। काफी जमीन वहाँ के आश्रम के कब्जे में है, जिसमें खेती होती और ईख बोई जाती है। लोगों को इस बात की भी शिक्षा मिलती है कि खेत की उन्नति किस तरह की जा सकती है। जैसा ऊपर कहा गया है, जो चीज वर्धा में नही हो पाती उसकी भी खेती की जाती है। इस तरह वहाँ अच्छा मोटा गन्ना, बड़े-बड़े पपीते, ज्वार और काफी साग-सब्जी पैदा की जाती है। जितनी संस्थाएँ वहाँ चलती है सबका अपना-अपना इन्तजाम है। १९४२ का संग्राम छिड़ने के पहले वहाँ एक खासी बस्ती बस गई, जिसमे बाहर के लोग भी, जिनमें विदेशी भी अक्सर हुआ करते थे, आकर ठहरते। वे लोग महात्माजी के जीवन को देखते और जो प्रवृत्तियाँ वहाँ चल रही थी उनका अध्ययन करते। एक अच्छा सुव्यवस्थित अस्पताल भी बिडला-कुटुम्ब ने वहाँ बनवा दिया है। पर यह सब कुछ होते हुए भी सेवाग्राम को शहर नहीं कह सकते। वहाँ की रहन-सहन और सब बाते गाँव-जैसी ही है।

जिस समय सड़क इत्यादि नही बनी थी और जाना-आना पैदल ही हुआ करता था, मेरे स्वर्गीय मित्र श्रीमथुरा प्रसादजी एक बार वहाँ पहुँचे। मै भी था। सध्या हो आई। थोड़ी-बहुत घटा भी दीखने लगी। मै वर्धा चला आया। पर उनकी इच्छा हुई कि वह सन्ध्या की प्रार्थना के बाद वर्धा लौटेंगे। प्रार्थना के बाद वह चले। तबतक वर्षा शुरू हो गई! हमलोग वर्धा मे समझते थे कि वह अब यहाँ नही लौटेंगे। पर वह कब माननेवाले थे? सड़क साफ दिखाई नही पडती थी। जहाँ-तहाँ उनका पैर प्राय: घुटने तक मिट्टी मे घुस गया। नतीजा यह हुआ कि पैर किसी तरह से निकला भी तो एक पाँव का जूता उसी मे रह गया! दूसरे पाँव के जूते की कैफियत भी वही रही! रात में दस-ग्यारह बजे के करीब वह लौटे—सारे कपड़े भीगे हुए, कीचड से लदफद, पैर मे काँटे भिदे हुए, अजीब सूरत! उस समय सेवाग्राम से लौटने मे यही सब हानि और कठिनाई पड़ती थी। इन कारणों से जिला-बोर्ड ने सेगाँव तक पक्की सड़क बनवा देना मुनासिब समझा। कुछ दिनों के बाद वह सड़क बन गई।

सेगाँव में श्री परचुरे शास्त्री रहते थे। महात्माजी जेल मे उनसे परिचित हो चुके थे। वह संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। पर कुष्ठ-रोग से पीड़ित थे। कही दूसरा आश्रम न पाकर यहाँ आये थे। यह एक समस्या हो गई कि वह कहाँ रखे जायें और उनके साथ क्या व्यवहार किया जाय। महात्माजी ने उनको अपने साथ रहने दिया। उनके लिए एक झोपड़ी बनवा दी। उसीमे वह रहने लगे। महात्माजी खुद उनकी देख-रेख करते। जब टहलने निकलते तो उनकी झोपड़ी की ओर जरूर चले जाते। रोज उनकी देख-भाल करते। स्वयं ही उनकी सेवा भी करते थे। कुछ दिनों तक वहाँ रहकर शास्त्रीजी गुजर गये।

मुझे भी सेवाग्राम-आश्रम में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यों तो मै वर्धा में सेठ जमनालाल बजाज के अतिथि-भवन में ठहरा करता और सेवाग्राम जाया-आया करता था। कितनी बार दिन का या सन्ध्या का भोजन वही कर लिया करता था। काफी समय वही बिताता था। रात को वर्धा में आकर सोया करता था।

महात्माजी प्रतिवर्ष, जाड़े के दिनों में, कुछ समय के लिए बारडोली जाकर वहाँ के आश्रम में ठहरा करते थे। एक-दो बार मुझे भी बारडोली जाकर उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला। मुझे महात्माजी के चरणों मे बैठने का, जो कुछ वह बातें करते उसे सुनने का तथा उनके जीवन को निकट से देखने का बहुत सुअवसर मिला। बहुतेरे लोग ऐसा मानते हैं कि मेरे पास उनके बहुत पत्र होंगे या उनके सम्बन्ध मे लेखादि होंगे। बहुत लोग डायरी लिखा करते हैं, पर मैं ऐसा सुस्त आदमी हूँ कि डायरी वगैरह के रूप में कुछ नहीं लिख रखा। मैंने महात्माजी को पत्र भी बहुत कम लिखा। जब कोई बात होती, पूछ लिया करता था; उतने से ही संतोष कर लिया करता। बहुतेरी बातें पूछने की जरूरत ही नही पड़ती; क्योकि अक्सर जब मुझे जरूरत पड़ती, मेरे दिल में प्रसगवश कोई प्रश्न उठता, मुझे पूछने की जरूरत मालूम होती, तो मै सोचता ही रहता कि पूछूँ, तबतक दूसरे ही प्रश्नकर्त्ता उनसे पूछ लेते, बस उनके उत्तर से मेरा भी समाधान हो जाता, अथवा कम-से-कम यह मालूम हो जाता कि इस प्रश्न का यह उत्तर महात्माजी देते, अधिक पूछताछ करने की कोई जरूरत नहीं है और न उससे कोई लाभ ही है। इस तरह, इतने वर्षो के घनिष्ठ सम्बन्ध के बाद भी, उनसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई सामान या साहित्य मेरे पास नही है! जिस समय एक बार हम बारडोली जा रहे थे, मैंने उनसे कहा कि रचनात्मक कार्यक्रम की बहुत चर्चा होती है, पर उससे सम्बन्ध रखनेवाला, एकत्र ही थोड़े में सब बातें बता देनेवाला, साहित्य नही है—प्रयोग-विशेष पर 'हरिजन' से खोज-खोज कर लेखों को पढ़ना कठिन और दुर्लभ हो जाता है, इसलिए यदि एक पुस्तिका हो जाती, जिसमे इस कार्यक्रम के सभी अगों पर प्रकाश डाला जाता और सभी बातें इकट्ठी मिल जाती, तो बहुत अच्छा होता। उन्होंने इस बात को पसन्द किया। बारडोली के रास्ते मे ही, रेल पर ही, वह पुस्तिका लिख दी, जो अभीतक प्रचलित और प्रसिद्ध है। मुझसे भी उन्होंने कहा कि तुम भी अपने विचारों को लिख डालो। मै रेल पर तो नहीं, पर बारडोली पहुँचकर लिख सका। वह रचनात्मक कार्यक्रम के सम्बन्ध की पुस्तिका है, जो नवजीवन-प्रकाशन-मंदिर (अहमदाबाद) द्वारा प्रकाशित हुई है।

उनतीसवाँ अध्याय

खाद्य-पदार्थों के सम्बन्ध में महात्माजी के किये गये प्रयोगों का थोड़ा जिक्र पहले आया है। जब वह इंगलैंड में पढ़ते थे तभी यह प्रयोग शुरू किया था। वहाँ उनको निरामिष भोजन करना था। उसके मिलने मे दिक्कत होने की वजह से उन्होंने स्वयं अपना भोजन बनाना शुरू किया। साथ-ही-साथ यह खयाल हुआ कि सादा-से-सादा भोजन कैसे बन सकता है और काफी हो सकता है। उन्होंने निरामिष-भोजियों का एक संगठन कायम किया, जिसके वह बहुत दिनों तक मंत्री बने रहे। ऐसे प्रयोग का सम्बन्ध स्वास्थ्य के साथ था। सारे जीवन में उन्होंने स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रयोगों का जारी रखा। दक्षिण अफ्रिका से हिन्दुस्तान तक में ऐसे मौके आये जब उनको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्होंने खाद्य तथा प्राकृतिक चिकित्सा के सम्बन्ध में कई लेख लिख डाले हैं, जो प्रसिद्ध हो चुके हैं। उनके ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी लेखों का संग्रह पुस्तक-रूप में अलग छपा है। यदि उन सबको मिलाकर देखा जाय तो उन सभी का मौलिक सिद्धांत सत्य और अहिसा पर ही आश्रित है। मनुष्य के जीवन में स्वास्थ्य एक अमूल्य वस्तु है। उसे मनुष्य अपने अप्राकृतिक भोजन तथा रहन-सहन से बिगाड़ता है। यदि भोजन जैसा चाहिए वैसा ही हो और उतनी ही मात्रा में खाया जाय जितना जीवन और स्वास्थ्य के लिए जरूरी है तथा वह भी स्वाद के लिए नहीं, बल्कि स्वास्थ्य के लिए ही खाया जाय, तो केवल स्वास्थ्य ही अच्छा न रहे, उसका असर चरित्र पर भी पड़कर रहे। बीमार शरीर ही अप्राकृतिक अवस्था है। शरीर के बीमार हो जाने पर उसे प्राकृतिक अवस्था में लाने के लिए प्रकृति स्वयं प्रयत्न करती रहती है। वही चिकित्सा सबसे अच्छी है जो प्रकृति के इस काम में सहयोग दे। इसलिए ओषधि-उपचार बहुत करके सहायक होने के बदले हानिकर होता है। इसीलिए महात्माजी प्राकृतिक चिकित्सा पर जोर देते थे। उसपर उनका दृढ़ विश्वास था। उनके विश्वास की कठिन परीक्षा भी हुई थी। उन्होंने अपने लड़के की कड़ी बीमारी में, ईश्वर का नाम लेकर, दूसरी चिकित्सा न करके, प्राकृतिक चिकित्सा का ही सहारा लिया था। ईश्वर की दया से वह अच्छे भी हो गये। उनके ध्यान में इस सम्बन्ध की एक बात और भी रहा करती थी। आजकल की खर्चीली

पद्धति, जो विशेषकर ऐलोपैथिक चिकित्सा के नाम से प्रचलित है, गरीबों को सुलभ नहीं है। हिन्दुस्तान के लाखों गाँव ऐसे हैं जिनमें गरीब लोगों को इस तरह की खर्चीली चिकित्सा मिलना असम्भव है। प्राकृतिक चिकित्सा, जिसका अर्थ है प्राकृतिक जीवन द्वारा अपने को बीमार होने ही न देना, अगर प्रचलित हो जाय तो अमीर और गरीब सब-के लिए वह एक सुलभ और अत्यन्त लाभप्रद चीज साबित हो।

हमारे शास्त्रों ने कुछ ऐसा सिखाया है और हमारी संस्कृति कुछ ऐसी बनी है कि उनसे आनन्दमय सत्य निकलता है। आजकल अक्सर लोग कह दिया करते हैं कि धर्म के साथ राजनीति का कोई सम्बन्ध नहीं, सार्वजनिक जीवन का व्यक्तिगत जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है—इत्यादि; अर्थात् जीवन के हर-एक पहलू को हम और-और पहलुओं से अलग मानते हैं, यह नहीं देखते कि एक का असर दूसरे पर कैसा पड़ता है। हमारी संस्कृति इसके विपरीत बताती है। मनुष्य का शरीर उसके मन से अलग नही किया जा सकता है—अर्थात् स्वस्थ मन के साथ ही स्वस्थ शरीर हो सकता है और स्वस्थ शरीर के साथ ही स्वस्थ मन भी। शुद्ध भोजन के बिना न तो स्वस्थ शरीर ही रह सकता है और न स्वस्थ मन ही। यदि व्यक्ति स्वस्थ नहीं है तो व्यक्ति का समूह भी स्वस्थ नही हो सकता। स्वस्थता चित्त की, शरीर की और क्रिया की भी होनी चाहिए। इस दृष्टि से जीवन के सभी पहलू, विचार और गुण तीन श्रेणी में विभक्त किये गये हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें से जिसका बाहुल्य अथवा प्राधान्य जिस मनुष्य में होता है, जिसका विश्वास जिस तरह के समाज और काम में होता है, वह तदनुसार सात्त्विक, राजस अथवा तामस कहा जाता है। इस तरह खाद्य, शरीर, स्वास्थ्य, मानसिक सत्ता और विचार की पवित्रता का एक दूसरे से इस तरह का सम्बन्ध है कि एक दूसरे पर एक दूसरे का प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। तामस भोजन करके सात्विक प्रवृत्ति लाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। उसी तरह राजसी शरीर के साथ तामसी प्रमाद अथवा सात्त्विक कर्म भी कठिन होता है। इसलिए हमारे शास्त्रों के अनुसार जीवन में आहार-विहार का समन्वय किया गया है, जिससे मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

महात्माजी के बताये हुए ग्यारह व्रत इसी सिद्धान्त के अनुसार बने हैं। वे व्रत सब-के-सब नये नहीं हैं। वे हमारे शास्त्रों मे बहुत करके पाये जाते है। उनका पालन बचपन से ही सिखाया जाता है, या यों कहें कि जन्म के पूर्व से ही सिखाया जाता था तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि सन्तान उत्पन्न करने के कृत्य में भी संयम और नियम बताये गये हैं। स्त्री-पुरुष का संसर्ग केवल क्षणिक शारीरिक सुख के लिए ही नहीं, पर संसार चलाने के लिए भी आवश्यक मानकर वह नियमों द्वारा नियंत्रित किया गया था। इसलिए जो सन्तान उत्पन्न होती थी वह संयम-नियमों के साथ संस्कारी तथा सुसंस्कृत होती थी। उस सन्तान का संस्कार एक प्रकार से जन्म के पहले ही, माता-पिता के संसर्ग के समय ही, आरम्भ हो जाता था। जन्म के समय से मरने तक, और मरने के बाद भी, कितने ही संस्कार हुआ करते थे, जिनका विधान जीवन को संपूर्ण बनाने के उद्देश्य से हुआ करता था। इस तरह, मनुष्य चाहे ब्रह्मचर्य-अवस्था में शिक्षा प्राप्त

करता हो, चाहे गृहस्थ-आश्रम में गृहस्थी का जीवन बिताता हो, चाहे वानप्रस्थी होकर लोकसेवा करता हो, चाहे अन्तिम अवस्था में ईश्वर-आराधन और ईश्वर-चिन्तन मे लगा हो, वह अपने सारे जीवन को और समाज के जीवन को सम्पूर्ण बनाने में ,लगा रहता था। आज हम इन संयमों और नियमों को सच्चे अर्थ में भूल गये हैं, बहुत करके इन्हें समझते भी नहीं हैं। इसका यह फल होता है कि या तो ये नियम हमको जीवन का सुख प्राप्त करने में बाधक मालूम होते हैं, या इनकी हम आवश्यकता ही महसूस नहीं करते हैं, या इन्हें एक व्यर्थ पुरानी लकीर मानकर छोड़ देना ही प्रगतिशीलता का चिह्न समझते हैं ! महात्माजी न तो यहाँ तक अन्धविश्वासों से काम लेना चाहते थे और न उन्हें पसन्द करते थे। पर इनमें जो तथ्य है उसे मानते थे। उन्होंने उस तथ्य या तत्त्व का, आज की आधुनिक परिस्थिति के अनुरूप, अपने ग्यारह व्रतों में समावेश कर दिया है। इसलिए उनके खाद्य-पदार्थ-सम्बन्धी प्रयोग, स्वास्थ्य-चिकित्सादि-सम्बन्धी प्रयोग, ब्रह्मचर्य, तथा जीवन के मौलिक सिद्धान्त 'सत्य और अहिंसा' का परस्पर घनिष्ठ और अनन्य सम्बन्ध है। कोई एक को दूसरे से अलग करके उनको समझ नहीं सकता है, जीवन मे उनके उतारने की तो बात ही क्या हो सकती है। इन्ही तत्त्वों पर समाज-गठन की रचना भी उनका ध्येय था। इसलिए उनकी राजनीति जिसे हम धर्म कहते है उससे अलग नही थी। इस तरह, वैयक्तिक जीवन सार्वजनिक जीवन से अलग नही किया जा सकता है।

इस विषय को कुछ उदाहरणों द्वारा समझ लेना अच्छा होगा। ऐसा अक्सर लोग कह बैठते हैं कि अगर किसी मनुष्य का व्यक्तिगत चरित्र शुद्ध नहीं है, पर उसका सार्वजनिक जीवन अगर शुद्ध है, तो वह सार्वजनिक काम अच्छा ही करेगा। महात्माजी इस बात को नहीं मानते थे कि जो आदमी रुपये-पैसे के बारे में, अपने निजी कारबार में, पहले साफ नहीं है वह सार्वजनिक जीवन में साफ रह सकता है। जो अपने लिए इधर-उधर करके कुछ कमा लेना बुरा नहीं मानता, जो अपने निजी कारबार में अप्रामाणिक है,वह क्या कभी सार्वजनिक जीवन में जितना चाहिए उतना स्वच्छ हो सकता है ? यदि धनी होने का सीधा और सहज रास्ता कुछ छोटी-मोटी बातों में सत्य और असत्य का खयाल न रखना ही हो, तो वह ऐसा धनी मनुष्य कभी सच्ची सेवा नहीं कर सकता। इस प्रकार से उपार्जित धन यदि सेवाकार्य में लगाया भी जाय तो वह उतना फलदायी नही हो सकता; क्योंकि जरूरत से अधिक धन-उपार्जन केवल गैर-जरूरी ही नहीं, बल्कि अनिष्टकर भी हो सकता है। इसलिए, जरूरत से अधिक अपने लिए उपार्जन न करने को भी महात्माजी ने एक व्रत मान लिया। अपने ग्यारह व्रतों का विस्तृत वर्णन और समीचीन मीमांसा उन्होंने अपने लेखों में की है, जिनका संग्रह 'मंगल प्रभात' के नाम से छपा है। उसका अध्ययन और अनुशीलन अनिवार्य होना चाहिए। इसलिए यहाँ पर चन्द शब्दों में ही प्राकृतिक चिकित्सा, भोजन इत्यादि का मौलिक तत्त्व बताया गया है।

तीसवाँ अध्याय

ऊपर कहा जा चुका है कि भारत-जैसे देश में, भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों के बीच विश्वास और सद्भावना उत्पन्न करने को, महात्माजी ने, अपने सार्वजनिक जावन के प्रायः आरम्भ से ही, एक मुख्य उद्देश्य और अनिवार्य आवश्यकता बना रखा था। उनका दक्षिण अफ्रिका जाना एक मुसलमान व्यापारी के मुकदमे की पैरवी के लिए हुआ था। वहाँ सब हिन्दुस्तानियों के साथ, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, जो दुर्व्यवहार हुआ करता था वही उनके वहाँ रह जाने का कारण हुआ। वहाँ के अन्यायों और अत्याचारों को दूर करने के प्रयत्न में ही सत्याग्रह का आविष्कार हुआ—केवल 'सत्याग्रह' शब्द का ही नही, सत्याग्रह के सारे कार्यक्रम का भी। वहाँ सत्याग्रह में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही उत्साहपूर्वक भाग लिया। वहाँ हिन्दू और मुसलमान में किसी प्रकार का भेद-भाव होने का कारण पैदा नहीं हुआ। विदेश में जहाँ अपने देश के थोड़े ही लोग हैं और जहाँ सबके साथ एक ही प्रकार का दुर्व्यवहार होता है तथा जहाँ की जनता अथवा गवर्नमेंट सभी भारतीयों को एक ही डण्डे से हाँकती हो, इस प्रकार की एकता आश्चर्यजनक नही—एक प्रकार से स्वाभाविक है। महात्माजी ने वहाँ यह देख-समझ लिया था कि भारत मे, जहाँ कितने ही धर्मों के माननेवाले और कितनी भाषाओं के बोलनेवाले तथा कितने ही प्रकार की नीति-रीति पर चलनेवाले लोग बसते हैं, ऐसी एकता के बिना न तो विदेशी सरकार से ही लड़ा जा सकता है और न एक दिन के लिए भी लोग चैन से जीवन बिता सकते हैं। इसलिए उन्होने हिन्दू-मुसलमानों की एकता को—जिसका अर्थ था हिन्दुस्तान में बसनेवाले सभी लोगों की एकता, चाहे उनका धर्म कुछ भी हो—यहाँ के सार्वजनिक जीवन का एक अनिवार्य और अत्यावश्यक अंग शायद मान लिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि इसी रीति के अनुसार उन्होंने हिन्दुस्तान में बराबर काम किया। खिलाफत के मामले में मुसलमानों का दुगुने उत्साह के साथ उन्होंने साथ दिया और मुसलमानों ने भी उस समय की राजनीति में पूरा भाग लिया; पर दुर्भाग्यवश ऐसा बलवा-फसाद आरम्भ हो गया कि जो एकता देखने में आने लगी थी वह आहिस्ता-आहिस्ता घटती हुई दिखाई दी। उसको बचाने के लिए उन्होंने १९२४ में इक्कीस दिनों

का उपवास किया और वातावरण कुछ सुधरा हुआ मालूम होने लगा; मगर वह स्थायी नहीं रहा, शीघ्र ही दूषित हो गया। राजनीतिक कारणों से जैसे-जैसे देश में जागृति बढ़ती गई, मुसलमानों में भी जागृति फैलती गई ; उनकी माँगें भी इसके साथ-ही-साथ बढ़ती गईं। ब्रिटिश गवर्नमेंट का भी प्रोत्साहन उनको मिलता गया। गोलमेज-सभा असफल हो गई। महात्माजी लंदन से बम्बई पहुँचते ही गिरफ्तार कर लिये गये। यह लड़ाई उन्होंने मोल नहीं ली थी। ब्रिटिश गवर्नमेंट की नीति ने उनको मजबूर करके देश को इसमें शरीक कराया था। मुसलमान तो शरीक बहुत कम हुए थे, पर जो हुए थे, वे बहुत खुल करके। सीमाप्रान्त सारा-का-सारा सम्मिलित था। इधर भी जमायत-उलेमा जैसी सर्वमान्य संस्था राजनीतिक मामलों में बराबर कांग्रेस का साथ देती रही—यद्यपि उसके धार्मिक विचार हमेशा कट्टर रहे हैं।

सन् १९३७ तक, जब नये विधान के अनुसार पहला चुनाव हुआ था, मुस्लिम लीग का उतना जोर देश में नहीं था। १९२९ के बाद वह मुसलमानों की नई संस्था बन गई थी, जिसमें सभी पुरानी मुसलिम संस्थाएँ सम्मिलित हो गई थीं, या ढीली पड़ गई थी। इनमें खिलाफत-कमिटी और मुसलिम लीग, दोनों का स्थान एक प्रकार से गौण हो गया था—यद्यपि दोनों ने अपने-अपने समय में मुसलमानों का नेतृत्व किया। इसलिए जब १९३७ का चुनाव हुआ तब मुसलिम लीग बहुत कम जगहों पर जीत सकी। अधिकांश जगहों पर तो उसने उमीदवार ही नहीं खड़े किये। चुनाव के बाद नये विधान के अनुसार जब मंत्रिमंडल बने थे तब उनमें मुसलिम लीग को कोई विशेष स्थान नही मिला। पंजाब और बंगाल में, जहाँ की आबादी में मुसलमानों की संख्या अधिक है और जहाँ की व्यवस्थापिका सभाओं में भी उनके लिए अधिक स्थान मिले थे, मुसलिम लीग अपना मंत्रिमंडल नहीं बना सकी; क्योंकि उसकी तरफ से बहुत कम लोग चुने गये थे। मुसलमान भी, चाहे व्यक्तिगत रूप से अथवा दूसरी संस्थाओं की ओर से, अधिक करके असेम्बली में आये थे। पंजाब में यूनियनिस्ट-पार्टी बनी थी, जिसमें हिन्दू और मुसलमान जमींदार एक साथ होकर कांग्रेस और दूसरे दलों से लड़े थे। बगाल में अधिक मुसलमान प्रतिनिधि कृषक-प्रजा-पार्टी की ओर से चुने गये थे। इसलिए लीगी मंत्रिमंडल कहीं नहीं बना। सीमाप्रांत में सबसे बड़ी पार्टी, जिसमें सबसे अधिक संख्यावाली पार्टी मुसलमानों की थी, कांग्रेस की थी। जब कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाना निश्चित कर लिया तब वहाँ भी कांग्रेस-मंत्रिमंडल बना, जिसके प्रधान-मंत्री डाक्टर खाँ साहब हुए।

इस तरह, चुनाव के समय तक, मुसलिम लीग का कोई विशेष प्रभाव देखने में नही आया। पर जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन गये तब लीग ने उनके विरुद्ध हिन्दुओं के प्रति विरोध और द्वेष का भाव बहुत जोरों से फैलाना शुरू किया, और तरह-तरह की झूठी और बे-बुनियाद शिकायतों का पुल बाँध दिया तथा उनका प्रचार करना अपना मुख्य काम बना लिया। मिस्टर जिन्ना १९३५ के विधान का इसलिए विरोध करते थे कि उसमें सारे देश का एक संघ बनाने की योजना थी। भारतवर्ष में मुसलमान अल्पसंख्यक थे, इसलिए केवल मुसलमान होने की हैसियत से वे उस संघ की धारासभा में बहुमत पाने की आशा

कभी कर ही नहीं सकते थे। इसलिए वे चाहते थे कि सूबों को जितना हो सके उतना अधिक अधिकार दिया जाय ताकि कम-से-कम उन सूबों में, जहाँ मुसलमान बहुसंख्यक थे, वे अपनी इसलामी नीति चला सकें। कांग्रेस ने भी १९३५ के विधान का विरोध किया था। पर उसका विरोध इसलिए था कि परोक्ष रीति से ब्रिटिश गवर्नमेंट अपने हाथों में सत्ता रखना चाहती थी और कांग्रेस उसे हिन्दुस्तानियों के हाथ में देना चाहती थी। यह एक प्रकार से स्पष्ट था कि हिन्दुस्तानियों के हाथ अधिकार न आवे तो न सही, पर अगर आवे तो उसमें मुसलमान की हैसियत से हिन्दुओं के बराबर—जो संख्या मे उनसे कम-से-कम तिगुना थे—मुसलमानों को अधिकार मिलना चाहिए। इसलिए उनका झगड़ा ब्रिटिश के साथ उतना नहीं था जितना कांग्रेस के साथ। ब्रिटिश नीति इसलिए उनको प्रोत्साहन देती थी कि वह इस तरह अधिकारों को, जहाँतक हो सके इस बहाने से भी, अपने ही हाथ मे रखे; क्योंकि हिन्दू-मुसलमानों मे एकता नहीं है और दोनों मिलकर कोई एक माँग पेश नही कर सकते। कांग्रेस-मंत्रिमंडलों ने, जहाँ तक हो सकता, इन्साफ से काम लिया; मुसलमानों के प्रति कोई अत्याचार या अन्याय नहीं किया। पर लीग की ओर से बहुत द्वेष फैलाया गया। बहुत-से झूठे आरोप कांग्रेस-मंत्रिमंडलों के विरुद्ध लगाये गये। लीग की ओर से दो रिपोर्टें छापी गई थीं—एक पीरपुर के राजा की लिखी हुई जिसमे सभी मंत्रिमंडलों के विरुद्ध इलजाम लगाये गये थे और दूसरी पटना के बैरिस्टर मिस्टर शरीफ की लिखी हुई जिसमें बिहार के मंत्रिमंडल पर इलजाम लगाये गये थे। इन इलजामों के सम्बन्ध में धारासभाओं मे बहस हुई। मंत्रिमंडल ने इन्हें निराधार बतलाया। पर बातें चलती ही रही। उन पक्षपात-भरे रिपोर्टों का प्रचार लीग की ओर से होता ही रहा।

कांग्रेस की तरफ से मिस्टर जिन्ना को इस बात की चुनौती दी गई थी कि लीग की सभी शिकायतों की जाँच निष्पक्ष अँग्रेज न्यायाधीश सर मारिस ग्वायर द्वारा—जो भारत के चीफ जस्टिस थे—करा ली जाय, कांग्रेस उनके फैसले को मानेगी। पर मिस्टर जिन्ना ने इनकार कर दिया। फिर भी लीग की ओर से बराबर शिकायत होती ही रही। नतीजा यह हुआ कि आपस का द्वेष बढ़ता ही गया। १९४० में लीग ने लाहौर के अपने अधिवेशन में यह फैसला कर लिया कि हिन्दुस्तान का बँटवारा होना चाहिए, जिसमें हिन्दू-बहुसंख्यक प्रांत एक तरफ और मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रांत दूसरी तरफ अलग कर दिये जायँ तथा दोनों सब प्रकार से एक दूसरे से स्वतंत्र रहें। इस प्रकार १९४१ में लीग ने पाकिस्तान की स्थापना को अपना ध्येय बना लिया। पर अभीतक आश्चर्य की बात यह थी कि इस बटवारे के मामले में लीग को उतना सहारा मुसलमान-बहुसंख्यक प्रांतों से नहीं मिल रहा था जितना अधिक मुसलमान-अल्पसंख्यक सूबों से! किसी भी थोड़ी समझ रखनेवाले आदमी के लिए यह बात साफ थी कि बटवारा यदि हो जाय, तो पाकिस्तान और मुसलमानों को चाहे जो भी अधिकार मिल जाय, पर दूसरे हिस्सों में तो उनकी संख्या और भी कम हो जायँगी—वह केवल एक अल्पसंख्यक जाति होकर ही नहीं, बल्कि एक छोटी अल्पसंख्यक जाति के रूप में ही रह जायगी। पर, या तो उनका

इरादा यह था कि इस तरह अलग पाकिस्तान कायम करके वे किसी-न-किसी दिन बाकी हिन्दुस्तान पर भी पाकिस्तानी राज्य कायम कर लेंगे, या वे यह समझते थे कि यह तो कभी होनेवाला है नहीं, इसलिए इस तरह की बातें करके हम कांग्रेस को दबाकर उससे अधिक अधिकार मुसलमानों के लिए ले लेंगे। उनमें से कुछ मुसलमानों ने व्याख्यानों और लिखित-प्रकाशित पुस्तकों द्वारा सारे हिन्दुस्तान पर इस्लामी हुकूमत कायम करने की अभिलाषा प्रकट की थी। इसलिए हिन्दुओं के दिल में यह संदेह रहता ही था कि मुसलमान-भाई अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं।

लड़ाई शुरू होने के बाद ही, १९३९ के सितम्बर-अक्तूबर में, कांग्रेस की ओर से, इस बात की कोशिश की गई कि ब्रिटिश गवर्नमेंट 'के साथ कोई समझौता हो जाय। पर ब्रिटिश गवर्नमेट भारतीयों को अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थी। मिस्टर जिन्ना ने अपनी ओर से कांग्रेस का साथ देने से इनकार कर दिया। वे अपने को मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि मानते थे और कहते थे कि उसी तरह कांग्रेस भी अपने को हिन्दुओं का प्रतिनिधि मानकर हमसे बातचीत करे तो हम बातचीत करने को तैयार हैं! कांग्रेस के सारे इतिहास और सारे ध्येय ने इस प्रकार की साम्प्रदायिकता से अपने को अलग रखा था, क्योंकि कांग्रेस में मुसलमान तथा दूसरे धर्म वाले सभी जातियों के लोग आरम्भ से बराबर शरीक थे। यद्यपि कांग्रेस के साथ मुसलमानों का सहयोग बराबर एक तरह नही रहा तथापि कांग्रेस भी मुसलमानों से एकबारगी खाली कभी न रही। खिलाफत-आन्दोलन के जमाने मे तो कांग्रेस ही प्रायः सभी मुसलमानों का नेतृत्व कर रही थी। पर मिस्टर जिन्ना कांग्रेस को भी लीग की तरह साम्प्रदायिक संस्था बनाने पर तुले हुए थे। महात्मा गांधी ने उनसे बराबर बातचीत करने की कोशिश की जिसमे किसी तरह से आपस में समझौता हो जाय। पर मिस्टर जिन्ना ने उनको बराबर ठुकराया!

मिस्टर जिन्ना का कहना था कि हिन्दू और मुसलमान तो दो अलग-अलग नेशन है, दोनों कभी एक साथ रह नही सकते, इसलिए हिन्दू हिन्दुस्तान मे राज करे और मुसलमानों को पाकिस्तान दे द। महात्मा गांधी और कांग्रेस, दोनों ही 'दो नेशन' की नीति को कभी स्वीकार नहीं करते थे; क्योंकि प्रायः एक हजार बरसों का इतिहास यह बताता था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का प्रयत्न यह रहा है कि वे एक दूसरे की संस्कृति, रहनसहन, बोलचाल, वेशभूषा इत्यादि का आदानप्रदान करते रहे ह, और दोनों ने मिलकर हिन्दुस्तान में एक हिन्दुस्तानी नेशन पैदा किया है, जो न तो सोलह आने हिन्दू है और न सोलह आने मुसलमान—यद्यपि अपने धार्मिक विश्वासों और आचारों में दोनों अपने सिद्धान्तों के अनुसार चलते रहे, और उनमें भी बहुत बातों में मेल-जोल हुआ है। इसलिए अब इसी आधार पर कि दोनों दो नेशन हैं, देश का बटवारा अनुचित होगा और किसी तरह से मानने योग्य भी नहीं। महात्माजी बटवारा—अर्थात् हिन्दुस्तान का ऐसा विभाजन जिसमें इसके दो अंश एक दूसरे से बिल्कुल स्वतत्र हों—कभी मानने को तैयार नहीं थे। पर वह सूबों को हर तरह से सूबाई कामों में स्वतन्त्र बनाने के लिए तैयार थे। इसके लिए जितना कुछ करना पड़े, वह कर देते थे। पर इसका अर्थ यह होता कि सारा भारत एक देश रहता

और उसका एक शासन होता। मिस्टर जिन्ना इसके लिए तैयार नहीं थे। ब्रिटिश गवर्नमेंट भी शायद बटवारा पसन्द नहीं करती थी, पर मिस्टर जिन्ना को उससे प्रोत्साहन मिलता हा गया ! फल यह हुआ कि वह अपनी माँगों पर और जोरों से डटे रहे। महात्माजी अपने विचार में बहुत दृढ़ थे, इसलिए लीग ने उनको ही अपना सबसे बड़ा विरोधी मान लिया। लीगियों की ओर से कहा जाने लगा कि उनके रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट गांधीजी हैं !

लड़ाई शुरू होने के कुछ ही बाद ब्रिटिश गवर्नमेंट ने—जो उस वक्त तक इस प्रयत्न में थी कि १९३५ के विधान के अनुसार भारत में एक संघशासन कायम हो जाय जिसमें ब्रिटिश सूबे और रजवाड़े सभी शरीक हो जायँ, और जो रियासतों के साथ उस समय तक ऐसी शर्तों के सम्बन्ध में बातचीत चला रही थी जिन शर्तों पर रजवाड़े भारत-संघ में शरीक होने के लिए तैयार होते—अपना रुख बदल दिया। लीग अथवा मिस्टर जिन्ना की बात मानकर उसने घोषणा कर दी कि १९३५ के विधान का वह भाग, जिसके अनुसार संघ स्थापित होता था, अब काम में नहीं लाया जायगा—वह स्थगित कर दिया गया। मिस्टर जिन्ना का विरोध, १९३५ के विधान के प्रति, इसी भाग के कारण था। इस तरह उनकी ख्वाहिश पूरी कर दी गई ! कांग्रेस, बिना सच्चे अर्थों में अधिकार पाये, लड़ाई में मदद करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेना नहीं चाहती थी। इसलिए ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ उसका कोई समझौता नही हो सका। समझौते का अंतिम प्रयत्न, १९४२ के आरम्भ में, क्रिप्स-मिशन द्वारा, किया गया था। पर वह असफल रहा। उसकी असफलता का विशेष कारण मिस्टर जिन्ना की जिद्द था। उसके बाद कांग्रेस के लिए और कोई चारा नहीं रह गया था। उसको ब्रिटिश गवर्नमेंट से कहना ही पड़ा कि 'भारत छोड़ो'।

यह स्थिति इतनी जल्दी और इतनी आसानी से नहीं पहुँची, जैसा चन्द वाक्यों द्वारा ऊपर बता दिया गया है। कांग्रेस के अन्दर भी काफी मतभेद था। कुछ लोग चाहते थे कि कांग्रेस को ब्रिटिश गवर्नमेंट की मदद करनी चाहिए और अपनी माँग को एक तरह से लड़ाई के जमाने में तह में डाल रखना चाहिए। कुछ ऐसे थे, जो इतनी दूर तक जाने के लिए तैयार नहीं थे; पर तो भी ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ झगड़ना पसन्द नहीं करते थे, किसी-न-किसी तरह से कुछ समझौता करना ही चाहते थे। महात्माजी को ब्रिटिश गवर्नमेंट की कार्रवाइयाँ देखकर यह विश्वास नहीं होता था कि वह भारत की माँग किसी तरह सच्चे अर्थ में मानने को तैयार है या होगी। इसका बहुत बड़ा प्रमाण इसी से मिलता था कि उसके द्वारा लीग को प्रोत्साहन मिलता जाता था अथवा लीग को वह अपना हथकण्डा बनाकर अपना काम निकाल रही थी।

इसके अलावा और कांग्रेस-सिद्धान्त की भी बात थी। महात्माजी ने लड़ाई आरम्भ होते ही लार्ड लिनलिथगो से कह दिया था कि भारत की सहानुभूति ब्रिटेन के साथ है और उसे बिना शर्त ब्रिटेन की मदद करनी चाहिए। इस बात से जनता में और कांग्रेस में भी कुछ असन्तोष था; क्योंकि महात्माजी का विचार था कि इंगलैण्ड की सबसे बड़ी मदद हिन्दुस्तान की सहानुभूति ही होगी—यदि संसार को यह मालूम

हो जाय कि इंगलैण्ड के साम्राज्य के नीचे रहकर भी भारत की सच्ची सहानुभूति इंगलैण्ड को प्राप्त है, तो इसका नैतिक असर सारे संसार पर पड़ेगा, खासकर बड़े युद्ध में इस प्रकार का नैतिक प्रभाव कुछ कम कीमती नहीं होता है। पर इस वाक्य को एक तरफ तो हिन्दुस्तान के लोगों ने ठीक नहीं समझा और बहुतेरे कहने लगे कि बिना शर्त मदद हम नहीं कर सकते—हमको तो जब ब्रिटिश सरकार स्वतंत्रता देगी तभी हम उसके साथ सौदा कर सकेंगे। उधर जब गांधीजी ने अपने शब्दों का अर्थ नैतिक सहानुभूति लगाया तब अंग्रेजों ने उनपर यह इलजाम लगाया कि वह अपनी बात से हट गये। बात यह थी कि महात्माजी के जीवन मे इस प्रकार के और भी मौके आये थे जब उनको इस प्रकार की गलतफहमी का शिकार बनना पड़ा था। कांग्रेस ने अहिंसा को अपने ध्येय मे स्थान दे रखा था। महात्माजी के जीवन का तो सत्य और अहिंसा लक्ष्य रहा ही है। क्या वह इस युद्ध में, जहाँ सब प्रकार के नये-से-नये घातक अस्त्र-शस्त्र व्यवहार मे लाये जा रहे थे, अपने जीवन के सिद्धान्तों को छोड़कर, अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करके मदद करने की बात सोच सकते थे? साथ ही, उन्होंने पिछली लड़ाई मे रँगरूटों की भर्ती करवाने में मदद दी थी, जिसकी बड़ी कड़ी समालोचना अन्य देशों के कट्टर शान्तिवादी (पैसिफिस्ट) लोगों ने की थी।

जो हो, जब यह मामला वर्किङ्ग-कमिटी के सामने आया तो बहुत सोच-विचार के बाद उसने निश्चय किया कि ब्रिटिश सल्तनत को अगर हिन्दुस्तान की सच्ची सहानुभूति चाहिए और वह उसकी मदद लेना पसन्द करती है, तो उसे दो बातें करनी चाहिए—एक तो भारत की स्वतन्त्रता के ध्येय को साफ-साफ मान लेना और स्पष्ट शब्दों में उसकी स्थापना का अपना निश्चय बता देना, तथा दूसरे, तात्कालिक काम के लिए भारत-वासियों को गवर्नमेंट में अविलम्ब अधिकार देना जिसमे वे सचमुच मदद कर सकें और भविष्य के सम्बन्ध में उनका विश्वास जम जाय। ब्रिटिश गवर्नमेंट कहती थी कि उसको इस युद्ध में प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए शरीक होना पड़ा है, इसलिए उसको इस बात का अधिकार है कि वह सभी प्रजातंत्रवादी लोगों से सहानुभूति और मदद पावे। वर्किङ्ग-कमिटी ने जो निश्चय किया उसमें इसी बात पर जोर देकर कहा गया कि ब्रिटिश सरकार अगर सचमुच प्रजातंत्र की हामी है तो उसको चाहिए कि भारत की इन दो माँगों को पूरा करके इस बात का सबूत दे। जब उसने इस बात को नामंजूर कर दिया तब कांग्रेस को मजबूर होकर मंत्रिमंडल से, जहाँ-तहाँ जो कांग्रेस का बहुमत था, हट जाना पड़ा। ब्रिटिश सरकार को उन सूबों का शासन-भार गवर्नरों के हाथ मे देना पड़ा। उस समय जो वादविवाद चला था उसका विवरण यहाँ देना अनावश्यक है। मै यहाँ, महात्माजी के साथ मेरा निजी एकमत किस प्रकार रहा, सिर्फ यही बता देना काफी समझता हूँ।

लड़ाई के आरम्भ में भी कांग्रेस-वर्किङ्ग-कमिटी का जो प्रस्ताव हुआ था, जिसमें उपरोक्त दो माँगें पेश की गई थीं, उसमें यह स्पष्ट नही किया गया था कि ब्रिटिश गवर्नमेंट यदि उन माँगों को मान ले तो कांग्रेस उसकी मदद हथियारों द्वारा करेगी। पर इसमें सन्देह नहीं कि इसकी तह में यह बात आ जाती थी कि ब्रिटिश गवर्नमेंट अगर

बात मान लेगी तो वह जिस तरह से और जिस प्रकार की मदद चाहेगी, कांग्रेस को देनी पड़ेगी, जिसमें फौज के लिए आदमियों की भर्ती तथा पैसे की मदद भी शामिल होगी। पर उस समय यह बात साफ खुली नही; क्योंकि लार्ड लिनलिथगो ने माँग पूरी ही नहीं की, बस मदद देने का प्रश्न उठा ही नही। जैसे-जैसे लड़ाई बढ़ी और जर्मन एक देश के बाद दूसरे देश पर हमला करके उसे जीतता गया तथा यह स्पष्ट होता गया कि वह किसी भी कमजोर देश को—जो उसकी बात नहीं मानता—स्वतन्त्र नहीं रहने देगा, वैसे-वैसे अंग्रेजों के साथ हिन्दुस्तान के लोगों की सहानुभूति और भी बढ़ती गई। हममें से बहुतेरे उस वक्त कांग्रेस के अहिंसा-तत्त्व को भूल ही गये ! पर महात्माजी उसको कैसे भूल सकते थे ? कांग्रेस-वर्किङ्ग-कमिटी के अन्दर जब फिर इस पर विचार होने लगा तब मतभेद स्पष्ट हो गया। महात्माजी का खयाल था कि हम अपनी नीति छोड़कर लड़ाई में हिंसात्मक साधनों द्वारा मदद नही कर सकते। वह यह मानते थे कि हमारा अहिंसात्मक साधन केवल दो ही विषयों को आधार मानकर स्वीकृत हुआ है—एक तो यह कि हम अगर अँग्रेजों के विरुद्ध स्वराज्य-प्राप्ति के लिए लड़ना पड़े तो उसम हम अहिंसात्मक रहेंगे, दूसरा यह कि भारतवासियों के आपस के झगड़ों मे हम कभी हिंसात्मक साधनों से काम नही लेंगे। महात्माजी अपनी अहिसा में इस प्रकार का कोई बन्धन या मर्यादा नहीं मानते थे। बात यह है कि अगर इस तरह की मर्यादा मान ली जाय तो वह कायम नहीं रह सकती और एक प्रकार से हमारी अहिसा और दूसरे देशों की हिंसा में कोई मौलिक भेद भी नहीं रह जाता।

कोई भी देश ऐसा नहीं है जो हिंसा को ध्येय मानता हो अथवा उसे श्रेयस्कर समझता हो। जो घोर-से-घोर हिसात्मक काम करते है वे भी यह कभी नहीं कहते कि हिंसा ठीक है, बल्कि वे यही कहते हैं कि अहिंसा श्रेयस्कर है, पर उसकी मर्यादा है, सभी जगहों पर उससे काम नहीं चलता, इसलिए उनको वाध्य होकर अहिसा छोड़ना पड़ता है। अगर कांग्रेस भी इसी प्रकार की मर्यादित और अवसरवादी अहिंसा को ही मानती, तो उसमें और दूसरे देशों में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। अगर भेद है तो इतना ही कि किन विशेष स्थितियों में हिंसा से काम लेना चाहिए और किनमें नहीं। इस विषय पर दो मत होने की गुजाइश रह जाती है—अर्थात् किसी विशेष स्थिति में कांग्रेसवादी कह सकते है—जैसा वे कह रह थे—कि वहाँ अहिसा से ही काम लेना चाहिए, और दूसरे कह सकते थे कि वह स्थिति ही ऐसी थी जिसमें मजबूरी हिसा से काम लेना पड़ सकता है। उदाहरण के लिए, स्वराज्य-प्राप्ति की बात ही ले लीजिए। जैसा ऊपर बताया गया है कि कांग्रेस के अन्दर यह बात मान ली गई थी कि स्वराज्य-प्राप्ति के काम में हमको हिंसात्मक साधन काम में नहीं लाना चाहिए; पर दूसरे लोग मानते थे कि कोई कारण नहीं कि जिस देश को दूसरे देश ने इस प्रकार दबाकर मजबूर कर रखा है वह अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के प्रयत्न में इस तरह अपने को क्यों मजबूर समझे, और कोई नैतिक कारण भी नहीं कि वह हिंसात्मक साधन का इस्तेमाल न करे। अगर कांग्रेस जर्मनी से मुकाबला करने में शस्त्रों द्वारा ब्रिटिश गवर्नमेंट की मदद कर सकती

है तो वह इसीलिए कि ब्रिटिश गवर्नमेंट प्रजातन्त्र की मदद में लड़ रही है, ताकि दूसरे प्रजातन्त्रवादी देशों को दबाकर जर्मनी अपने कब्जे में न कर ले, तो फिर कोई कारण नहीं कि उसी प्रजातन्त्र को हिन्दुस्तान मे कायम करने के लिए हिन्दुस्तान ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ शस्त्रों द्वारा न लड़े। इस तरह का सैद्धान्तिक मतभेद कांग्रेस-वर्किङ्ग-कमिटी में देखने में आया।

कांग्रेस-वर्किङ्ग-कमिटी ने यह निश्चय किया कि उसकी माँग अगर पूरी हो जाय तो कांग्रेस खुलकर ब्रिटिश गवर्नमेंट को मदद देगी। जब यह स्पष्ट हो गया तब गांधीजी के सामने बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गई। उन्होंने किसी समय कहा था कि असत्य द्वारा अगर स्वराज्य भी मिले तो वह उसे नहीं लेंगे। तो क्या इस अवसर पर हिंसात्मक मदद देकर ब्रिटिश गवर्नमेंट से स्वराज्य लेना उचित होगा? इस विषय पर कई दिनों तक मन्थन होता रहा। पर यह स्पष्ट हो गया कि एक तरफ गांधीजी का सिद्धान्त था और दूसरी तरफ उनलोगों का जो स्वराज्य के बदले में शस्त्र द्वारा ब्रिटिश गवर्नमेंट की मदद करना चाहते थे। दिल्ली में, फिर वर्धा में, कई दिनों तक विचार होता रहा। मैं महात्माजी के सिद्धान्त को मानता हूँ, उस समय भी मानता था—यद्यपि मुझमें न तो वह सत्य ही है और न उतनी हिम्मत ही कि जिस तरह वह अड़कर रह सकते थे उस तरह मैं भी रह सकूँ, तो भी जब वर्किङ्ग-कमिटी का यह निश्चय हो गया तब मैंने इस्तीफा देना उचित समझा; क्योंकि ऐसा न करता तो हो सकता था कि अपने को एक बड़ी मुश्किल में पाता। मान लीजिए, अगर ब्रिटिश गवर्नमेंट वर्किङ्ग-कमिटी की माँग मंजूर कर लेती तो मेरा और वर्किङ्ग-कमिटी के सदस्यों का यह कर्तव्य हो जाता कि हम उसकी मदद करें—वह हिंसात्मक रूप से हो अथवा अहिंसात्मक। उस समय यह कहना न उचित होता और न सम्भव कि हम तो अहिंसावादी हैं, इसलिए हिंसात्मक युद्ध में—हमारी माँगों को ब्रिटिश गवर्नमेंट के मान लेने के बाद भी—हम हिंसात्मक मदद नहीं दे सकते। मैंने सोचा कि हम अगर हिंसात्मक मदद देने को तैयार नहीं है तो हमको पहले से अलग हो जाना चाहिए। इसलिए मैंने इस्तिफा दे दिया। पर जब मुझे यह बताया गया कि अभी तो मदद देने का प्रश्न ही नहीं उठता है—वह तो तब उठेगा जब ब्रिटिश गवर्नमेंट हमारी बात मान लेगी, जिसका अभी कोई करीना नहीं था, ऐसी अवस्था में कांग्रेस में फूट का प्रदर्शन करके उसे कमजोर करने से कोई लाभ नहीं, तब मैंने इस्तिफा को स्थगित रखा। पर अब्दुल गफार खाँ, जिनका मत भी वही था, डटे रहे; उन्होंने अपना इस्तिफा वापस नहीं लिया।

जब वर्किङ्ग-कमिटी की बात अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी में मंजूरी के लिए पेश होने को आई तब महात्माजी उस बैठक में नहीं गये। पर मैं गया। वहाँ मैंने देखा कि अखिलभारतीय कमिटी में भी बहुतेरे लोग ऐसे हैं जो महात्माजी से सहमत हैं। पर मैंने उनलोगों की तरफ से एक बयान देकर, जिसमें अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी, तटस्थ रहना ही मुनासिब समझा। पर कांग्रेस को यह विकट समस्या हल नहीं करनी पड़ी; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने उसे अपने तरीके से बहुत जल्दी हल कर दिया। उसने कांग्रेस

की माँग नामंजूर कर दी। तब मत देने की कोई बात नहीं रह गई। इसलिए कांग्रेस में जो फूट और मतभेद देखने में आते थे उनपर परदा पड़ गया। महात्माजी, जो तटस्थ हो गये थे, फिर कांग्रेस का नेतृत्व करने लग गये—फिर अपने तरीके से उसको चलाने लग गये। हमारे लोगों को बहुत सन्तोष हुआ; क्योंकि हमको कांग्रेस-जैसी संस्था से अलग होने की बात सोचने की अब जरूरत नहीं रह गई। हम जिस तरह से और लोगों के साथ मिलकर काम करते आये थे उसी तरह करते रहे। पर इसमें सन्देह नहीं कि वह एक मौका था जब हमको बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी के उसी अधिवेशन में सर्वसम्मति से एक यह निश्चय भी हुआ था कि जहाँतक स्वराज्य-प्राप्ति और देश में आपसी झगड़े निपटाने का सवाल है, वह अपनी अहिंसा-नीति पर अभी अड़ी है। सर्वसम्मति से प्रस्ताव स्वीकृत तो हो गया; पर जब पानी की बाढ़ को रोकने के लिए जो बाँध बँधा रहता है और मुश्किल से पानी को रोके रहता है उसमें अगर एक छोटा भी सूराख हो जाता है तब हम यह कहकर उसे सुरक्षित नहीं रख सकते कि यह एक छोटा-सा सूराख मात्र हमने किया है और बाँध के बाकी हिस्से को हम अब भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। इसलिए, जब अहिंसा के बाँध में, जो आजतक देश को हिंसा की बाढ़ से सुरक्षित रखता आया था, छोटे छेद से भी हिसा का प्रभाव होने लगा तब—जैसा आगे हम दिखलायेंगे—हमारे और दूसरे देशों के हिंसा-अहिसा के सिद्धान्त में शायद ही कोई अन्तर रह गया है।

इसके और भी दुखद परिणाम हुए हैं जिनका थोड़ा-सा वर्णन किया जायगा। हम उस चक्कर में इस तरह से पड़ गये कि हमारे लिए अब निकलना भी कठिन हो गया। महात्माजी ने अपनी जान देकर भी बाढ़ को रोकना चाहा और उनकी अहिंसा ने चमत्कार भी दिखलाया, पर देश अभी पूरी तरह नहीं सँभला था।

गवर्नमेंट के कांग्रेस की माँग नामंजूर कर देने के बाद कांग्रेस को व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ करना पड़ा, जिसका नेतृत्व महात्माजी ने किया। अब कांग्रेस के लोगों में कोई मतभेद इस विषय पर नहीं रह गया कि उन्हें ब्रिटिश गवर्नमेंट को मदद करनी चाहिए या नहीं। अब प्रायः सभी इस विषय पर एकमत हो गये कि ब्रिटिश गवर्नमेंट की मदद इस युद्ध में कांग्रेस नहीं कर सकती। महात्माजी-जैसे विचारवादी लोग तो इस कारण मदद करना नही चाहते थे कि यह हिंसात्मक युद्ध की मदद करना होगा और हम अपनेको अहिंसावादी मानते हुए ऐसा नही कर सकते थे। जो दूसरे विचार के थे उन्होंने यह सोचा कि ब्रिटिश गवर्नमेंट का जब ऐसा रुख है तब उसकी मदद कैसे की जा सकती है। इसलिए इस व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप यह हुआ कि हम इस लड़ाई में मदद नहीं कर सकते। चूंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट इस प्रकार के प्रचार को बरदाश्त नहीं कर सकती, वह प्रचार करनेवालों को रोकेगी ही। इस तरह सत्याग्रह आरम्भ हो गया। यह सत्याग्रह उस नागरिक अधिकार की रक्षा के लिए था, जो प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होना चाहिए। वह अधिकार अपने विचारों को, चाहे वह तात्कालिक शासकों के विचारों के विरुद्ध ही क्यों न हो, स्वतंत्रतापूर्वक प्रगट करने का है।

सत्याग्रह आरम्भ तो किया गया, पर इस बात का पूरी कोशिश की गई कि इसके द्वारा किसी प्रकार की हलचल या कोई बलवा-फसाद न होने पावे, लोग अपनी ओर से अहिंसात्मक बने रहें। यह मुमकिन था कि इसको व्यक्तिगत रूप न देकर सामूहिक रूप दिया जा सकता, पर महात्माजी ने ऐसा नहीं किया; क्योंकि यह भी मुमकिन था कि उस वक्त बलवा-फसाद हो जाता। साथ ही, यह भी दिखलाना था कि सारा देश इस सत्याग्रह के साथ है, जो बात सिर्फ चन्द आदमियों के व्यक्तिगतरूप में सत्याग्रह करने से प्रमाणित नहीं होती। इसलिए महात्माजी ने निश्चय किया कि थोड़े ही लोग इस सत्याग्रह में सक्रिय भाग लें; पर वह ऐसा होना चाहिए जो सारे देश के प्रतिनिधित्व और नेतृत्व का दावा रखता हो; इससे संसार को मालूम हो जायगा कि यद्यपि थोड़े ही लोग सत्याग्रह में शरीक हुए हैं तथापि यह सत्याग्रह चन्द व्यक्तियों का ही सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता, बल्कि सारा देश अपने चुने प्रतिनिधियों द्वारा इसमें शरीक हुआ समझा जाना चाहिए। इस तरह एक तरफ चुने प्रतिनिधियों को सत्याग्रह में शरीक होने का आदेश देकर यह सत्याग्रह सार्वदेशिक प्रमाणित किया गया और दूसरी तरफ अधिक होहल्ला न होने देकर तथा केवल ऐसे ही लोगों को इसमें शरीक होने की इजाजत देकर, जा गांधीजी के सिद्धान्तों पर चलनेवाले थे, यह--जहाँ तक हो सकता था—अहिसात्मक रखा गया।

इकतीसवाँ अध्याय

व्यक्तिगत सत्याग्रह में मै खुद शरीक नही हुआ। मेरा स्वास्थ्य खराब था। महात्माजी ने मुझे रोक रखा। उनका विचार था कि मेरे जेल जाने का अर्थ यह होगा कि अपनी चिकित्सा का भार मै गवर्नमेंट पर डालता हूँ। अगर वह मुझे यों ही पकड़ ले तो उसकी जिम्मेदारी मेरे ऊपर नही। पर मै अगर सरकार को मजबूर करके अपने को गिरफ्तार कराऊँ तो उसका अर्थ यही होगा कि मै,गवर्नमेंट को इस दुविधा में डालता हूँ कि या तो वह मुझे गिरफ्तार करके मेरी देख-भाल का भार अपने ऊपर ले या मेरे नियम-भंग करते रहने पर भी मेरी बीमारी के कारण मुझे गिरफ्तार न करे—यह अच्छा नही होगा; इसलिए मुझे शरीक नही होना चाहिए। इसी तरह, औरों को भी, जो बीमारी अथवा दूसरे किसी कारण से शरीक नही हो सकते थे, उन्होंने सत्याग्रह करने से बरी कर दिया। इस बार के सत्याग्रह में वह बहुत छान-बीन करके लोगों को जाने देते थे। उनकी इजाजत बगैर कोई जा भी नहीं सकता था। जिस प्रकार सत्याग्रही के चुनाव में कड़ाई होती थी उसी प्रकार शान्ति कायम रखने की कड़ी ताकीद थी। महात्माजी का विचार था कि वह ब्रिटिश गवर्नमेंट को यह दिखला दें कि उनकी माँग सारे देश के लोगों की ओर से थी और जनता के प्रतिनिधि अपने ऊपर कष्ट झेलने के लिए तैयार थे, पर साथ ही वे गवर्नमेंट को किसी प्रकार मुश्किल में नही डालना चाहते थे।

कांग्रेस के सभी प्रमुख लोग जेल चले गये। कांग्रेस के संचालन का भार एक प्रकार से गांधीजी पर ही रह गया—यद्यपि कांग्रेस के मंत्री आचार्य कृपालानी बाहर ही थे। महात्माजी ने उनको और मुझे बहुत करके सेवाग्राम या वर्धा में ही रहने का आदेश दिया। अधिकतर मै प्रायः एक वर्ष वहीं रहा।

उधर युद्ध ज्यादा जोर पकड़ता गया। जर्मनों की जीत चारों तरफ होती हुई दीखने लगी। जापान भी युद्ध में शरीक हो गया। सिगापुर, मलाया, बर्मा, जावा इत्यादि के टापू पर वह कब्जा जमा बैठा। चीन के बहुत बड़े भूभाग पर वह बहुत पहले ही से दखल जमा चुका था। ऐसा मालूम होने लगा कि हिन्दुस्तान के दरवाजों पर ही खतरा आ पहुँचा। योरोप के प्रायः सभी देश या तो जर्मनी के कब्जे में आ गये या उसके असर

में थे। इंगलैंड को, फ्रांस के हार जाने के बाद, प्रायः अकेला ही लड़ना पड़ रहा था। पर इंगलैंड के साथ दो वड़ी शक्तियाँ आ जुटी थीं--एक यूरोप में रूस और दूसरा अमेरिका। रूस ने जर्मना को अपनी सारी शक्ति लगाने के लिए मजबूर कर दिया था। अमेरिका के पास अस्त्र-शस्त्रों का इतना बड़ा खजाना था और साथ ही उसके कारखाने इन चाजों के तैयार करने में इतने जोरों के साथ लगे हुए थे कि वह अपने साथियों की जलसेना, स्थल-सेना तथा नभ-सेना की जरूरतों को बहुत हद तक पूरा कर सकता था। अब उसने अपनी सेना को भी एक तरफ यूरोप में और दूसरी तरफ जापान से लड़ने के लिए भेजना आरम्भ किया। पर यह सब होते हुए भी, १९४१ के अन्त और १९४२ के आरम्भ में, ऐसी स्थिति आ गई थी कि मालूम होता था, जर्मन और जापान सबको हराकर ही रहेंगे।

स्थिति की गम्भीरता को देखकर, जब फ्रान्स पर जर्मनी का धावा हुआ था तब, प्रधान मंत्री चर्चिल ने यह प्रस्ताव किया था कि इंगलैण्ड और फ्रांस मिलकर एक राष्ट्र बन जायँ। यह प्रस्ताव ऐसे समय हुआ जब फ्रांस हार चुका था। उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं रह गई थी कि इतने बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर वह विचार कर सके। जब एशिया की स्थिति वैसे ही संकटाकीर्ण हो गई तब भी चर्चिल की गवर्नमेंट ने यह सोचा कि हिन्दुस्तान को किसी तरह से राजी करना जरूरी हो गया है। शायद अमेरिका ने भी इस बात पर जोर दिया। तब फिर उन्होंने सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को हिन्दुस्तान भेजा कि यहाँ के नेताओं से मिलकर वह कोई ऐसा रास्ता निकालें कि हिन्दुस्तान राजी हो जाय और दिल खोलकर युद्ध मे मदद करे। हिन्दुस्तान में युद्ध की तैयारियाँ, विशेष करके अमेरिका की मदद से, बहुत तेजी के साथ हो रही थीं। पर लाख तैयारी हो, जनता यदि विरोधी रहे अथवा कम-से-कम तटस्थ भी रहे, तो केवल विदेशी सेना कहाँ तक दुश्मन का मुकाबला कर सकती है। इसलिए श्री क्रिप्स स्थिति को सँभालने के लिए भेजे गये। वह सज्जन एक बहुत ही चतुर और कामयाव बैरिस्टर थे। मजदूर-दल में अग्रगण्य स्थान रखते थे। पर अपने विचारों की उग्रता के कारण मजदूर-दल से अलग हो चुके थे। लड़ाई आरम्भ होने पर निजी तौर से वह एक बार हिन्दुस्तान आये थे। जिस समय वर्धा मे कांग्रेस की कार्यकारिणी युद्ध-सम्बन्धी अपनी नीति निर्धारित करने में लगी हुई थी उसी समय वह वर्धा आये और नेताओं से मिले थे। उस समय रूस और जर्मनी मे अनबन नहीं थी, एक प्रकार का समझौता हो गया था। इंगलैंड का हित इसी में था कि जर्मनी के साथ रूस लड़ाई में न फँसे। इंगलैंड ने श्री क्रिप्स को दूत बनाकर रूस भेजा था। उन्होंने वहाँ बहुत अच्छा काम किया। जब रूस और जर्मनी में युद्ध ठन गया तो उनका काम वहाँ पूरा हो गया। उनको इंगलैण्ड ने अब हिन्दुस्तान भेजा। वह हिन्दुस्तान पहुँचने से पहले यह घोषित करते रहे कि वह हिन्दुस्तान के साथ समझौता कराने का कोई-न-कोई रास्ता जरूर निकाल लेंगे और हिन्दुस्तान को भी खुश कर लेंगे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कांग्रेस में इस विषय पर मतभेद था कि लड़ाई मे

वह अस्त्र-शस्त्र की मदद दे या नहीं। पर इस मतभेद के कारण लार्ड लिनलिथगो से जा समय-समय पर बातें हुईं वे टूट गई थीं। टूटने का कारण तो यह था कि ब्रिटिश गवर्नमेंट हिन्दुस्तान की माँग को पूरा करने के लिए तैयार नहीं थी। एक माँग तो तत्क्षण अधिकार देने की थी और दूसरी माँग भारत के भावी विधान के रूप से सम्बन्ध रखती थी। अगर पहली माँग खुले दिल से मंजूर कर ली गई होती तो दूसरी के सम्बन्ध में लोग लड़ाई की समाप्ति तक ठहरने के लिए तैयार हो जाते। पर पहली माँग मंजूर करने को लार्ड लिनलिथगो तैयार नहीं थे। इसलिए समझौता नहीं हो सका था। पर झूठा प्रचार यह किया गया था कि भारत, महात्मा गांधी की अहिंसा-नीति के कारण, युद्ध में मदद करने के लिए तैयार नहीं था; इसलिए कोई समझौता नहीं हो सकता था। सर क्रिप्स के पहुँचने पर भी यही बात सामने आई।

श्री क्रिप्स बहुत धूम-धाम से हिन्दुस्तान पहुँचे। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों से मिले। और दूसरों से भी मिले। कांग्रेस की माँग, जैसा ऊपर कहा गया है, दो प्रकार की थी—एक तो यह कि भारत के प्रतिनिधियों को अभी से शासन में पूरा अधिकार दिया जाय कि वे खुले दिल से लड़ाई में मदद कर सकें और दूसरी बात के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि जो स्थायी विधान बनेगा उसमें वह भारतीयों को कहाँ तक हिस्सा देने के लिए तैयार है। कांग्रेस की ओर से किसी एक जाति या पक्ष या दल के लिए अधिकार नहीं माँगे जाते थे। उसकी सारी जिन्दगी का इतिहास बताता है कि वह किसी खास जाति या दल-विशेष की संस्था कभी नहीं रही। इस वक्त भी सबकी ओर से ही अधिकार माँगा गया था। इसके विपरीत, मुस्लिम लीग इस बात पर राजी नहीं थी कि जन-सख्या में बहुसंख्यक होने के कारण केन्द्र में हिन्दू हमेशा बहुमत मे रहे, इसलिए मुसलमान इसपर राजी नहीं हो सके कि केन्द्र में अधिकार दिया जाय। पर बात कई दिनों तक चलती रही। अन्त में सर स्टैफोर्ड क्रिप्स ने एक मसौदा दिया, जिसमे और सब विषयों में तो अधिकार दिया गया था; पर सेना और युद्ध चलाने के विषय मे बात साफ नहीं थी। कुछ ऐसा मालूम था कि उस सम्बन्ध मे भी कुछ सीमित अधिकार दिये गये है। पर इस बात की भी छान-बीन की गई। अन्त में स्पष्ट हो गया कि सेना और लड़ाई के सम्बन्ध में प्राय: नहीं के बराबर अधिकार दिये गये है! लड़ाई के दिनों में प्राय: सभी दूसरे विभाग लड़ाई के काम में लग जाते हैं। इसलिए उनके सम्बन्ध में भी जो कुछ अधिकार मिल सकते थे, वे भी एक प्रकार से नहीं के बराबर हो जाते थे; क्योंकि युद्ध-विभाग और सेना-विभाग जिस तरह से चाहें उस तरह से दूसरे विभागों का उपयोग कर सकते थे। इसलिए कांग्रेस ने उनके मसौदे को मंजूर नहीं किया। अन्त में, जब कांग्रेस की ओर से यह जाहिर हो गया तब मिस्टर जिन्ना ने भी उसे नामंजूर कर दिया; क्योंकि वह अकेले अधिकार ले नहीं सकते थे, और लेते भी तो कांग्रेस के बिना वह कुछ कर नहीं सकते थे। उधर इंगलैंड में वहाँ के प्रधान मन्त्री चर्चिल इतनी दूर बढ़कर दिये जानेवाले निकम्मे अधिकार को भी नापसन्द करते थे! उन्होंने ही सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को वापस बुला लिया। बस वह चले गये।

महात्माजी ने आरम्भ में ही देख लिया था कि इसमें कुछ होनेवाला नहीं है। इसलिए उनकी इसमें कुछ दिलचस्पी नहीं थी। पर तो भी वह कई दिन दिल्ली में रहे। बातचीत में शरीक भी रहे। पर कुछ दिनों के बाद, श्री कस्तूर बा की बीमारी के कारण, उन्हें सेवाग्राम चला जाना पड़ा। विरोधियों ने मशहूर किया कि समझौता हो जाने पर भारत को लड़ाई में इंगलैंड की मदद करनी होती और लड़ाई में भारत का मदद देना अहिंसा-सिद्धान्त के विरुद्ध होता, इसलिए यह बातचीत निष्फल हुई ! जैसा ऊपर कहा गया है, सर क्रिप्स की असफलता का कारण महात्माजी की अहिंसा नहीं थी; क्योंकि अधिकार देने की कांग्रेस की माँग यदि पूरी होती तो कांग्रेस खुलकर लड़ाई में मदद देती। वास्तव में उनकी असफलता का कारण हिन्दुस्तान को अधिकार देने की इंगलैंड की अरुचि थी !

बत्तीसवाँ अध्याय

सर स्टैफोर्ड क्रिप्स के चले जाने के बाद देश के सामने बड़ा विकट प्रश्न उपस्थित हुआ। जापान तेजी से बर्मा की तरफ आगे बढ़ रहा था। अमेरिका की मदद हिन्दुस्तान में अभी पूरी पहुँची नहीं थी—यद्यपि बड़ी तेजी के साथ फौज और अस्त्र-शस्त्र आ रहे थे। इंगलैंड की शक्ति इतनी नहीं थी कि वह बर्मा को बचा सके। हिन्दुस्तान को बचाना तो और भी बड़ा कठिन था। अगर बचाने का कोई साधन निकल सकता था तो वह जनता का संकल्प ही हो सकता था, जो उन्हें आक्रमणकारियों से मोर्चा लेने और मुकाबला करने के लिए अनुप्राणित और प्रोत्साहित कर सकता था। ऐसा संकल्प तभी हो सकता था जब जनता को यह विश्वास हो जाय कि वह अपने देश की रक्षा के प्रयत्न में लगी है, जिसके लिए जो कुछ भी त्याग करना पड़े उसे खुशा-खुशी करना चाहिए। पर ब्रिटिश गवर्नमेंट संघर्ष बचाने के लिए अशक्त साबित हो चुकी थी। वह भारतवासियों के हृदय में देश के प्रति ममत्व की भावना, जो त्याग करवा सकती थी, जागने नहीं देना चाहती थी। महात्माजी ने सोच लिया था कि ऐसी अवस्था में स्वतंत्र भाव से अपनी रक्षा का उपाय सोचना चाहिए। पर वह कोई अहिंसात्मक उपाय ही हो सकता था। दूसरे लोग भी, जो अहिंसा में इतनी शक्ति नहीं देखते थे और जो इस कारण से हिंसात्मक युद्ध में भी हिंसात्मक रीति से मदद करने की अपनी तैयारी बता चुके थे, जब गवर्नमेंट ने मदद लेने से इनकार कर दिया तब, इस बात पर मजबूर हुए कि अब फिर महात्माजी के नेतृत्व में ही कुछ-न-कुछ करना होगा !

समय नाजुक था। कांग्रेस के लोग अथवा कोई भी यदि ऐसी बात कहते, जिससे युद्ध-संचालन में बाधा पड़ती, तो विद्रोही समझे जाते। यदि देश की रक्षा के लिए कोई स्वतंत्र उपाय सोचता तो वह भी विद्रोही समझा जाता; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट यह माने बैठी थी कि भारत की रक्षा के लिए उसके पास चाहे साधन हों या न हों, रक्षा का भार उसी पर था, किसी और दूसरे के साथ वह इस भार का बटवारा नहीं कर सकती !

महात्माजी उन दिनों बहुत जारों से देश को चेतावनी भी दे रहे थे कि अपनी रक्षा का भार उसे अलग से उठाने के लिए तैयार होना चाहिए। प्रयाग में अखिल-भारतीय

कांग्रेस-कमिटी की बैठक हुई। कार्यकारिणी के सामने इसी बात पर बहुत जबरदस्त बहस चली। महात्माजी उस बैठक में नहीं आये थे। उन्होंने कार्यकारिणी के लिए अपने विचार के अनुकूल प्रस्ताव का मसौदा भेज दिया था। वह कार्यकारिणी के कुछ लोगों को पसन्द नहीं आता था। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि उसकी कुछ बातों को छोड़कर यदि हम उसपर एकमत हो जायँ तो ठीक हो। पर ऐसा भी न हो सका। अन्त में कार्यकारिणी के सामने प्रस्ताव के दो रूप आये—एक जो मैंने महात्माजी के प्रस्ताव में काट-छाँट करके, यथासाध्य उसकी मौलिक बातों को कायम रखते हुए, तैयार किया था और एक दूसरा। कार्यकारिणी में राय लेने पर बहुमत मेरे पक्ष में हुआ; पर इसका अर्थ यह होता था कि कांग्रेस दो दलों में बट जाती थी। महात्माजी भी वहाँ नहीं थे कि उनसे कुछ राय ली जा सके। अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी के सदस्य प्रस्ताव का इन्तजार कर रहे थे। उसकी बैठक एक दिन के लिए स्थगित हो चुकी थी। इसलिए सब बातों पर विचार करके, बहुत डरते-डरते, मैंने अपने प्रस्ताव को वापस ले लिया। कार्यकारिणी को कह दिया कि अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी में भी दूसरे प्रस्ताव का विरोध नहीं करूँगा, चुप रह जाऊँगा। मुझे डर इस बात का था कि न जाने महात्माजी मेरे प्रस्ताव को ही कहाँ तक पसंद करेंगे, क्योंकि उनके भेजे मसौदे में बहुत काट-छाँट करके वह बनाया गया था, पर था उसी के अनुरूप। किन्तु अब तो मैंने उसे भी छोड़ दिया। फिर भी पीछे मुझे यह जानकर संतोष हुआ कि यद्यपि महात्माजी ने स्वीकृत प्रस्ताव को बहुत पसन्द नहीं किया, तो भी उन्होंने उसमें से भी अपने काम चलाने लायक मसाला निकाल लेना सम्भव समझा। कांग्रेस को ऐसे नाजुक समय में विभक्त न होने देने का मेरा निश्चय भी उनको नापसन्द नहीं हुआ।

अब जाहिर हो गया कि गवर्नमेंट के साथ मतभेद हो जायगा और युद्ध के जमाने में गवर्नमेंट किसी प्रकार के सक्रिय आन्दोलन—अर्थात् विरोधी कार्य—को बरदाश्त न कर सकेगी। पर अभी तक यह साफ नहीं था कि महात्माजी जो करना चाहेंगे—अर्थात् ब्रिटिश-गवर्नमेंट तथा देश पर आक्रमण करनेवालों का विरोध एक साथ ही करने के लिए जो कार्यक्रम देश को बतायेंगे—वह कांग्रेस के लोगों को कहाँ तक पसन्द आयेगा। कार्यक्रम चाहे जो हो और दूसरे लोग चाहे जो करें, हमने तो निश्चय कर लिया कि अब समय आ गया है कि हम सबको महात्माजी के पीछे चलकर देश को अंग्रेजी राज्य और बाहरी आक्रमण से बचाने के लिए जो कुछ किया जा सकता है, करना चाहिए।

कार्यक्रम कोई निर्धारित नहीं था, पर मैंने जनता में जागृति लाने के लिए अपने सूबे (बिहार) का दौरा आरम्भ कर दिया। बड़ी तेजी के साथ सूबे के बहुत हिस्सों में गया। खूब जोरों से महात्माजी के विचारों को दूर-दूर तक के लोगों के पास पहुँचाया तथा लोगों को आनेवाले संघर्ष-संकट से डटकर मुकाबला करने के लिए तैयार हो जाने को प्रोत्साहित किया। मुझे जहाँ तक स्मरण है, मैंने जितने जोरदार और जबरदस्त भाषण इस दौरे में किये, अपने जीवन में पहले कभी नहीं किये थे। प्रयाग की बैठक के बाद मैं महात्माजी से जाकर मिला था। उनके द्वारा ही अनुप्राणित होकर मैं दौरे पर निकला था। मैं समझ गया था, और महात्माजी ने भी ऐसा कहा था, कि यह उनके जीवन

का अन्तिम संघर्ष होगा। उस वक्त तक मैंने कभी अपने किसी भाषण में ऐसा नहीं कहा था कि लोगों को मरने के लिए भी तैयार होना चाहिए। मैं बराबर यही कहा करता था कि देश के लिए मरने का समय अभी नहीं आया है, उसकी माँग यही है कि लोग अपने जीवन का प्रत्येक क्षण उसकी सेवा में लगाने के लिए तैयार रहें। मैं इतना ही कहना काफी समझता था—यद्यपि सत्याग्रह में बहुत लोगों ने अपनी जान देने की बात खुलकर जोरों से कही थी कि समय आ गया है जब हमको मरने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। उस वक्त मेरी यह धारणा थी और ऐसा मैं समझता भी था कि इस समय यदि हम चुके तो फिर न मालूम कब तक हम गिरे रह जायँगे।

तैंतीसवाँ अध्याय

थोड़े दिनों के बाद अखिलभारतीय कमिटी की बैठक बम्बई में हुई। ८ अगस्त (१९४२) को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। यह कांग्रेस के लिए और भारतवासियों के लिए चुनौती थी। महात्माजी ने अपने भाषण को 'करो या मरो' मंत्र के साथ समाप्त किया था। रात समाप्त होने के पहले ही महात्माजी तथा वर्किङ्ग-कमिटी के दूसरे सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये। फौरन् वे अज्ञात स्थानों को भेज दिये गये। बहुत दिनों के बाद यह बात खुली कि महात्माजी पूना के पास आगाखाँ-महल में ले जाकर रखे गये हैं, जहाँ वे प्रायः ढाई वर्ष तक रहे। वहाँ पहुँचने के चन्द दिनों के भीतर ही श्री महादेवभाई देसाई का देहान्त हुआ! महात्माजी के छूटने के कुछ दिन पहले श्री कस्तूर बा भी चल बसीं! वर्किङ्ग-कमिटी के सदस्य अहमदनगर के किले में नजरबन्द रखे गये। मैं अस्वस्थता के कारण बम्बई की सभा में शरीक नहीं हो सका था। पर मुझे भी ९ अगस्त के सवेरे, बीमारी की हालत में ही, गिरफ्तार करके पटना-जेल मे रख दिया। वहाँ मैं १५ जून (१९४३) तक रहा। महात्माजी के लेखों से सारे देश में बड़ी जागृति थी। बिहार मे मेरे दौरे ने भी कुछ असर पैदा किया था। पर यह कहना ठीक नहीं है, जैसा पीछे कहा गया, कि तोड़-फोड़ का कार्यक्रम पहले से निश्चित करके लोगों को बता दिया गया था और जनता ने उसी कार्यक्रम के अनुसार रेल की पटरियों को उखाड़ा, रेलवे-स्टेशनों को बेकार कर दिया, तार और टेलीफोन के तारों को काट डाला, स्टीमर के जट्टियों को बहा दिया तथा सड़कों पर गाछों को काटकर इस तरह से डाल दिया कि उनपर किसी सवारी का आना-जाना असम्भव हो गया।

सन् १९३० के सत्याग्रह के दिनों में यह चर्चा चली थी कि तार काट दिये जायँ जिससे गवर्नमेंट की खबर जल्दी-से-जल्दी एक स्थान से दूसरे स्थान तक न पहुँच सके। सत्याग्रहियों के लिए तो तार काम आते ही नहीं थे। कांग्रेस के कुछ लोगों का विचार था कि लोहा-लकड़ी तो बेजान चीज है, उसको तोड़ने-काटने में तो कोई हिंसा की बात नहीं आती। पर सब बातों पर विचार करके यह कार्यक्रम नामंजूर कर दिया गया था। महात्माजी उस समय दिल्ली में थे। यह निश्चय उनसे बिना पूछे ही कर दिया गया

था। बम्बई की सभा से कुछ पहले वर्धा में कार्यकारिणी की बैठक हुई थी। वहीं पर बम्बई में सभा बुलाने का निश्चय किया गया था। इन्ही दिनों, जब वर्किङ्ग-कमिटी का काम खत्म करके बहुतेरे लोग जहाँ-तहाँ चले गये थे, मै कुछ दिन अभी वहीं ठहरा रहा। एक दिन किसी ने महात्माजी से यह प्रश्न पूछ दिया कि तार काटना हिंसा है या नहीं। उन्होंने उत्तर दे दिया कि लकड़ी-लोहा काटने में हिंसा या अहिंसा का सवाल नहीं उठता; पर यह काम कौन करता है और किस विचार से करता है और इसका क्या नतीजा होता है, इन बातों पर उस काम का हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक होना निर्भर करता है।

जब मै पटना लौटा तब, और बम्बई-सभा के पहले, प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के सभी लोगों को बुलाया। मैंने इस बात का जिक्र किया था। साथ ही, यह चेतावनी भी दे दी थी कि यह काम महात्माजी की इजाजत के बिना नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे बड़ी दिक्कतें पैदा हो सकती हैं और इसका असर भी बहुत बुरा पड़ सकता है। जब बम्बई जाने का समय आया ता मैंने सोचा कि हो सकता है, वहाँ हम सब गिरफ्तार कर लिये जायँ और लोगों को कोई हिदायत या कार्यक्रम देने का मौका ही न मिले; इसलिए मैंने प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के मंत्री से कहा कि एक कार्यक्रम तैयार कर लेना चाहिए, जिसके अनुसार, अगर लड़ाई छिड़ गई और हममें से कोई कार्यक्रम देनेवाला न रहा तो, काम होता रहेगा। मै बीमार था और स्वयं बहुत लिख नहीं सकता था, इसलिए मैंने बातें सिर्फ बता दी थीं। कार्यक्रम लिखकर मेरे सामने रखा गया। मैंने उसमें जो संशोधन उचित समझा, कर दिया। उसमें एक बात रेल-तार इत्यादि के तोड़ने-काटने के सम्बन्ध मे थी। पर मैंने उसे अपने हाथों काट डाला। मैंने उस परचा को छपवाकर रखने का आदेश दिया। मैं आशा कर रहा था कि मैं बम्बई जा सकूँगा ; पर जब नहीं जा सका तब मैंने आदेश दे दिया कि वह परचा अभी न छापा जाय, बम्बई के फैसले का इंतजार किया जाय। मैं समझता था कि वह अभी नहीं छापा गया है, पर बात ऐसी नही थी। वह छपवाकर तैयार रखा गया था। जब ९ अगस्त को हमारी गिरफ्तारी के लिए लोग आ गये तो मैंने सोचा, अब समय आ गया है कि परचा छपवाकर बटवाया जाय, नहीं तो जनता यह नहीं समझ पायेगी कि उसे क्या करना चाहिए। पर मुझे मालूम हुआ कि परचा छपकर तैयार है। जेल जाने के पहले ही मैंने आदेश दे दिया था कि वह तुरन्त सारे प्रान्त में बटवाया जाय। मेरे जेल चले जाने के बाद यह मालूम हुआ कि वह बाँटा गया। बहुत करके उसीके अनुसार लोगों ने काम किया भी। पर उसमें, जैसा ऊपर कहा गया है, रेल और तार तोड़ने-काटने की बात नहीं थी। यह काम बिहार में बहुत जोरों से हुआ। जेल में मै सोचा करता था कि यह विचार क्यों और कैसे फैला। पर इसका कारण जल्द ही मालूम हो गया। गवर्नमेंट का यह कहना कि कांग्रेस की ओर से यह कार्यक्रम दे दिया गया था, कम-से-कम बिहार के लिए, जहाँ सबसे अधिक तोड़-फोड़ हुआ, बिल्कुल बेबुनियाद है। फिर भी कहता हूँ कि मैंने सेवाग्राम में हुई बातों का जिक्र कर दिया था, पर साथ ही, चेतावनी भी दे दी थी। छपे परचे में, जो मेरी गिरफ्तारी के दिन ही

बिहार के कोने-कोने में पहुँच गया, इनका कोई जिक्र ही नहीं था। पर इस कार्यक्रम के चलाने में गवर्नमेंट का ही विशेष हाथ था ! ८ अगस्त की रात को ही, महात्मा गांधी और वर्किङ्ग-कमिटी के मेम्बरों की गिरफ्तारी के पहले ही, गवर्नमेंट की ओर से एक विज्ञप्ति निकाली गई थी, जिसमें सरकार ने कांग्रेस के कार्यक्रम का जिक्र किया था और गिरफ्तारियों को इसी कार्यक्रम के कारण जरूरी और मुनासिब बताया था ! गवर्नमेंट की ही विज्ञप्ति में प्रकाशित कार्यक्रम में रेल-तार इत्यादि का तोड़ना भी एक कार्यक्रम बतलाया गया था !

यह विज्ञप्ति, ९ अगस्त के सवेरे ही, सारे देश के पत्रों में छप गई थी। मैं उसी विज्ञप्ति को पढ़ रहा था जब मेरी गिरफ्तारी के लिए डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट पहुँच गये ! उसी दिन, या एक दिन के बाद, भारत-सचिव मिस्टर एमरी ने इंगलैंड मे वक्तव्य निकाला। उसमें भी इसका जिक्र था ! वह भी भारत में प्रकाशित हुआ। मेरा विश्वास है कि जनता ने गवर्नमेंट की विज्ञप्ति से ही यह जाना कि कांग्रेस के कार्यक्रम में यह सब दाखिल है। और, जब कोई कांग्रेस के प्रमुख व्यक्ति इसे रोकने के लिए बाहर नहीं रह गये, तो लोगों ने अपना धर्म समझा कि जहाँ तक हो सके, यह कार्यक्रम पूरा किया ही जाय। बिहार के सम्बन्ध मे मैं कह सकता हूँ कि लोगों की ऐसी ही धारणा हुई; क्योंकि मुझे दो बातें जेल मे मालूम हुईं, जिनसे इस बात की पुष्टि हुई।

मेरी गिरफ्तारी के थोड़ी ही देर बाद एक दूसरे मित्र गिरफ्तार होकर आये, जिन्होंने मुझसे एक बात कही, जिसका उल्लेख यहाँ ठीक होगा। मेरे गिरफ्तार हो जाने के बाद कुछ युवक उनके पास पहुँचे। उन्होंने उनसे पूछा कि मैं अपनी गिरफ्तारी के पहले कुछ कार्यक्रम उनको बता गया हूँ या नही। उन्होंने उत्तर दिया कि मेरे साथ कई दिनों से उनकी मुलाकात नहीं हुई थी, इसलिए यह नहीं कह सकते कि मैंने कोई कार्यक्रम दिया है या नहीं। इसपर उन युवकों में से एक ने गवर्नमेंट की विज्ञप्ति को, जो समाचार-पत्रों में छपी थी, उन्हें दिखलाया और कहा कि कांग्रेस का कार्यक्रम तो छप गया है। उन्होंने उत्तर दिया कि मुझको तो मालूम नहीं, पर जब गवर्नमेंट खुद कांग्रेस का कार्यक्रम बताती है, तो सबको उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए ! इससे मेरी धारणा हो गई कि अब यह कार्यक्रम चलेगा। मेरी वह धारणा एक घटना से दूसरे ही दिन पुष्ट हो गई। पटना में लोगों ने तार और टेलीफोन जहाँ-तहाँ तोड़ डाले। यहाँ तक कि अब जेल से किसी गवर्नमेंट-दफ्तर में या किसी अधिकारी के पास टेलीफोन द्वारा खबर नहीं दी जा सकती थी। सारे शहर में बहुत धूम थी। जुलूस बनाकर लोग सेक्रेटेरियट तक गये। वहाँ एक-दो युवक किसी तरह छिपकर छत पर जा पहुँचे। ऊपर ही राष्ट्रीय झंडा फहरा दिया। कचहरियाँ बन्द हो गईं। रास्ते पर गाड़ियों का चलना कठिन हो गया। सेक्रेटेरियट के सामने गोली चली। कई युवक आहत हुए। बहुतेरे गिरफ्तार करके पटना-जेल में ही लाये गये। जेल में इतने आदमियों के लिए जगह नहीं थी। इसलिए लोग वहाँ चारों तरफ अहाते के अन्दर घूमते-फिरते रहे। वे जेल के दोमहले कोठे पर चढ़कर, जो सड़क के किनारे की ओर है, सड़क पर चलते हुए लोगों को प्रोत्साहित भी करते रहे।

जेल के अधिकारियों ने आकर हमलोगों से कहा कि हम अगर उनको नहीं सँभालेंगे तो मुमकिन है कि दूसरे बड़े अफसर आकर सख्ती करें और ये लोग, जिनमें प्रायः सभी विद्यार्थी हैं, गोलियों के शिकार बनें।

इस समय तक बिहार के प्रमुख कांग्रेसी लोगों मे से बहुतेरे पटना-जेल मे पहुँच चुके थे। उनलोगों ने भी लड़कों की रोक-थाम करने की कोशिश की। वे जब उनके नजदीक आ जाते थे तब उनकी बात मान लेते थे; पर आँखों से ओझल होते ही फिर अपना काम शुरू कर देते थे। जो बातें वे विशेषकर सड़क पर चलती जनता को चिल्ला-चिल्ला कर सुनाते थे उनमे विशेषकर रेल-तार इत्यादि तोड़ने-फोड़ने की बात ही रहा करती थी। अन्त मे, जेल के अधिकारियों ने ऐसे चालीस-पचास लड़कों को लारी में चढ़ाकर कैम्प-जेल मे, जो पटना मे ही उस जेल से दो-ढाई मील की दूरी पर है, भेज देने का निश्चय किया। दो लारियो पर कुछ लड़के सवार कराये गये। लारियाँ चल पड़ीं। बाकी लड़के अभी जेल के अन्दर ही थे, लारी तक नही पहुँचे थे। इतने में जनता की भीड़, जो जेल के नजदीक पहले से ही जुटी खड़ी थी, टूट पड़ी। लारियों मे से उन लड़को को उतार लिया और लारियो मे आग लगा दी, जो जेल के सामने ही जल गईं! कुछ लड़के उसी भीड़ में मिल गये और भीड़ के साथ ही बाहर चले गये! पर दो-एक जेल मे भी वापस आ गये। अब और गवर्नमेंट की ओर से तैयारी होने लगी। फौज और पुलिस को बड़ी तायदाद में बुलाकर दूसरी लारियों में बाकी लोगों को ले जाने का प्रबन्ध किया जाने लगा। मै तो बहुत बीमार था। ज्यादा बातें भी नही कर सकता था। पर तो भी मैंने उन लड़कों को समझाने की कोशिश की कि इस प्रकार लारी जला देना अथवा पुलिस पर हमला करके कैदियों को छुड़ा लेना ठीक नही है। पर यद्यपि वे मेरा बहुत लिहाज करते थे और शान्ति के साथ बातें भी करते रहे, तथापि उनको मै समझा नही सका कि तोड़फोड़ का काम गलत है और अगर इसे करना ही है तो एक तरीके से करना चाहिए। मै मानता हूँ कि सत्याग्रह में छुपकर कोई काम करने की कोई गुंजाइश नही है। सत्याग्रही जो कुछ करता है हमेशा निर्भय होकर करता है, डके की चोट करता है और अपने किये का फल भोगने को तैयार रहता है। इसलिए उसे छुपने-छुपाने की जरूरत नही होती। छुपने-छुपाने का अर्थ है सजा से भागना और जो कुछ किया जाय उसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर दूसरे के सिर थोपना।

इस आन्दोलन मे यह देखा गया कि रेल के आसपास के लोगों पर बड़ी सख्ती की गई। इसका किसी ने पता नहीं लगाया कि किसने रेल-तार तोड़ा है। नतीजा यह हुआ कि बहुत ऐसे लोगों को दमन का शिकार बनना पड़ा जो तोड़-फोड़ में कभी शरीक नही हुए। मैंने यही बात समझाने की कोशिश की और कहा कि अगर करना है तो खुलेआम और हो सके तो सूचना देकर इस तरह का काम करना चाहिए, ऐसा न करने से तो बेकसूर लोग पिस जायँगे। पर उस वक्त तो यह सभी मानते थे कि चाहे जिस तरह से हो, गवर्नमेंट के काम को बन्द कर देना चाहिए। लोगों ने ऐसा ही किया भी। इसलिए, कम-से-कम बिहार में जो तोड़फोड़ का काम इतने बड़े पैमाने पर और इतनी

सफलता के साथ हुआ, उसका श्रेय मैं कांग्रेस को नहीं देता। मैं मानता हूँ कि यह जनता की अपनी सूझ थी। लोगों ने इसमें कोई हिंसा नहीं देखी ; बस इसे जोरों से चला दिया। मैं यह भी मानता हूँ कि इसका श्रेय किसी दूसरे दल के लोगों को भी नहीं मिल सकता है; क्योंकि सभी दलों के प्रमुख लोग इस काम के फैलने के बहुत पहले ही प्रायः सब-के-सब गिरफ्तार कर लिये गये थे। वे कोई संगठन नहीं कर पाये थे। संगठन खुद जनता ने किया। जनता ने ही अपनी बुद्धि के अनुसार, इसे कांग्रेस का कार्यक्रम समझकर, जहाँ तक हो सका, पूरा करने का प्रयत्न किया। कुछ दिनों के बाद, आन्दोलन कुछ धीमा पड़ गया। बाहर बच रहे लोग प्रयत्न करने लगे कि यह काम जारी रहे, पर उनको कोई सफलता नही मिली। इससे यह स्पष्ट है कि जनता का जोश ही इसका एकमात्र कारण था।

बिहार में यह आन्दोलन बहुत जोरों से चला। रेलों का चलना, बड़ी लाइन (ई० आइ० आर०) तथा छोटी लाइन (ओ० टी ०आर०) दोनों में ही, बहुत दिनों तक बन्द रहा। तार इत्यादि तो रुक ही गये थे। बहुतेरे पुलिस-थानो पर जनता ने कब्जा कर लिया था। कई जिलो मे ब्रिटिश राज्य का हुक्म केवल जिले के शहरों तक अथवा सड़कों के उस हिस्से तक ही सीमित रह गया था जहाँ पुलिस अथवा फौज की टोली गुजर रही हो। फौज ने भी बेतहाशा जहाँ लोगों को पाया वही गोलियों का शिकार बनाया ! गाँवों को खूब लूटा और जलाया। लोगों ने भी रेल के मालगुदामों और माल से लदे डब्बो से 'जो लाइनो के टूट जाने की वजह से जहाँ-तहाँ पड़े रहे, काफी माल लूटा। इस लूट में पुलिस का भी हाथ और हिस्सा रहा करता था; क्योंकि यह आसानी से कहा जा सकता था कि लोग लूट ले गये ! फौज ने चारों तरफ फैलकर बड़ी सख्ती से दमन किया। कई हफ्तों के बाद आहिस्ता-आहिस्ता रेल की पटरियाँ भी फिर से बैठाई गईं। तब रेलों का चलना फिर से आरम्भ हुआ। बिहार में गंगा से उत्तर के प्रायः सभी जिलों में, तथा संयुक्तप्रदेश के पूर्वी जिलों में भी, ओ० टी० रेलवे (छोटी लाइन) बहुत करके तहस-नहस हो गई थी। गगा से दक्षिण ई० आइ० आर० (बड़ी लाइन) भी, प्रायः मुगलसराय से (पटना होकर) आसनसोल तक, बहुत जगहों में तोड़-फोड़ दी गई थी। पर ग्रांड-कौड-लाइन, जो मुगलसराय से आसनसोल तक सहसराम-गया होकर जाती है, बहुत अशों मे सुरक्षित रह गई। इसलिए ई० आइ० आर० का काम उतना नही रुका जितना ओ० टी० रेलवे का।

सिर्फ रेल और तार ही नही, लोगों ने स्टीमर का चलना भी एक प्रकार से रोकने का प्रयत्न किया था। गंगा में जहाँ-जहाँ स्टीमरों के ठहरने के लिए जो लोहे की बड़ी-बड़ी नावों के घाट बने थे, जिनको 'जेटी' कहते है, उनको भी लोगों ने नष्ट कर दिया—जेटियों को खोलकर या तो गंगा में डुबो दिया या बहा दिया। कई स्टीमरों के अंदर घुसकर उनके पुर्जों को इस तरह तोड़ डाला कि वे कुछ समय के लिए बेकार हो गये। सड़कों पर बड़े-बड़े दरख्तों को काटकर गिरा दिया, जिससे उनपर किसी सवारी का आना-जाना बन्द हो जाय। मैंने सुना कि पुलों के तोड़ने का भी, चाहे रेल की लाइनों पर हों अथवा

सड़कों पर, प्रयत्न किया गया। पर डानेमाइट न होने के कारण यह हो नहीं सका। यह सब इसलिए लोगों ने किया कि फौज या पुलिस जल्दी सब जगह पहुँच न सके और गवर्नमेंट का शासन बन्द हो जाय। इस तरह, एक प्रकार से अराजकता फैल जाने पर भी यह आश्चर्य की बात हुई कि उन दिनों जनता के घरों मे एक तरह से चोरी-डकैती बन्द-सी हो गई ! अगर रेल या सरकारी दफ्तरों पर जनता की तरफ से लूटपाट की गई तो जनता के घरों पर लूटपाट पुलिस तथा फौज की तरफ की गई ! जहाँ-तहाँ फौज और पुलिस के कुछ आदमी मारे भी गये, पर उनकी संख्या बहुत कम थी। हाँ, जनता में आहतों की संख्या बहुत थी।

इस क्रांति का फल उस समय यह नही देखने को मिला कि ब्रिटिश गवर्नमेंट एकबारगी भारतवर्ष से उठ जायगी। कुछ दिनों के लिए कुछ स्थानों पर, विशेषकर बिहार में, अंग्रेजी राज्य उठ गया था। पर यह बात न तो सर्वव्यापक थी न स्थायी। पीछे चलकर फौज और पुलिस ने स्थिति पर काबू कर लिया। पर यह दो बातें स्पष्ट हो गईं—पहली यह कि जनता अगर एक साथ सभी जगहों पर बिगड़ जाय और अंग्रेजी राज्य के शासन को मानने से इनकार कर दे तो अंग्रेजी राज्य नही चल सकता है और दूसरी यह कि जनता अगर बिगड़ जाय तो गवर्नमेंट की सारी फौज भी उसे दबा नहीं सकती। इस बार अगर लड़ाई के लिए इतनी बड़ी तादाद में फौज बिहार में न होती और उसके पास जापान से लड़ने के लिए इतना सामान मौजूद न होता, तो कम-से-कम बिहार को फिर से फतह करना आसान नही होता और होता भी तो उसमें समय बहुत लगता। पर लड़ाई के कारण अंग्रेजी और अमेरिकन फौज बड़ी तादाद में बिहार में ही मौजूद थी। उसके पास आमद-रफ्त और लड़ाई के लिए काफी सामान मौजूद था, जिसका उसने जनता के इस विद्रोह को दबाने में खूब प्रयोग किया। जनता ने अपनी ओर से चाहे तोड़-फोड़ कितना भी किया; पर उसने मनुष्य के जीवन पर भरसक हमला नहीं किया। चन्द जगहों मे जो कुछ खून हुए वे लोगों के आतुर हो जाने के कारण ही हुए; क्योंकि पुलिस और फौज की तरफ से जुल्म-सख्ती बहुत हो रही थी। बरसात के दिन थे। नदियों में बाढ़ आई हुई थी। फसल खड़ी थी। बरसात में यों ही आना-जाना कठिन हो जाता है, इस वक्त तो उसके साधन भी प्रायः नष्ट कर दिये गये थे। जनता में आत्म-विश्वास जग गया था। हमने यह भी सुना कि फौजवाले भी खेतों के—खास करके ऊख और मकई के खेतों के—पास होकर गुजरने मे डरते थे; क्योकि एक-दो जगहों में ऐसे खेतों में छिपे लोगों ने उनपर हमला कर दिया था। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो गया कि इस बार यद्यपि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने आन्दोलन को दबाने का भरपूर प्रयत्न किया, तो भी वह इस बात को समझ गई कि अब वह भारत को अपने कब्जे में नहीं रख सकेगी, उसे भारत के साथ कुछ-न-कुछ समझौता करना ही होगा। लड़ाई के कारण उसको धन और जन दोनों बहुत खर्च करना पड़ा था। इसलिए संसार की शक्तियों में एक बड़ी शक्ति होते हुए भी वह कमजोर पड़ती जा रही थी; जिससे यह सँभाल और भी कठिन हो गया था और यह कठिनाई दिन-दिन बढ़ती ही जा रही थी। फलस्वरूप वह

भारत को दबाये न रख सकी। ऐसा ही हुआ भी। लड़ाई समाप्त होने के पहले ही मिस्टर चर्चिल ने भी, जिन्होंने लड़ाई जीतने में अपना साहस दिखलाया था और जो भारतवर्ष को स्वराज्य देने का बराबर कट्टर विरोध करते आये थे, लार्ड वेवल को वायसराय बनाकर यहाँ भेजा और उनको आज्ञा दी कि कांग्रेसियों के साथ कोई समझौता वह कर ले।

चौंतीसवाँ अध्याय

कुछ दिनों तक स्थिति का अध्ययन करने के बाद लार्ड वेवल ने, १९४५ के जून में, कांग्रेस-वर्किङ्ग-कमिटी के सभा सदस्यों को छोड़ दिया। गाधीजी कुछ पहले ही छोड़ दिये जा चुके थे। एक कान्फरेस सिमला मे १९४५ में बुलाई गई। उसमें सभी प्रान्तों के प्रधान मंत्री, जो उस समय तक काम कर चुके थे और जो उस समय काम कर रहे थे अथवा जिन्होंने लड़ाई आरम्भ होने पर कांग्रेस की आज्ञा से पदत्याग किया था, बुलाये गये। महात्माजी तथा मिस्टर जिन्ना भी निमंत्रित थे। इनके अलावा केन्द्रीय धारा-सभा के भिन्न-भिन्न दलों के नेता लोग भी बुलाये गये थे। कान्फरेन्स १४ जुलाई (१९४५) को हुई। लार्ड वेवल ने विज्ञप्ति निकाल दी थी कि वे ब्रिटिश सरकार की अनुमति से यह सम्मेलन कर रहे हैं और कांग्रेस-वर्किङ्ग-कमिटी के सदस्यों तथा प्रान्तों के दूसरे नेताओं को छोड़ने का हुक्म दे रहे हैं। ब्रिटिश सरकार का यह प्रस्ताव था कि वायसराय की कौसिल में, जिसमें अबतक अधिक अंग्रेज ही हुआ करते थे और मुख्य विभाग—जैसे अर्थ-विभाग और गृह-विभाग तथा सेना-विभाग—अंग्रेज मेम्बरों के ही हाथों मे रहा करते थे, अब दो को छोड़कर, अर्थात् स्वयं वायसराय और प्रधान सेनापति के अलावा, और सभी मेम्बर हिन्दुस्तानी ही होंगे; कौसिल के सदस्यों के अधिकारों में कोई फर्क नही पड़ेगा, वे अधिकार वही रहेंगें जो १९३५ के विधान के अनुसार उनको दिये गये थे। लार्ड वेवल ने अपने वक्तव्यों में इसको और साफ कर दिया कि इस योजना के अनुसार पहले-पहल अर्थ-विभाग, गृह-विभाग और विदेशों से सम्बन्ध रखनेवाला विभाग हिन्दुस्तानियों के हाथ में आवेगे। उन्होंने यह भी बता दिया था कि उनके विचार से इस कौंसिल में हरिजन छोड़कर दूसरे हिन्दू तथा मुसलमान बराबर संख्या में होंगे। उन्होंने आशा प्रकट की थी कि इसपर यदि यह कान्फरेन्स सफल हो गई और कौसिल भी बन गई, तो भविष्य का विधान कैसे बनेगा—इसपर भी विचार किया जा सकेगा। मुस्लिम लीग के कारण कान्फरेन्स किसी एक मत पर नहीं पहुँच सकी! तब लार्ड वेवल ने सभी दलों से अनुरोध किया कि वे ऐसे लोगों के नाम दे दें जिनका वे कौसिल में आना मुनासिब समझते हैं और उन नामों में से वे स्वयं ही सदस्यों के नाम चुन लेंगे।

पर मुस्लिम-लीग ने ऐसी नामावली देने से भी इनकार कर दिया। बस कान्फरेंस बिना कुछ किये ही समाप्त हो गई ! पर लार्ड वेवल ने कान्फरेंस की समाप्ति पर भी आशा नहीं छोड़ी। उन्होंने कहा कि फिर समय पाकर यह प्रयत्न किया जायगा, तबतक जैसे काम चलता था वैसे चलता रहेगा।

यद्यपि १९४२ में, और उसके बाद भी, गवर्नमेंट की तरफ से दमन-नीति का प्रयोग कांग्रेस के विरुद्ध बराबर होता रहा तथापि जब लार्ड वेवल ने यह कान्फरेंस बुलाई और वर्किङ्ग-कमिटी के मेम्बरों को जेल स मुक्त कर दिया, तब से महात्माजी के दिल में ऐसी भावना बन गई कि ब्रिटिश गवर्नमेंट सचमुच भारत के साथ कुछ-न-कुछ समझौता करना चाहती है। यही भावना कांग्रेस के बहुतेरे दूसरे लोगों के दिल में भी थी। यद्यपि ऐसे लोग भी थे जो कांग्रेस का इस कान्फरेन्स मे शरीक होना अथवा इसके बाद जितनी कार्र-वाई होती गई उसको नापसन्द ही करते गये, तथापि महात्माजी और कांग्रेस-कार्यकारिणी का यह प्रयत्न सदा बना रहा कि यदि हो सके तो समझौता होना चाहिए। इस भावना का एक कारण यह भी था कि लड़ाई प्रायः समाप्ति पर आ चुकी थी। जर्मनी और इटली परास्त हो चुके थे। जापान भी लड़ रहा था, पर वह भी हारता ही जा रहा था; जिस भूभाग को उसने कब्जे में कर लिया था उससे आहिस्ता-आहिस्ता हटाया जा रहा था। १९४२ का आन्दोलन ऐसे समय में आरम्भ हुआ था जब जर्मनी और जापान जीतते जा रहे थ। उस समय तक अंग्रेज हार रहे थे। अब, जब वे प्रायः विजयी हो चुके थे, सम-झौता करने का उन्होंने प्रस्ताव किया, तो सचमुच वे समझौता चाहते होंगे, यह भावना सच निकली; क्योंकि अंत में भारत स्वतन्त्र होकर रहा !

उक्त कान्फरेस समाप्त होने के थोड़ दिन बाद इङ्गलैंड में नया चुनाव हुआ। मि० चर्चिल का दल हार गया। मजदूर-दल का मंत्रिमंडल बन गया। मजदूर-दल ने पहले से ही वचन दिया था कि वह भारत को स्वतन्त्र बनायेगा। इसे वह भूला नही था। थोड़े हा दिनों बाद उसने मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों को भारत से बातचीत और कुछ समझौता करने के लिए भेजा। यहाँ उन सब लोगों के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक लिखने की जरूरत नहीं है। उनलोगों ने यहाँ कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के साथ बातचीत की। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि भारत का विधान बनाने के लिए विधान-परिषद् बनाई जाय, जो भारत का विधान तयार करे। साथ ही, तबतक यहाँ का शासन चलाने के लिए मंत्रिमंडल बनाया जाय, जिसमें कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधि रहे। बहुत वाद-विवाद के बाद ऐसा मन्त्रिमंडल बन सका। पहले इसमें लीग के लोग शरीक नहीं हुए, पर पीछे वे भी आ गये। मुस्लिम-लीग इस पर तुली हुई थी कि पाकिस्तान की स्थापना हो जाय और वह भारत-जैसा ही स्वतन्त्र देश हो। इसके लिए मुसलमानों में बहुत जबरदस्त और जहरीला प्रचार होता रहा, जिसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस के मंत्रि-पद-ग्रहण करने के चन्द दिन पहले ही कलकत्ता में मुसलमानों ने बड़ा भारी बलवा कर दिया, जिसमें बहुत हिन्दू मारे गये, उनके घर और धन लूटे गये, उनकी बड़ी बरबादी हुई। बंगाल में उस समय लीगी गवर्नमेंट थी, इसलिए उसकी तरफ से हिन्दुओं को कोई सहायता नहीं

पहुँची। अन्त में हिन्दुओं ने भा अपना स्वतन्त्र संगठन बना लिया। अपने बचाव के लिए वे तत्पर और तैयार हो गये। फलत: बहुत मुसलमान भी मारे गये। कई दिनों तक यह खूनखराबा चलता रहा। चन्द दिनों के बाद पूर्व-बंगाल मे, जहाँ मुसलमानों की बहुत बड़ी आबादी है, नोआखली और आसपास के स्थानों मे, बड़े जोरों से और बहुत बड़े पैमाने पर बलवा शुरू हो गया। उसमें बहुत हिन्दुओं के घर लूटे और जलाये गये। बहुतेरे हिन्दू जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये! महात्माजी ने जब इन सब घटनाओं की खबर पाई तो उन्होंने बंगाल जाने का निश्चय किया ताकि वह हिन्दुओं को सान्त्वना दे सके और मुसलमानों को समझा सकें। वह नोआखाली गये। वहाँ जाना उनके लिए खतरे से खाली नहीं था, पर उन्होंने अपने प्राणों की परवा न करते हुए वहाँ जाना ही उचित समझा। नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं में हिम्मत आ गई। मुसलमान भी उनका वहाँ जाना पहले शुबहा की निगाह से देखते थे। पर आहिस्ता-आहिस्ता वे लोग उनकी ओर झुकने लगे। यह अहिसा के उन चमत्कारों मे था जो आगे चलकर कुछ और ही देखने में आये।

बंगाल मे बिहार के बहुत लोग जाया करते हैं। वहाँ मेहनत करके कुछ पैसे कमाया करते है। उनमे पढ़े-लिखे बहुत थोड़े ही हुआ करते हैं। वे छोटी-मोटी नौकरियों से संतुष्ट हो जाया करते है। उनकी संख्या कलकत्ता में बहुत बड़ी है। सारे बगाल में, जिसमे अब पूर्वी बंगाल भी शामिल है, बिहार के आदमी गाँव-गाँव में फैले हुए मिलते है। कलकत्ता के हत्याकाण्ड मे बहुतेरे बिहारी भी आहत हुए। बहुतेरे भागकर अपनी जान बचाने के लिए अपने प्रांत के गाँव में वापस चले आये। उनके साथ जो जुल्म और ज्यादतियाँ हुई थी, कलकत्ता मे मुसलमानों की ओर से हिन्दुओं के साथ जो बर्ताव किया गया था, सबकी खबर उन्होंने बिहार के गाँवों मे फैला दी। नतीजा यह हुआ कि बिहार मे मुसलमानों के प्रति बड़ा रोष पैदा हुआ। एक मौका पाकर वहाँ भी बड़े जोरों से बलवा-फसाद शुरू हो गया। बंगाल की परिस्थिति बिहार की परिस्थिति से बिल्कुल प्रतिकूल है। बिहार में हिन्दुओं की जनसंख्या बहुत है। यद्यपि मुसलमान भी संगठित और धनी है तथापि हिन्दुओं की बड़ी संख्या के सामने, अगर वे संगठित हों तो भी, उनका ठहरना असम्भव नही तो बहुत मुश्किल जरूर हो जाता है। उनकी बस्तियाँ भी बहुत करके अलग हो गई है। पर तो भी सभी जगहों में हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के पड़ोस म बसे हुए है।

कलकत्ता और नोआखाली की खबरों ने बारूद में चिनगारी का काम किया; क्योंकि मुस्लिम लीग के ऊधम और बे-लगाम प्रचार से लोग पहले से ही ऊबे हुए थे। पटना, मुगेर, और गया जिलों के कुछ हिस्सों में हिन्दुओं ने मुसलमानो से पूरा बदला चुकाने का ठान लिया। बहुतेरे मुसलमान मारे गये। उनके घर और धन लूटे गये। बंगाल और बिहार के बलवे में एक बड़ा अन्तर यह था कि बंगाल में सरकारी कर्मचारी और पुलिस के लोग प्राय: तटस्थ होकर बैठे रहे—हिन्दुओं को खूब लुटने-पिटने दिया: पर बिहार में गवर्नमेंट और पुलिस ने बडी तनदेही के साथ बलवाइयों

को रोकने का प्रयत्न किया और फौज को भी इस काम में लगा दिया। हमलोग भारत-सरकार में काम कर रहे थे। पंडित जवाहरलालजी, सरदार वल्लभभाई, कांग्रेस के प्रधान कृपालानीजी, मुस्लिम लीग के केन्द्रीय मंत्री तथा मैं—सब-के-सब दौड़कर बिहार पहुँचकर फसाद रोकने में बड़ी तत्परता से लग गये। उधर महात्माजी ने बिहार के बलवे की खबर पाते ही बिहारियों के नाम अपील निकाला और यह धमकी दे दी कि बलवा अगर न रुका तो उनको अनशन करना पड़ेगा। उन्होंने अनशन की तैयारी अपना भोजन कम करके बता दी। उनके अनशन की बात सुनते ही बिहार घबरा उठा। बलवा-फसाद रुक गया। बिहार के साथ महात्माजी का जो पुराना सम्बन्ध था और बिहार पर उनका जो विश्वास तथा भरोसा रहा करता था उसीके बल पर उन्होंने अनशन की धमकी दी थी। बिहार की जनता ने उनकी बात सुनी। बलवा ठंढा पड़ गया। बंगाल में भी जो कुछ अन्देशा बलवा फैलने का रह गया था वह उस वक्त तक के लिए समाप्त हो गया।

पर इतने से ही सब झगड़े तय नहीं हुए। मुस्लिम लीग पाकिस्तान लेने पर तुली हुई थी। इसके लिए सभी जगहों पर बलवा-फसाद होने की सम्भावना हमेशा सामने खड़ी रहती थी। कुछ दिनों के बाद पश्चिम पंजाब और सीमाप्रान्त में भी बहुत बड़े पैमाने पर बलवे शुरू हो गये। सिक्ख और हिन्दू मारे-पीटे-लूटे जाने लगे। उनकी एक बहुत बड़ी संख्या, १९४७ के मार्च-अप्रैल में, जान बचाने के लिए, अपनी सब धन-दौलत वहीं छोड़कर हिन्दुस्तान भाग आई। इस तरह झगड़े कहीं-न-कहीं अक्सर होते ही रहे।

पैंतीसवाँ अध्याय

केन्द्रीय भारत-सरकार में भी कांग्रेस और लीग के मंत्रिमंडल का मिलजुलकर काम करना असम्भव था। वहाँ भी बराबर खटपट हुआ ही करती थी। ब्रिटिश गवर्नमेंट भी इस स्थिति से संतुष्ट नहीं थी। उसने लार्ड वेवल को वापस बुला लिया, उनके स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन को वायसराय बनाकर भेज दिया। लार्ड माउण्टबेटन भारत आते ही स्थिति का अध्ययन करने लग गये। थोड़े ही दिनों में फिर सलाह देने के वास्ते वह लंदन लौटे। ब्रिटिश गवर्नमेंट ने उनकी नियुक्ति के समय ही यह घोषणा कर दी थी कि १९४८ के जून तक वह सारा अधिकार भारत को सौंप देगी। वायसराय के भारत लौटने पर उसने एक और घोषणा निकाली, जिसमें उसने अपना यह निश्चय प्रगट किया कि १९४८ तक न ठहर कर १९४७ में ही भारत का शासन भारतीयों के हाथों में सुपुर्द करके वह अलग हो जायगी। इसके साथ उसने यह भी घोषणा की कि भारत के दो भाग कर दिये जायँगे—एक वह जिसमें सिन्ध, बलुचिस्तान, सीमाप्रान्त और पंजाब के वे हिस्से रहेंगे जिनमें मुसलमानों की आबादी अधिक है तथा दूसरा वह जिसमें बंगाल का पूर्वी हिस्सा और आसाम के सिलहट-जिले का वह हिस्सा जहाँ मुसलमानों की कसरत है; इस तरह पाकिस्तान बनेगा और बाकी सब हिन्दुस्तान रह जायगा; दोनों ही स्वतंत्र उपनिवेश बन जायँगे; दोनों की अलग-अलग विधान-परिषदें होंगी, जिनमें उन विभागों के रहने-वाले सदस्य होंगे; इन विधान-परिषदों को अधिकार होगा कि जैसा चाहें वैसा अपने लिए विधान बना लें। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक कानून भी इंडियन-इण्डिपेंडेन्स-ऐक्ट के नाम से पास किया, जिसके अनुसार भारत के ये दोनों खण्ड अलग और स्वतंत्र उपनिवेश मान लिये गये। दोनों की परिषदों को स्वेच्छानुसार विधान-निर्माण का पूर्ण अधिकार दे दिया गया। यह भी अधिकार दिया गया कि उस वक्त तक जो कानून जारी है, चाहे वे पार्लियामेंट के बनाये हों अथवा भारतीय धारासभाओं के, और चाहे जैसे भी हों, उनमें संशोधन कर लें। विधान-परिषदों को यह भी अधिकार दिया कि वे चाहें तो ब्रिटिश साम्राज्य से अपने-अपने मुल्क को, पूर्ण स्वतंत्र होकर भी, अलग कर ले सकते है। जिस समय लार्ड माउण्टबेटन लंदन वापस गये, इस बटवारे के

लिए कांग्रेस और लीग की सहमति लेते गये थे। उसी के अनुसार ब्रिटिश गवर्नमेंट ने बटवारा मंजूर कर लिया !

यहाँ पर यह कह देना जरूरी है कि इस बटवारे की जिम्मेदारी कांग्रेस की वर्किङ्ग-कमिटी ने, और विशेषकर उन लोगों ने जो उस समय भारत-सरकार के मंत्रि-पद पर नियुक्त थे, अपने ऊपर ला। महात्माजी ने न तो इस बटवारे को ठीक समझा और न उस सिद्धांत को माना जिसके बल पर मुस्लिम लीग बटवारा चाहती थी। मुस्लिम लीग का यह दावा था कि हिन्दू और मुसलमान बिल्कुल दो राष्ट्र हैं, इसलिए वे कभी एक सरकार के मातहत नहीं रह सकते हैं; मुसलमानों को पूर्ण स्वतंत्र रूप से उन इलाकों में शासन का अधिकार होना चाहिए जहाँ वे बहुसंख्यक है और हिन्दुओं को उन इलाकों में जहाँ उनका आबादी ज्यादा है। महात्माजी इस 'दो राष्ट्र' की नीति को घातक समझते थे, इसलिए इसको नही मानते थे। पर जिन लोगों ने बटवारा मंजूर किया वे उस समय की परिस्थिति से ऊब गये थे। वे देखते थे कि बलवा-फसाद होते ही जाते हैं और होते ही रहेंगे—सरकार, जिसमे कांग्रेसी लोग भी थे, कुछ कर नही पाती; क्योंकि मुस्लिम लीग के मंत्री सभी जगहों में अड़ंगे लगाते रहते हैं और जो विभाग उनके सुपुर्द थे उनमे वे अपनी मनमानी करके उन्हे अपने हाथों मे करते जा रहे थे, चाहे इससे सारे देश का नुकसान भी हो, तो भी उसकी परवा न करके अपने दल को मजबूत करते और जहाँ मौका होता वहाँ हिन्दुओं को दबाते। इन सब बातों के कारण एक प्रकार से शासन चलाना असम्भव-सा होता जा रहा था। हमने सोचा कि बटवारा हो जाने से कम-से-कम जिन हिस्सों में हमारा अधिकार रहेगा उनमे हम जैसा चाहेंगे वैसा शासन चला सकेंगे और इस तरह भारत के बहुत बड़े हिस्से को सुरक्षित तथा सुसंगठित रख सकेंगे जिससे भारत-राष्ट्र की पूर्णरूपेण सेवा हो सकेगी। यह साफ था कि इस बटवारे से हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल नहीं हो रही थी; क्योंकि दोनों भागों में अल्पसंख्यक जातियाँ रह ही जाती थी और जो कुछ उनके लिए किया जा सकता था वही सारे भारत के लिए भी किया जा सकता था। पर यह बात चल नही सकी, मजबूर होकर बटवारा मानना ही पड़ा।

महात्माजी को डर था कि इस बटवारे का नतीजा अच्छा नही होगा; जो हिन्दू और सिक्ख करोड़ों की संख्या में पाकिस्तान में रह जायेंगे और जो मुसलमान करोड़ो की सख्या में भारत मे रह जायेंगे—उनके साथ न मालूम कैसा व्यवहार होगा, इसलिए वह अन्त तक बटवारा को नापसन्द करते रहे, पर जब उन्होंने यह देख लिया कि जिन लोगों को शासन चलाने का भार सौपा गया है वे ही जब यह महसूस करते हैं कि या तो अब खुलकर लीग के साथ युद्ध हो या बटवारा हो, तब उन्होंने चुप रहना ही मुनासिब समझा, और बटवारे मे किसी प्रकार की बाधा नही डाली। जिन दिनों दिल्ली में बटवारा हो रहा था—यानी गवर्नमेंट की सभी चीजों का बटवारा भारत-सरकार के कांग्रेसी और लीगी सदस्य आपस में मिलकर कर रहे थे—उन दिनों महात्माजी दिल्ली में ही थे। एक बटवारा-कमिटी मुकर्रर कर दी थी, जिसमे सरदार वल्लभ भाई पटेल

और मैं कांग्रेस की ओर से थे। एक-एक विषय लेकर—जैसे भारत-सरकार के लिये या दिये हुए कर्जे, रोकड़ में कोई रुपये, सामान, फौज, फौजी सामान, इमारतें, इमारतों के सामान, रेल इत्यादि, यहाँ तक कि टेबिल, कुर्सी, टाइपराइटर तथा कर्मचारियों का बटवारा भी इसी कमिटी न किया।

मैं जब इस कमिटी मे काम कर रहा था, प्रतिदिन महात्माजी से सवेरे टहलने के समय मिला करता था। उन्होंने ही कहा था कि रोज आ जाया करो। इसलिए मुझे मौका मिलता था कि कमिटी में जो बातें होतीं उनको मैं प्रतिदिन सवेरे उन्हें बता दिया करता। मैं देखता था कि इन सब बातों से वह असन्तुष्ट थे, पर साथ ही कोई वाधा नहीं डालना चाहते थे; कहा करते थे कि देखो, जहाँतक हो सके, अनिष्ट को तो बचा लो। कर्मचारियों को आज्ञा दी गई थी कि वे अपनी सेवा चाहे भारत-सरकार को या पाकिस्तान को, जिस सरकार को चाहे, दे सकते हैं। यही बात फौज के साथ थी। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रायः सभी मुसलमान कर्मचारियो ने पाकिस्तान की सेवा पसंद की और दूसरों ने भारत की। इसी सिद्धान्त पर बहुत करके फौज का भी बटवारा हो गया। पर यह बटवारा भारत-सरकार ने अपने कर्मचारियों के सम्बन्ध में किया। प्रान्तीय सरकारों ने भी, जिन-जिन प्रान्तों का बटवारा हुआ उन प्रान्तों ने—जैसे पंजाब, बंगाल और आसाम ने—अपने माल, सामान तथा कर्मचारियों का इसी तरीके से बटवारा किया। पर जो सूबे बटवारे से अछूते रह गये उनमें न तो माल या सामान में किसी प्रकार का बटवारा हुआ और न कर्मचारियों में। बटवारे का काम बड़ी तेजी के साथ पूरा किया गया। १५ अगस्त (१९४७) के पहले यह काम समाप्त हो गया—यद्यपि अभी फौज का बटवारा पूरा नहीं हो सका था। इसका नतीजा एक यह भी हुआ कि फौज के सिवा और सभी जगहों से हटकर अंग्रेज कर्मचारी बहुत करके भारत से चले गये, उनमे से बहुत थोड़े ही रह गये। किन्तु पाकिस्तान में, भारत के अनुपात में, उनकी संख्या अधिक रह गई। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेज कर्मचारियों में अधिकांश ऐसे थे जिनकी सहानुभूति मुसलिम-लीग तथा पाकिस्तान के साथ थी! फौज का बटवारा होने पर भी अंग्रेज अफसर, पाकिस्तान के मुकाबले, भारत मे बहुत कम रह गये। इस प्रकार कर्मचारियों के बटवारे का एक भयंकर फल यह हुआ कि पाकिस्तान मे हिन्दू उच्च पदाधिकारी कर्मचारी नहो के बराबर रह गये। वहाँ हिन्दुओ और सिक्खों के साथ अत्याचार होने लगा। वहाँ उनकी बात पूछनेवाला भी कोई नहीं रह गया!

दिल्ली मे बैठे-बैठे बटवारा का काम शान्ति के साथ समाप्त हुआ। उसी तरह लाहौर और कलकत्ता में भी। १५ अगस्त के पहले ही पश्चिम बगाल और पूरबी पजाब का शासन कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने अपने हाथ मे लिया। पाकिस्तान के सूबों में लीगी और हिन्दुस्तान के सूबों मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल, जो जहाँ पहले से काम कर रहे थे, शासन चलाते रहे। पूर्व और पश्चिम पजाब की तथा पश्चिम और पूर्व बंगाल की तथा आसाम की सरहदे मिली हुई थीं। कहाँ पर ठीक भारत और पाकिस्तान की सीमा पड़ती है, यह बहुत-कुछ साफ होने पर भी कुछ अनिश्चित-सा था। इसीलिए पाँच आद-

मियों की पंचायत बनी, जिसमें दो कांग्रेस की ओर से और दो लीग की ओर से पंच मुकर्रर किये गये। इन चारों पर एक अंग्रेज सरपंच सर श्रीबहेडक्लीफा! किन्तु १५ अगस्त के पहले ये पंच अपना फैसला नहीं दे सके। इनका फैसला जब चन्द दिनों के बाद मालूम हुआ तब यह पाया गया कि कुछ हिस्से इधर से उधर कर दिये गये है, जिसके कारण हिन्दुओं में—और विशषकर उन जगहों के लोगों में, जो समझते थे कि उनको भारत के साथ ही रहना चाहिए, पर पंच के फैसले के अनुसार वे पाकिस्तान में ठेल दिये गये थे—बड़ा शोर मचा!

१५ अगस्त के पहले से ही भारत और पाकिस्तान के बीच की सरहदों पर अंग्रेज अफसरों की मातहती में फौज रखी गई थी। आशा की जाती थी कि सरहद पर अगर कुछ गड़बड़ी हुई तो वह फौज जनता की रक्षा करेगी; पर ऐसा हुआ नही। जब पश्चिमी पंजाब और पाकिस्तान के दूसरे हिस्सों मे हिन्दुओं और सिक्खों पर बहुत अत्याचार हुए तथा बहुतेरे मारे गये, प्रायः सब धन-सम्पत्ति लूटी गई, तब इस फौज से कोई सहायता हिन्दुओं को नहीं मिली! इधर दिल्ली में हमलोग १५ अगस्त को स्वतन्त्रता पाने के उपलक्ष में खुशियाँ मना रहे थे और उधर पश्चिमी पाकिस्तान में सिक्खों और हिन्दुओं को मार-काट कर पाकिस्तान को हिन्दुओं से बिल्कुल पाक-साफ बनाने का प्रयत्न हो रहा था! इसकी खबर दिल्ली तक तो कुछ देर से पहुँची, पर पंजाब के लोगों को जल्द पता चल गया। उन्होंने पूरबी पंजाब में और आसपास के रजवाड़ों में बसे हुए मुसलमानों के साथ बदला लेना शुरू कर दिया। दिल्ली भी अछूती न रह गई। चन्द दिनों के बाद वहाँ भी बड़े पैमाने पर बलवा-फसाद आरम्भ हो गया। इस सारे बलवे का नतीजा यह हुआ कि पश्चिमी पाकिस्तान से हिन्दू और सिक्ख, बेपनाह होकर, अपनी सारी धन-सम्पत्ति छाड़कर, अलग-अलग बिखरी टोलियों मे, पूर्वी पंजाब की ओर या उससे भी और पूरब निकलकर, अपनी जानें बचाने के लिए, भारत की दिशा में निकल पड़े। उसी तरह, इस तरफ से मुसलमान भी पाकिस्तान की ओर चल पड़े!

१५ अगस्त के पहले ही महात्माजी दिल्ली से चले गये थे। वह नोआखाली के रास्ते मे कलकत्ता में ठहरे थे। वहाँ भी भयंकर बलवे का सामान हो गया था। मुसलमानों से बदला लेने के लिए हिन्दू तैयार हो गये। महात्माजी ने ऐसी स्थिति देखकर वहाँ ठहर जाना उचित समझा, जहाँ मुसलमानों की ही आबादी ज्यादा थी। बहुत ही सख्ता के साथ अपनी जानों पर जोखिम लेकर उन्होंने बलवा न होने दिया, ऐसा वातावरण पैदा किया कि बलवा एक प्रकार से असम्भव-सा हो गया। इस घटना को सभी लोगों ने मुक्त कंठ से उनके व्यक्तित्व के एक चमत्कार तथा उनकी अहिसा के जादू के नाम से मशहूर किया। उनकी अहिसा और उनके दृढ़ सकल्प ने मुसलमानों की रक्षा कर दी। पर पश्चिम में अमानुषिक अत्याचार हो ही गये। किसी भी जाति के लोग यह नहीं कह सकते कि उनकी जाति अपने को इन दुष्कर्मों से अलग रख सकी।

दिल्ली में स्थिति बिगड़ने की खबर पाते ही महात्माजी दिल्ली चले आये। आते हा यहाँ भा फसाद रोकने में पूरी शक्ति के साथ डट खड़े हुए। दिल्ली में यह खबर

हो गई थी कि पाकिस्तान में सब कुछ जान-बूझकर कराया गया है और पाकिस्तान की इच्छा है कि वह दिल्ली में भी कांग्रेस-मंत्रिमंडल की हत्या कराके यहाँ के सेक्रेटेरियट पर दखल जमा बैठे तथा इसी प्रकार सारे भारतवर्ष में अपना राज्य कायम करे, कम-से-कम गड़बड़ी तो मचा ही दे। हिन्दू इस पर तैयार हो गये कि अब मुसलमानों को यहाँ से निकाल देना चाहिए। किन्तु महात्माजी ने दिल्ली पहुँचते ही स्थिति को समझ लिया। जो फसाद दिल्ली में चल रहा था उसे ही सबसे पहले रोकने में वह लग गये। उनके बीच में पड़ने का फल यह हुआ कि हिन्दुओं ने मुसलमानों को भारतवर्ष से निकालने का इरादा या प्रयत्न छोड़ दिया। पर इसके पहले ही बहुतेरे मुसलमान कर्मचारी या तो पाकिस्तान चले गये या किसी-न-किसी तरीके से हिन्दुस्तान मे रह गये। यह सब कुछ होने पर भी हिन्दू और सिक्ख पश्चिमी पंजाब से निर्वासित हो गये—उसी तरह पूर्वी पंजाब और कुछ रियासतों से मुसलमान भी !

यह महात्माजी की ही अलौकिक शक्ति थी, जिसने हिन्दुस्तान में मुसलमानों को मारे जाने से अथवा निर्वासित किये जाने से बचा लिया। आपस का वैमनस्य इस दर्जे तक बढ़ता गया था कि कहीं भी किसी कारण से अथवा बिना कारण के भी बलवा-फसाद हो सकता था। मुसलमानों की फिर भी इधर वही दशा होती जो हिन्दुओं और सिक्खों की उधर हुई।

दिल्ली शहर के कोने-कोने मे फसाद फैलता जा रहा था। पुलिस और फौज मुस्तैदी से शान्तिरक्षा में लगा दी गई थी; किन्तु बलवाइयों पर अभी तक वह काबू नहीं कर पाई थी। पंडित जवाहरलालजी अपनी जान को जोखिम में डालकर, जहाँ-कहीं से खबर मिलती वहाँ, चाहे दिन हो या रात, दौड़ जाते। उन्होंने तो गवर्नमेंट की तरफ से पुलिस और फौज को हुक्म दे ही दिया था कि बलवे को जल्द-से-जल्द सख्ती से रोको, महात्माजी ने भी आते ही अपनी सारी शक्ति इसमें लगा दी थी। अतः चन्द दिनों में ही स्थिति शान्त हो चली।

महात्माजी हिन्दू और मुसलमान को, उनकी धार्मिक विभिन्नता होते हुए भी, एक ही राष्ट्र मानते थे। वह मानते और कहते थे कि गवर्नमेंट का फर्ज है कि वह सभी लोगों को, चाहे किसी भी जाति के क्यों न हों, बचाने का अथक प्रयत्न करे, और सबका जान-माल सुरक्षित रखा जाय। उनकी इच्छा थी कि मौका अगर मिले और पाकिस्तानी सरकार मंजूर करे तो वह पश्चिमी पाकिस्तान का भी दौरा करेंगे। पर इसका मौका ही नहीं आया। गवर्नमेंट ने जब देख लिया कि हिन्दू और सिक्ख पाकिस्तान में ठहर नहीं सकेंगे तब उसने पाकिस्तानी सरकार के साथ मिलकर इस बात का प्रबन्ध किया कि दोनों तरफ से सभी लोगों को चले जाने का मौका और सुविधा दी जाय और रास्ते में भी उनकी रक्षा की जाय। इस प्रकार पचास और साठ लाख के बीच में हिन्दू और सिक्ख पश्चिमी पाकिस्तान से भारत चले आये और उतने ही मुसलमान भारत से पाकिस्तान चले गये ! सब अपनी-अपनी सम्पत्ति छोड़कर ही आये-गये। रास्ते में भी बहुतेरों पर हमले हुए, लोग मारे-लूटे गये। बहुतेरे तो लम्बे सफर की कठिनाइयों को बर्दाश्त न कर सकने के कारण

रास्ते में ही चल बसे ! बहुतेरे लोग गवर्नमेंट के प्रबन्ध में रेलों द्वारा लाये और पहुँचाये गये। पर अधिकांश पैदल ही, अपनी बैलगाड़ी या ऊँट या घोड़े इत्यादि पर, ला सकने योग्य बचा-खुचा सामान लिये-दिये, चले आये।

हिन्दुओं ने कई करोड़ रुपये लगाकर लाहौर मे बहुत बड़ी-बड़ी संस्थाएँ कायम की थीं। उनकी इमारतें तथा इनके सामान जहाँ-के-तहाँ रह गये। संख्या मे तो प्रायः जितने हिन्दू और सिक्ख पश्चिम से पूरब आये, करीब उतने ही मुसलमान पूरब से पश्चिम गये। पर हिन्दू तथा सिक्ख बहुत धनी थे। उनके पास बड़ी-बड़ी इमारतें, जमीन के बड़े-बड़े चकले, बाग-बगीचे इत्यादि थे। मुसलमान उतने खुशहाल नही थे, इसलिए उनकी न तो उतनी बड़ी-बड़ी इमारते थी और न उतनी जमीन ही। इसके अलावा, पश्चिमी पंजाब मे बहुत-सी नहरों के जरिये पानी पटाने का बड़ा अच्छा प्रबध था; इस कारण से वहाँ की जमीन भी बहुत उपजाऊ थी। ऐसी बात पूरबी पंजाब मे नही थी, इसलिए धन-वैभव तो हिन्दुओ ने ही बहुत खोया; जो बहुत ही खुशहाल थे वे दरिद्र बनकर किसी तरह जान बचा भारत मे आ गये !

इन सब घटनाओं से महात्माजी बहुत दुखी थे। वह पहले बराबर कहा करते थे कि वह इस प्रयत्न मे है कि १२५ वर्ष तक जीवित रहें। पर जो दुर्घटाएँ उन्होने देखी-सुनी उनका इतना गहरा असर उनके दिल पर पड़ा और उनसे इतनी चोट उनको लगी कि अब वह कहने लगे, ऐसी परिस्थिति को देखने के लिए मै जीवित रहना नही चाहता ! उनको इस बात का बड़ा दुख था कि इस अमानुषिक खून-खराबा मे हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख सब-के-सब शरीक हो गये, कोई भी अपने को इस पाप से साफ नही रख सका ! इतना होने पर भी वह बिलकुल निराश नही थे। वह समझते थे कि यह तो पागलपन का एक झोका है, जो कुछ समय पाकर निकल जायगा और तब सब लोग फिर एक बार उसी तरह आपस मे मिलजुल कर रहने लग जायँगे, जिस तरह पहले रहा करते थे। इस प्रकार के वातावरण को फिर से पैदा करना वह अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। इसलिए वह किसी ऐसी कार्यवाही को पसद नही करते थे जिससे इस वातावरण के फलने मे कोई बाधा पड़े। उनकी आशा थी कि अहिसा से अगर काम लिया गया और बदला न लेने की भावना को प्रोत्साहन न दिया गया, तो एक समय ऐसा आयेगा जब हिन्दू और सिक्ख तथा मुसलमान फिर अपने-अपने घरो मे जाकर बसेगे, अपनी बचीखुची जमीन और सम्पत्ति फिर से पा सकेगे। उसी नीति के अनुसार वह भारत-सरकार को काम करने की बराबर सम्मति देते रहे और सद्भावना को फिर से स्थापित करने मे प्रयत्नशील रहे।

दिल्ली मे बलवा-फसाद तो जल्दी ही रुक गया, पर वायुमडल अभी सुधरा नही था—वह सद्भावना, जो महात्माजी चाहते थे, अभी लौटी नही थी। जो मुसलमान यहाँ से चले गये थे उनके मकान खाली पड़े हुए थे। गवर्नमेंट उनको अभी खाली रख रही थी कि उनके मालिक वापस आकर फिर यहाँ बसेगे। पर इसमे कठिनाई बहुत थी; क्योंकि लाखों-लाख हिन्दू और सिक्ख अपना घर-बार छोड़कर भारतवर्ष चले आये थे। वे बिना घर और बिना रोजगार के सड़कों पर और गलियों मे, ठोकरे खाते फ़िरते थे।

वे मकान खाली रखना बर्दाश्त नही कर सकते थे। बहुतेरी मस्जिदें ऐसी थीं जिन पर हिन्दुओं ने कब्जा कर लिया था। वातावरण फिर इतना दूषित होता जा रहा था कि पग-पग पर आशंका होती, शायद फिर कहीं फसाद न खड़ा हो जाय। महात्माजी ने इस क्षुब्ध वातावरण को दुरुस्त करने के लिए अनशन आरम्भ कर दिया। वह अनशन तबतक जारी रखा जबतक हिन्दुओं और सिक्खों ने मुसलमानों को यह आश्वासन देकर संतुष्ट नहीं कर दिया कि वे निश्चिन्त अपने घरों मे आकर रहें तथा अपनी रक्षा का भार हम हिन्दू-सिक्खों पर छोड़ दें। मस्जिदों का खाली होना भी शुरू हो गया। आहिस्ता-आहिस्ता बहुतेरी मस्जिदें मुसलमानों को वापस कर दी गईं।

महात्माजी के अनशन का यह नतीजा हुआ कि वातावरण बिल्कुल बदल गया। जो दुर्भावना फैल रही थी वह बहुत हद तक दूर हो गई। मुसलमानो को इतमीनान हो गया। मै दिल्ली मे ही था, पर अस्वस्थ था। तो भी, अनशन के दिनों में जो एक शान्ति-कमिटी बनी उसका प्रधान मुझे लोगों ने बना दिया। उसी कमिटी की तरफ से महात्माजी को जब पूरा आश्वासन दिया गया तब उन्होंने अनशन तोड़ा। अब मुसलमान समझ गये कि महात्माजी से बढ़कर उनका दूसरा कोई रक्षक और हितचिन्तक नहीं है। उनमें से जो लोग पहले उनको अपना वैरी मानते थे वे अब उन्हे अपना मित्र समझने लगे। सब जगहों मे उनकी अहिंसात्मक वृत्ति अप्रत्यक्ष रीति से—पर बहुत जोरों के साथ—काम कर रही थी।' यदि वह जीवित रह जाते तो इसमें सन्देह नही कि उनको तथा राष्ट्र को ऐसा दिन भी देखने को मिलता जब सभी हिन्दू और सिक्ख अपने घरों पर वापस चले जाते तथा पाकिस्तान गये हुए सभी मुसलमान भारत वापस आते। पर ईश्वर को यह मंजूर नही था! सन् १९४८ ई० की ३० जनवरी को एक हिन्दू ने उनकी हत्या कर डाली!!!

छत्तीसवाँ अध्याय

ऊपर कहा जा चुका है कि हम लोग लार्ड वेवल के मंत्रिमंडल में शरीक हुए। यह १९४६ के २ सितम्बर को हुआ। मेरे जिम्मे खाद्य और कृषि के विभाग आये। उस समय देश में अन्न की बहुत कमी थी। इस बात का बहुत डर था कि किसी-न-किसी भाग में भारी दुष्काल आ जायगा। जिस तरह बंगाल में लाखों-लाख आदमी अन्न-विना भूखों मर चके थे, उसी तरह फिर एक बार यहाँ की भी दुर्गति-दुर्व्यवस्था हो सकती है। सारे देश में जहाँ-जहाँ अन्न था, गवर्नमेंट की तरफ से लोगों से लिया जा रहा था। भारतवर्ष के प्रायः सभी शहरों में, बहुतेरे गाँवों में, विशेष करके दक्षिण में, प्रत्येक आदमी के लिए नाप-तौल कर पाँच-छः छटाँक या इससे भी कम अन्न दिया जाता था। इसी प्रथा को 'राशनिंग' कहते हैं। मैं इस चिन्ता में था कि कहीं राशन के लिए अन्न घट न जाय और लोगों को अन्न मिले ही नहीं। इसलिए बहुत जोरों से, चाहे देश का हो चाहे विदेश का, सभी जगहों में अन्न जुटाने का काम किया जा रहा था। पर जो अन्न इस तरह जुटाया जा सकता था वह प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रति दिन पाँच-छः छटाँक से ज्यादा नहीं हो सकता था। जहाँ के लोग जो अन्न बराबर से खाते आ रहे थे, उनको वही अन्न नही दिया जा सकता था। पहले चावल की इतनी कमी थी कि दक्षिण के लोगों को भी, जो चावल ही बहुत अधिक खाया करते हैं, विदेश से आये हुए मकई और गेहूँ दिये जाने लगे। उन लोगों के घरों में इन अन्नों को खाने योग्य बनाने के चक्की, तावा इत्यादि-जैसे न तो साधन थे और न उनके पकाने का ढंग ही उन्हें आता था। कुछ दिनों के वाद दिल्ली और पश्चिमी संयुक्तप्रान्त में भी लोगों को गेहूँ के बदले चावल अधिक दिये जाने लगे और वही उनको खाना पड़ा। उनकी यही स्थिति प्रायः १९४६ से ४७ के अन्त तक, जबतक मैं मंत्रिमंडल में रहा, बनी रही। कभी-कभी ऐसा समय भी आया कि किसी स्थान पर दो-चार दिनों से अधिक के लिए अन्न नहीं रह जाता था। इस तरह की खबरें देश के कोने-कोने से बराबर आया करतीं और आवश्यकता के अनुसार अन्न पहुँचाने का प्रयत्न भी बराबर होता ही रहता।

नवम्बर १९४६ में कांग्रेस का अधिवेशन मेरठ में हुआ, जिसके प्रधान आचार्य

कृपालानी चुने गये। अब केन्द्र और प्रान्तों में जहाँ-तहाँ कांग्रेस का बहुमत था, कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन गये थे। कांग्रेस के घोषणापत्र के अनुसार वे काम चला रहे थे। जैसा ऊपर कहा गया है, केन्द्र में मुस्लिम लीग के झगड़े के कारण कुछ विशेष हम कर नहीं पाते थे। बटवारे के बाद, जब हम कुछ करने योग्य हुए तब, बलवा-फसाद के कारण कुछ कर न सके। फिर उसके बाद तो लाखों-लाख निर्वासितों के प्रबन्ध का एक इतना बड़ा काम भारत-सरकार के हाथों में आया जिसे वह आज तक पूरा नही कर सकी है। पहला काम तो यह था कि लोगों की इतनी बड़ी संख्या, सुरक्षित और सुव्यवस्थित रीति से, किसी तरह पश्चिम से पूरब लाई जाय और फिर पूरब से पश्चिम भी भेजी जाय। इस काम को फौज ने बड़ी तनदेही और सुव्यवस्था के साथ पूरा किया। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सभी लोग सुरक्षित ही पहुँचे। बीच-बीच में काफलों पर हमले हो जाते और बहुतेरे मारे जाते तथा जो कुछ थोड़ा-बहुत उनके पास होता वह लूट लिया जाता। रेल के मुसाफिरों को भी इसी प्रकार लूट-मार का शिकार बनना पड़ता। पहले जो लोग आये उनको छावनियों में रखने और टिकाने का प्रबन्ध किया गया। अब आहिस्ता-आहिस्ता उनको जहाँ-तहाँ बसाने का काम किया जा रहा है, जो अभी तक पूरा नहीं हुआ है। गवर्नमेंट इस काम में करोड़ों रुपये खर्च कर रही है। नये गाँव और शहर बसाये जा रहे हैं। हजारों-हजार की तादाद में उनके लिए जहाँ-तहाँ नये मकान बनाये जा रहे हैं। जहाँ जो जमीन खाली पड़ी है वह उनमें बाँटी जा रही है। पर उनकी संख्या इतनी अधिक है और जमीन इतनी कम है कि गैर-आबाद जमीन या पाकिस्तान चले गये हुए मुसलमानों की छोड़ी हुई जमीन मिलाकर भी उस जमीन के मुकाबले बहुत ही कम पड़ती है जो हिन्दू और सिक्ख पाकिस्तान में छोड़ आये हैं। इसलिए प्रत्येक किसान-परिवार को उस जमीन के मुकाबले में जो उसके पास पहले थी, बहुत कम ही जमीन दी जा सकती है, वह भी नहरों और आबपाशी के दूसरे साधनों के अभाव में बहुत कमजोर जमीन!

किसानों के अलावा एक बहुत बड़ी संख्या आज के भारत में ऐसे लागों की भी है जो दूसरे रोजगार किया करते थे—जैसे व्यापार, सरकारी तथा गैर-सरकारी नौकरी, कारखानों की मजूरी इत्यादि। वाणिज्य-व्यापार बहुत करके हिन्दुओं और सिक्खों के हाथ में हिन्दुस्तान के उस हिस्से में था जो पाकिस्तान में पड़ा है। हिन्दुओं और सिक्खों की दूकानें केवल हिन्दू और सिक्ख के लिए ही सामान नहीं बेचा करती थीं, बल्कि मुसलमान के लिए भी। अब वे दूकानदार इधर चले आये। यहाँ पहले से ही काफी दूकानदार मौजूद हैं; क्योंकि इधर भी बहुत करके वाणिज्य-व्यापार हिन्दुओं के ही हाथों में था। और, जो मुसलमान पाकिस्तान गये वे दूकानदार नही थे, खरीदार ही थे। इस तरह तिजारत-पेशा लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या इधर आ गई है, जो पहले बहुत खुशहाल थे, पर जिनको इधर कोई रोजगार नहीं मिलता। इस तरफ के बहुत ऐसे काम करनेवाले, जा बहुत करके देहाती जीवन के मुसलमान थे, उधर चले गये। नतीजा यह हुआ कि एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की आज भारत में आ गई है जिनको कोई

धन्धा या रोजगार देना कठिन है। उसी तरह ऐसे लोगों की बड़ी संख्या उधर चली गई है जो यहाँ मजूरी के काम करते थे। इसके उलटा, पाकिस्तान को इस हलचल से लाभ-ही-लाभ रहा है। एक तो उसके हाथ बहुत अच्छी उपजाऊ जमीन आ गई। इधर से गये हुए मुसलमानों को ही नही, बल्कि वहाँ के रहनेवाले मुसलमानों को भी वह सारी जमीन बाँट दी गई। इस तरह निर्वासित लोगों को, और बहुतेरे दूसरों को भी, पहले के मुकाबले अधिक और काफी जमीन मिल गई। हिन्दुओं के बड़े-बड़े आलीशान महल उनके कब्जे में आ गये। दूकानदारी और तिजारत का नया रोजगार वहाँ के बाशिन्दों को, चाहे वे निर्वासित हों या दूसरे, मिल गया। इसलिए पाकिस्तान की गवर्नमेंट के वास्ते निर्वासितो की समस्या बहुत हल्की और सीधी रही है। शायद उन्होने शरणार्थियों को बसाने का काम पूरा भी कर लिया है।

बटवारे के चन्द दिनों के अन्दर ही कश्मीर का बड़ा मसला भारत के सामने आ गया। अंग्रेज-सरकार ने अपने जाने के वक्त सभी रजवाड़ों को सुलह की उन सभी शर्तों से मुक्त कर दिया जो दोनों के बीच मे हुई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रत्येक रजवाड़े को इस बात की स्वतंत्रता मिल गई कि वह चाहे पाकिस्तान के साथ मिल जाय अथवा भारत के साथ। १५ अगस्त '४७ तक ही, कुछ को छोड़, प्राय: सभी रजवाड़े जो भारत के दायरे में थे, भारत से मिल गय। जबतक सब बाते विधान-परिषद् द्वारा और आपसी बातचीत से तय न हो जायें, तबतक के लिए उन्होने भारत-सरकार के साथ वही सम्बन्ध जारी रखने का अस्थायी सुलहनामा कर लिया जो उनका अंग्रेजो के साथ था। केवल कश्मीर ओर हैदराबाद ने अस्थायी सुलहनामा नही किया, भारत में सम्मिलित नही हुए। कश्मीर मे हिन्दू महाराजा, पर प्रजा का अधिकाश मुसलमान! हैदराबाद में मुसलमान निजाम और प्रजा अधिकांश हिन्दू! रजवाड़ो में यही दोनों राज्य सबसे बड़े भी थे। कश्मीर—भारत और पाकिस्तान दोनों की सीमा से लगा हुआ प्रदेश और हैदराबाद भारत के मध्य मे! कश्मीर के मुसलमानों मे बहुत ऐसे थे जो हिन्दू राजा को तो नही, पर भारत के साथ रहना चाहते थे। हैदराबाद के बहुतेरे मुसलमान उसको एक स्वतत्र राज्य बनाकर पाकिस्तान के साथ मेल-मुआफकत रखना चाहते थे। पाकिस्तान की आँखे भी उस तरफ लालच की निगाहें डाल रही थी। पाकिस्तान शायद आशा करता था कि सारे भारत में इस्लामी सल्तनत कायम करने मे हैदराबाद से उसे पूरी मदद मिलेगी। किन्तु वहाँ की हिन्दू प्रजा, जो सौ मे अट्ठासी थी, भारत के साथ रहना चाहती थी। कुछ दूसरी छोटी-मोटी मुसलमानी रियासतें भी रहीं जिनमें कई ऐसी थी जो मौका मिलने पर शायद पाकिस्तान के साथ रहना ही पसद करती। पर एकाध ऐसी भी थीं जिन्होंने खुले दिल से भारत के साथ मिलना पसंद किया।

कश्मीर के महाराज और मुसलमान प्रजा की एक बड़ी संख्या इस दुविधा में पड़कर समय काट रही थी कि हिन्दुस्तान के साथ मिलकर न तो पाकिस्तान को नाखुश करें और न पाकिस्तान के साथ मिलकर भारत को! यह बात पाकिस्तान को बर्दाश्त नही थी। उसने सरहद के कबीला लोगों को कश्मीर पर चढ़ाई कर देने के लिए

प्रोत्साहित किया। केवल अपने देश से होकर उनको रास्ता ही नही दिया, बल्कि हथियार और योग्य फौजी मदद भी दी, पर गुप्त रीति से ही, ताकि वे कश्मीर पर धावा बोलकर कब्जा भी कर लें। स्थिति बहुत नाजुक हो गई। हमला करनेवालों ने बहुत ज्यादतियाँ भी की, जिनके कारण वहां की जनता बहुत दुखी हुई। अन्त में, जब कश्मीर की राजधानी श्रीनगर से थोड़ी ही दूर पर आक्रमणकारी रह गये थे तब महाराज और प्रजा के प्रतिनिधि शेख अब्दुल्ला—दोनों—ने एक साथ ही मिलकर हिन्दुस्तान के साथ कश्मीर को मिला देने का प्रस्ताव किया और मदद भी माँगी। भारत-सरकार ने कश्मीर के उस प्रस्ताव को मंजूर कर मदद भेजी। इस तरह लड़ाई शुरू हो गई, जो अभी तक समाप्त नही हुई है। लड़ाई मे भारतीय सेना ने आक्रमणकारियों को और पाकिस्तानी फौज को कश्मीर के बहुत बड़े भूभाग से निकाल दिया है। अब वहाँ भारत की तरह प्रजातन्त्र का काम चल रहा है। पर कश्मीर के कुछ उस हिस्से पर जो बिल्कुल पश्चिमी पंजाब से मिला हुआ है और उस हिस्से पर भी जो पश्चिम-उत्तर मे पहाड़ा इलाका है, पाकिस्तानियों का कब्जा भी है। मामला अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सामने पेश है। अभी तक कोई फैसला नही हुआ है। दोनों तरफ की फौजे अपनी-अपनी जगहों पर सब तरह से लैस बैठी हुई है।

हैदराबाद में मुसलमानों का एक दल था, जो अपने को 'रजाकार' कहा करते थे और जो यह मनसूबा रखते थे कि दिल्ली के लाल-किले पर निजाम का आसफजाही झंडा फहरायेंगे। रजाकारो ने वहाँ के हिन्दुओं के साथ बड़ी ज्यादतियाँ की। जो मुसलमान उनका विरोध करते थे और हिन्दुस्तान के साथ रहने मे ही वहाँ की प्रजा का भला समझते थे उनके साथ भी बहुत बुरा बर्त्ताव किया गया। जब यह जुल्म बर्दाश्त के बाहर हो गया और इसका बुरा असर भारत के दूसरे हिस्सों पर भी पड़ने लगा, तब भारत-सरकार ने हैदराबाद में जाकर अपना कब्जा जमा लिया। रजाकार भाग खड़े हुए। निजाम ने भारत-सरकार का स्वागत किया। अब और रजवाड़ों की तरह हैदराबाद भी भारत के साथ मिल गया है।

इन सब उलझनों और अन्न की कमी की कठिनाइयों तथा निर्वासितों के बसाने की समस्या में ही अबतक भारत-सरकार की शक्ति बहुत करके लगी रही। और-और दूसरे मामले तो उसके सामने थे ही। यह ईश्वर की दया है कि इन आफतों में रहकर भी भारत अपने को अभी तक बचाये रख सका है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विधान-परिषद् बन चुकी थी। उसका पहला अधिवेशन १९४६ मे ९ दिसम्बर को हुआ था। उसमें मै ही उसका सभापति चुना गया। खाद्य-विभाग के काम के साथ-साथ मै यह काम भी करने लगा। जब बटवारा-कौंसिल बनी तो वह काम भी मेरे जिम्मे आया। मैं किसी तरह इन सबको निबाहता गया। बापू का आशीर्वाद मुझे हमेशा मिलता गया। जहाँ तक अपने जिम्मे के काम का सम्बन्ध था, उससे मुझे संतोष रहा।

महात्माजी का विचार था कि अन्न पर नियंत्रण गैर-जरूरी है, उसे उठा ही देना

चाहिए। उन्होंने अपना यह मत कई बार प्रकट भी किया, पर प्राय: एक बरस तक मैं कुछ कर नहीं सका; क्योंकि स्थिति इतनी नाजुक थी कि उस वक्त कोई परिवर्त्तन करना खतरे से खाली नहीं था। मुझे सब बातों के समझने और देखकर अपना मत स्थिर करने में भी समय लगा। इसलिए जब १९४७ के प्रारम्भ में महात्माजी ने नियंत्रण उठाने के सम्बन्ध में जोर लगाया तब मैंने भी निश्चय किया कि अब इसे हटा देना ही चाहिए। पर इसमें कठिनाई बहुत थी। एक कठिनाई तो यह थी कि मंत्रिमंडल के हमारे साथियों में बहुतेरे सहमत नहीं थे, दूसरी यह कि खाद्य-विभाग के बड़े और छोटे कर्मचारी प्राय: सब-के-सब इसके विरोधी थे! यहाँ तक कि अधिकांश प्रान्तीय सरकारें भी इसका विरोध कर रही थीं, और जो विरोध नहीं करता थीं वे भी केवल मौन रखतीं, खुलकर समर्थन नहीं करतीं। मैंने पहले खाद्य तेलों पर से नियंत्रण उठाया; क्योंकि बहुत जगहों में तेल मिलता ही नहीं था और जो मिलता था वह भी बहुत महँगा। नियंत्रण उठाने का फल यह रहा कि तेल मिलने लगा। अब भी वह यद्यपि सरकारी नियत भाव से महँगा पड़ता तथापि जिस भाव में वह चोर-बाजार में बिका करता उससे बहुत सस्ता और सभी जगहों पर मिल जाता। इससे मेरा उत्साह बढ़ा। मैंने एक कमिटी मुकर्रर कर दी थी जो खाद्य-समस्या पर विचार करके गवर्नमेंट को राय दे कि उसे क्या करना चाहिए। उस कमिटी के सामने दोनों ही बातें थीं—खाद्य-पदार्थों के वितरण की और उत्पत्ति की भी। इनमें वितरण का सम्बन्ध नियंत्रण के साथ था। उस कमिटी ने सिफारिश की कि नियंत्रण आहिस्ता-आहिस्ता करके हटाया जाय और गवर्नमेंट अपने पास अन्न रखने का प्रबंध करे, ताकि जहाँ भी अन्न की कमी हो वहाँ वह आसानी से जल्द-से-जल्द पहुँचाया जा सके। इस सिफारिश से मुझे बल मिला। अन्त में मंत्रिमंडल ने भी मेरी सिफारिश मंजूर कर ली। नियंत्रण हल्के-हल्के उठाने का निश्चय किया गया।

इसमें मुझे महात्माजी से मदद लेनी पड़ी। उन्होंने मेरे कहने से मंत्रि-मंडल के लोगों के साथ बातें कीं, उनको अपना दृष्टिकोण बतलाने और समझाने का प्रयत्न किया। उसी तरह उन्होंने प्रान्तीय मंत्रियों के सम्मेलनों में आये हुए लोगों से भी बातें कीं और नियंत्रण उठाने पर जोर दिया। मैंने नियंत्रण उठाने का निश्चय खाद्य-मंत्री की हैसियत से किया। अब मुझे इस निश्चय को कार्यान्वित करना था। इतने में मुझे अचानक और अनायास मंत्रिमंडल से हट जाना पड़ा।

आचार्य कृपालानीजी राष्ट्रपति थे पर वह गवर्नमेंट के कामों से नाखुश थे। चूँकि वह समझते थे कि कांग्रेस की ओर से मंत्रिमंडल पर वह उतना असर नहीं डाल सकते जितना पड़ना चाहिए, इसलिए उन्होंने अपने पद-त्याग की इच्छा कई बार प्रकट की। महात्माजी ने और लोगों ने भी उनको समझा-बुझाकर ऐसा करने से कुछ दिनों तक रोक रखा। पर अब यह ऐसी अवस्था में पहुँच गया कि वह किसी तरह रहना नहीं चाहते थे। अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी की एक बैठक दिल्ली में हुई। यथारीति वर्किङ्ग-कमिटी की बैठक भी हुई। वहाँ पर यह मामला पेश हुआ। एक प्रकार से निश्चय हुआ कि उनका

इस्तीफा मंजूर कर लेने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। तब यह प्रश्न उठा कि कांग्रेस का सभापति कौन होवे। महात्माजी का विचार था कि समाजवादी दल के नेता श्रीजयप्रकाशनारायण या आचार्य नरेन्द्रदेवजी को यह पद दिया जाय। उन्होंने जब यह देखा कि वर्किङ्ग-कमिटी में इस बात पर एकमत नहीं है और कुछ लोग इसके कड़े विरोधी भी हैं, तो वह चुप हो गये! कोई बात तय नहीं हो सकी। वर्किङ्ग-कमिटी उठ गई; क्योंकि असेम्बली की बैठक का समय हो आया था और वहाँ मुझे प्रधान का स्थान ग्रहण करना था। वहाँ भी एक विचित्र प्रश्न उपस्थित था। वह यह था कि विधान-परिषद् के नियम के अनुसार उसका सभापति ही वहाँ प्रधान बनकर अधिवेशन मे बैठ सकता था। बटवारे के बाद विधान-परिषद् के जिम्मे दो बड़े काम आ गये—एक तो विधान बनाने का, जो पहले से हो ही रहा था और दूसरा यह कि अब वही व्यवस्थापिका-सभा के काम के लिए भी जिम्मेदार बना दी गई। व्यवस्थापिका सभा में कोई भी मंत्रिमंडल का आदमी 'स्पीकर' का स्थान नही ले सकता था; क्योंकि उसे मंत्रिमंडल और दूसरे सदस्यों के वाद-विवाद में निष्पक्ष होकर काम करना पड़ता है। इसलिए आवश्यक हो गया कि मैं या तो मंत्रि-मंडल से हट जाऊँ या विधान-परिषद् के सभापतित्व से। लोग चाहते थे कि मैं विधान-परिषद् का सभापति बना रहूँ और मंत्रि-मंडल में भी रहूँ। इसलिए नियम बदलना आवश्यक हो गया। मैंने अपने अधिकार से नियमों को बदल दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि मैं यद्यपि विधान-परिषद् का सभापति बना रहूँ, तो भी वह व्यवस्थापिका-सभा की हैसियत से जब कभी बैठे तब मै उस जगह पर प्रधान का आसन ग्रहण न करूँ—उसके लिए 'स्पीकर' चुन लिये जायँ।

उस दिन स्पीकर के चुनने का काम विधान-परिषद् के सामने था। श्रीमावलंकर स्पीकर चुने गये। उनको मैंने अपने स्थान पर बिठा दिया। दो-तीन घंटों के बाद ही अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक सिपहर में दिल्ली मे ही होने जा रही थी, जहाँ आचार्य कृपालानी का इस्तीफा मंजूर करके उनकी जगह पर राष्ट्रपति चुन लेना था। वर्किङ्ग-कमिटी में यह बात तय नहीं हो पाई थी कि कौन चुना जाये—यद्यपि वहाँ पर किसी ने एक बार मेरा नाम भी लिया था; किन्तु उस पर न तो मैंने ध्यान दिया था और न दूसरों ने ही। मै विधान-परिषद् में बैठा हुआ था कि मुझे सूचना मिली कि पंडित जवाहरलालजी तथा सरदार वल्लभ भाई मुझे बुला रहे है। मैं वहाँ गया। बातचीत हुई। उनलोगों की राय हुई कि मुझे ही कांग्रेस का सभापतित्व लेना चाहिए। मै बड़े असमंजस में पड़ गया। एक तो खाद्य और कृषि विभागों का काम था ही, जिसमें नियंत्रण हटाने की नीति को कार्यान्वित करना था; दूसरा काम अन्न की उपज बढ़ाने और गोवंश की वृद्धि तथा उन्नति करने का भी था, जिसमें दूध और अच्छे बैलों की कमी के कारण मेरी विशेष दिलचस्पी थी। यह सब मेरे ही जिम्मे था। मैं दिन-रात इन समस्याओं के सुलझाने में लगा हुआ था। इधर विधान बनाने का काम भी कम महत्त्व नहीं रखता था। यद्यपि अब व्यवस्थापिका-सभा के सभापतित्व से और बटवारा-कमिटी के काम के समाप्त हो जाने की वजह से मुझे फुर्सत मिल गई थी, फिर भी विधान का काम काफी

जटिल तथा बड़ा था, जिसमें काफी समय और परिश्रम लगाना था। मेरा स्वास्थ्य भी कमजोर था। मैं पहले-जितना परिश्रम भी बर्दाश्त नहीं कर सकता था। इतने पर भी कांग्रेस का बोझ भी जब मुझे ही सँभालना पड़े तो यह सब असंभव-सा मालूम होने लगा। मैंने कहा कि मैं यदि कांग्रेस का काम उठाऊँ तो मुझे खाद्य-कृषि-विभाग से तो अवश्य मुक्ति मिलनी चाहिए और हो सकता है कि शायद मुझे विधान-परिषद् का भी सभापतित्व छोड़ना पड़े; क्योंकि कांग्रेस का काम भी काफी मुश्किल था और मतभेदों के कारण अधिक जटिल भी होता जा रहा था। ऐसा विचार हुआ कि मुझे कृपालानीजी का स्थान तो लेना ही पड़ेगा। मैं इनकार भी नहीं कर सकता था; क्योंकि इसका अर्थ यह निकलता था कि मैं मंत्रिपद को छोड़ना नहीं चाहता। मुझे बहुत सोचने का समय भी नहीं था।

वहाँ से महात्माजी के पास गया। सब बातें मैंने कह सुनाईं। वह उनका मौन-दिवस था। इसलिए वह जो कुछ कहना चाहते थे, कागज के पुर्जों पर लिखकर ही कहते थे। उन्होंने लिखकर बताया कि उनको यह प्रस्ताव पसन्द नहीं है। जब मैंने यह कहा कि कांग्रेस का सभापतित्व नामंजूर करके मैं मंत्री बना रहना कैसे पसंद कर सकता था और यदि पसंद भी करता तो इसे कहता किस तरह, तब उन्होंने मेरे इस असमंजस को समझ लिया और अपनी राय नहीं बदली। चूँकि अखिलभारतीय कमिटी के अधिवेशन का समय हो गया था, इसलिए महात्माजी को औरों से कुछ कहने का समय भी न मिल सका। मैं सभापति चुन लिया गया। पर उसे मंजूर करते हुए मैंने वहीं पर अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के सामने यह घोषणा भी कर दी कि मैं मंत्रि-पद से अलग हो जाऊँगा और वहाँ से मुक्ति पाने पर ही कांग्रेस का काम सँभालूँगा। इस तरह, जबतक गवर्नमेंट कोई दूसरा प्रबंध न कर ले, मुझे प्रायः डेढ़ महीने तक मंत्री बना रहना पड़ा। मुझे १९४८ में १४ जनवरी को वहाँ से मुक्ति मिली। तब से मैं बाजाब्ता कांग्रेस का काम सँभालने लगा। इसके दो-तीन ही दिनों के अन्दर महात्माजी का अन्तिम उपवास हुआ और पन्द्रहवें-सोलहवें दिन उनकी हत्या हुई!

इस बीच में, मेरी अस्वस्थता के कारण, महात्माजी के साथ मेरा जितना सम्पर्क रहना चाहिए था, नहीं रहा। पर तो भी प्रायः प्रतिदिन मैं एकबार उनके पास जाता ही; क्योंकि तीन विशेष और मुख्य काम मेरे जिम्मे चल रहे थे। एक काम तो हिन्दू-मुस्लिम-सद्भावना बढ़ाने का था, जिसका जिक्र पहले आ चुका है और जिसके लिए उन्होंने अनशन किया था। दूसरा काम था कांग्रेस की नियमावली के संशोधन का, जिसकी बात चल रही थी और जिसके लिए एक कमिटी भी बनी थी। कमिटी के मेम्बर विचार-विमर्श के लिए महात्माजी के पास जाया करते थे। मैं भी उसमें शामिल हुआ करता था। इसी विचार-विमर्श का नतीजा था कि उन्होंने अपनी हत्या के कुछ ही घंटे पहले अपने विचारों को लेखबद्ध कर दिया था। उनका खयाल था कि कांग्रेस अब राजनीति के काम से, जिसमें वह प्रत्यक्ष भाग लेती रही थी और अपने मंत्रिमंडल द्वारा काम करा रही थी, अलग होकर लोक-सेवा का काम करे। लोक-सेवा द्वारा ही वह

गवर्नमेंट पर जो कुछ असर डाल सकती है, डाले। पर यह कांग्रेस के प्रमुख लोगों को पसंद नहीं था ! इसलिए, नियमावली में जो संशोधन हुआ उसका रूप ऐसा नहीं हुआ कि कांग्रेस एक लोक-सेवक-संघ बन जाये। पर उनकी मृत्यु के कारण इस विषय पर और ज्यादा जोर देनेवाला भी अब कोई नही रह गया। तीसरा काम वह था जिसमें उनकी बहुत दिलचस्पी थी। वह था हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के अलावा रचनात्मक कार्य-क्रम को प्रोत्साहन देना। इस बात की चर्चा बहुत दिनो से चल रही थी। निश्चय हुआ था कि रचनात्मक कार्य करनेवालों का एक सम्मेलन सेवाग्राम में किया जाय। उसके लिए फरवरी १९४८ के पहले सप्ताह मे तिथि भी निश्चित की गई थी। महात्माजी का विचार था कि उसमें वह शरीक होवे। इसलिए वह वर्धा जाना भी चाहते थे। मै भी सम्मेलन मे शरीक होना चाहता था। साथ ही, दिल्ली की कड़ी सर्दी से बचने के लिए भी मै वर्धा जाना ही चाहता था, जिसमे 'एक पथ दो काज' का अवसर मिले, यानी स्वास्थ्य भी सुधरे और रचनात्मक कार्यक्रम के कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलन मे शरीक भी हो आऊँ।

जब हिन्दू-मुस्लिम-समस्या कुछ उलझती हुई नजर आई तब उन्होने उपवास भी किया था। उपवास तोडने के बाद भी वह चाहते थे कि उन शर्तो को पूरा करा दे, जिनको उपवास तुड़वाने के समय सब लोगों से मंजूर कराया था। उधर रचनात्मक-सम्मेलन के प्रबन्धकर्त्ताओं का बहुत जोर था कि महात्माजी सेवाग्राम जरूर आवे। महात्माजी ने अपनी सहमति के साथ यह अनुमति मुझे दे दी कि मै वर्धा जाऊँ, पर अपने सम्बन्ध में उन्होंने यह भी कहा कि वह तभी दिल्ली छोड़ सकेंगे जब मुसलमान नेता उन्हे जाने की इजाजत दे देगे। मेरी बात उन नेताओं से हुई। उन्होने इजाजत दे दी। मै ३० जनवरी (१९४८) को बहुत सबेरे, हवाई जहाज से नागपुर होते हुए वर्धा के लिए रवाना होने के पहले ही, महात्माजी से मिला। मुसलमान नेताओं के इजाजत दे देने की बात उनसे कह दी। उन्होंने मुझसे वादा करते हुए कहा कि वह दो-तीन दिनों में रचनात्मक-कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलन मे भाग लेने पहुँच जायँगे, तबतक मै आगे चलकर अपना स्वास्थ्य दुरुस्त कर लूँ और वहाँ का प्रबन्ध भी देखूं। मै इस आशा के साथ दिल्ली से रवाना हुआ कि वहाँ दो-तीन दिनों के बाद पूज्य बापू के दर्शन होंगे ही—रचनात्मक कार्यक्रम को भी, जो कांग्रेस का मूल कार्यक्रम तथा आधार है, स्फूर्ति मिलेगी। और मै उनकी सहायता से इस काम को आगे बढा सकूँगा।

मै उसी दिन ढाई बजे के करीब वर्धा पहुँचा। रास्ते की सर्दी और थकावट से वहाँ पहुँचते ही कुछ हल्का-सा ज्वर हो आया। पाँच बजे के लगभग डाक्टर महोदय देखने आये। वह मेरा हालचाल सुन ही रहे थे कि एक लड़का दौड़ा हुआ आया और बोला कि महात्माजी की मृत्यु हो गई ! पहले तो हमको उसकी बात पर विश्वास ही नहीं हुआ; क्योंकि महात्माजी को मै नौ-दस ही घण्टे पहले स्वस्थ देख आया था। पर उनको रक्त के दबाव की बीमारी पहले बहुत थी। यद्यपि उन्होंने संयम करके उसे दबा दिया था, तो भी मुझे यह डर हुआ कि शायद उपस्थित चिन्ताओं के कारण अचानक उसकी वृद्धि हो

गई होगी। मैंने उस लड़के से पूछा कि यह खबर उसे कैसे मिली। तब उसने कहा, यह रेडियो में आई है। पर वह समय रेडियो में खबर आने का नहीं था। इससे और भी संदेह हुआ। फिर हमने कहा, रेडियो ले आओ, जिसमें छः बजे खबर सुन सकूँ। दौड़कर लोग रेडियो ले आये। पर छः बजे तक इन्तजार नहीं करना पड़ा। पहले ही मालूम हो गया कि मृत्यु स्वाभाविक नहीं हुई है, किसी ने गोली मार दी है ! फिर रात को पंडित जवाहरलाल और सरदार वल्लभ भाई के रेडियो द्वारा भाषणों से सब बातें स्पष्ट मालूम हो गईं। अब मैं क्या करूँ ? वहाँ रहूँ या दिल्ली जाऊँ ? दिल्ली से टेलीफोन द्वारा सम्पर्क मुश्किल था, पर नागपुर के साथ हो सकता था। वहाँ से पता लगा कि उसी रात श्रीरामदास गांधी को ले जाने के लिए कोई खास हवाई जहाज बम्बई से नागपुर आयेगा, मैं भी अगर चाहूँ तो उससे दिल्ली जा सकता हूँ। यह भी सूचना मिली कि मेरा दिल्ली पहुँच जाना अच्छा होगा। मै रात-भर सो नही सका ! पर सवेरे चार बजे वर्धा से रवाना होकर छः बजे नागपुर पहुँच गया। वहाँ से श्रीरामदास गांधी तथा दूसरे मित्रों के साथ दस बजे दिल्ली पहुँचा। बापू के शरीर का अन्तिम दर्शन, जुलूस निकलने के पहले, कर सका ! राजघाट के अन्तिम संस्कार में भी शरीक हो सका।

रचनात्मक कार्यकर्त्ता-सम्मेलन कुछ दिनों के लिए स्थगित कर देना पड़ा। वह फिर अगले मार्च (१९४८) में सेवाग्राम में ही हुआ, जहाँ सर्वोदय-समाज की स्थापना का निश्चय किया गया। रचनात्मक कार्यक्रम पर महात्माजी का बड़ा भरोसा था। उसके द्वारा वह एक नये समाज की सृष्टि करना चाहते थे। अब आगे उसी काम में वह लगनेवाले थे। उन्होंने उसी समय मुझे उस काम के लिए बढ़ावा दिया था जब यह दुर्घटना घटी, जो भारत के इतिहास में—विशेषकर हिन्दू-जाति के लिए—अमिट कलंक का टीका बनी रहेगी !

हाँ, यहाँ एक घटना का उल्लेख आवश्यक है; क्योंकि एक भारी गलती से—जिसका अर्थ एक प्रकार का नैतिक पतन हो सकता था—उन्होंने मुझे बचाया। विधान-परिषद् के सभापतित्व के सम्बन्ध में एक ऐसी स्थिति आ गई थी जो मुझे बहुत ही अपमानजनक मालूम पड़ती थी। मैंने सोचा कि उसके सभापतित्व से इस्तीफा दे दूँ। मैंने त्यागपत्र का प्रारूप भी तैयार किया। पर एक ऐसे विषय पर ऐसा कदम उठाने के पहले महात्माजी से पूछ लेना आवश्यक था। मैंने उनसे सब बातें कहीं। त्याग-पत्र का प्रारूप भी दिखलाया। उन्होंने उसकी और सब बातों को तो पसन्द किया, पर इस्तीफा देने की बात नापसंद की। मुझसे उन्होंने कहा—"दूसरा कोई अगर ऐसा करता तो मैं उसे नहीं रोकता, पर अपने व्यक्तित्व के अपमान की बात सामने लाकर तुम्हारा इस्तीफा देना ठीक नहीं है। सार्वजनिक काम में अपमान भी सहना चाहिए; पर उसे छोड़ना नही चाहिए।"

मैं तुरत समझ गया। मैंने देख लिया कि मैं अहंमन्यता में पड़कर गिर रहा था और उन्होंने मुझे बचा लिया। मैंने उस पत्र को नहीं भेजा। शायद उनलोगों को, जिनके कारण मैं क्षुब्ध था, इसका पता आजतक नहीं लगा होगा; लगना जरूरी भी नहीं है।

यहाँ पर मैंने इसका उल्लेख केवल इसी दृष्टि से किया है कि सार्वजनिक सेवक को सेवा-कार्य में अपने मान-अपमान का खयाल नही रखना चाहिए। उसके सामने तो सेवा ही लक्ष्य होनी चाहिए। एक दूसरे मित्र को इस बात का कुछ पता था। जब उन्होंने महात्माजी से इसका जिक्र किया तो महात्माजी ने यही उत्तर दिया कि 'जहर का प्याला पीनेवाला एक आदमी भी तो रहे जिसको मैं वह दे सकूँ।' मित्र ने भी तथ्य को समझ लिया, फिर कुछ नहीं कहा। यह घटना भी महात्माजी के अन्तिम दिनों में से एक दिन की है। अतः मेरे जीवन के लिए यह एक शक्तिदायी और स्फूर्तिदायी सम्बल रहेगा।

उपसंहार

जिसे हम जीवन और मृत्यु कहते है उसमें महात्मा गाधी कोई भेद नही मानते थे। आत्मा अमर है और शरीर बदल सकता है तथा मृत्यु से केवल शरीर ही छूटता है। इसलिए वह कहा करते थे कि मनुष्य को मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। गोली लगने के कुछ दिन पहले, प्रार्थना के समय, जिन लोगों ने गोला मारी उन्हीं में से कुछ ने, एक विस्फोटक पदार्थ का धड़ाका किया था। उसी दिन उनकी तैयारी थी कि महात्माजी की हत्या कर डाले। पर प्रार्थना मे महात्माजी के ध्यानावस्थित रहने के कारण जो गड़बड़ी हो सकती थी, नही हुई—उनकी उस दिन की तैयारी निष्फल गई। शायद महात्माजी को आभास मिल गया था कि उनकी हत्या पर कुछ लोग तुले हुए है। इसकी परवा उन्होंने नही की। जो मामूली प्रबंध हिफाजत का किया जा सकता था—अर्थात् प्रार्थना में आनेवाले लोगों की तलाशी करके देख लेना कि उनके पास कोई हथियार तो नहीं है—वह भी उन्होंने नही करने दिया। वह कहा करते थे कि ईश्वर को यदि मेरे शरीर से कुछ और काम लेना होगा तो वह उसकी रक्षा करेगा, जबतक उसको काम लेना है तबतक वही उसकी रक्षा करेगा। उन्होंने कभी अपनी हिफाजत के लिए कोई विशेष प्रबंध नहीं होने दिया। सभी जगह निर्भय होकर अपना काम करते ही रहे। प्रार्थना के लिए वह जा रहे थे कि हत्यारे ने भीड़ चीरकर, नमस्कार के बहाने उनके सामने आकर, गोली मार दी और 'हे राम' का उच्चारण करते हुए वह गिर गये। उनके लिए इससे और सुन्दर तथा भव्य मृत्यु नहीं हो सकती थी। एक तो ईश्वर में ध्यान लगाकर प्रार्थना के स्थान पर जा ही रहे थे, गोली लगने पर भी मुख से 'हे राम' का ही उच्चारण हुआ !

"जनम-जनम मुनि जतन कराहीं; अन्त 'राम' कहि आवत नाहीं !"

पर महात्माजी के मुंह में अन्तिम शब्द 'राम' का ही आया। इससे बढ़कर उनकी तपस्या का और क्या सुन्दर फल हो सकता था ? गोली भी मारी गई एक ऐसे कारण से, जो उनके जीवन का एक बड़ा ध्येय और व्रत था। उन्होंने सारी जिन्दगी हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए प्रयत्न किया था। जब समय आया तो मुसलमानों की रक्षा के लिए

उन्होंने अपनी जान की परवा न करके अपनी सारी शक्ति उस अहिंसा की प्रतिष्ठा में लगा दी, जो उनके जीवन का लक्ष्य था, बस वह आनन्दपूर्वक गोली के शिकार बन गये !

उनकी मृत्यु का समाचार पाकर सारा देश स्तब्ध और विह्वल हो गया। जो मुसलमान उनको अपना वैरी मानते थे, वे भी अब समझ गये कि उनसे बढ़कर उनका दूसरा कोई हितू नहीं था। शरीर से वह चले गये, पर अमर आत्मा अपना काम कर रही है। अब समय आ गया था जब सारा संसार उनकी वाणी को समझता और उनके सत्य-अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रहण करने के लिए उसे आमंत्रित किया जा सकता। पर शायद भगवान ने समझा कि यह निमंत्रण आत्मा ही आत्मा को दे। ऐसा ही हो भी रहा है। आज यद्यपि संसार के सभी देश—यहाँ तक कि महात्मा गांधी का भारत भी, उनके अनुयायियों के शासन में भी—हथियारों का सहारा ले रहे है, युद्ध की तैयारी में व्यस्त हैं; तो भी हृदयों का गहरा मंथन सभी जगह हो रहा है। सब लोगों का ध्यान हथियारों की निःसारता और अहिंसा की सार्थकता की ओर जा रहा है। आत्मा आत्मा को पुकार रही है। महात्मा गांधी मरकर भी सारे संसार को जिलाने के शुभ कार्य में संलग्न है।

भारतवासियों का एक बड़ा कर्तव्य है। वह यह है कि महात्माजी के अधूरे काम को वे पूरा करें। सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए समाज का गठन ही ऐसा होना चाहिए जिसमें हिंसक प्रवृत्तियों को कम-से-कम पनपने का स्थान और अहिंसक वृत्तियों को प्रोत्साहन मिले। ऐसा समाज तभी बन सकता है जब उसका प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को उन सिद्धान्तों पर ढालना अपना ध्येय मान ले और इस प्रयत्न में लग जाय। इसीलिए महात्माजी ने ग्यारह व्रतों का प्रतिपादन किया था, जिन्हें प्रार्थना के समय वह बराबर दोहराया करते थे। वे व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, आत्म-निर्भरता, सर्वधर्म-समानता, स्वदेशी, अस्पर्श-भावना। ये बहुत करके वे ही धर्म और नियम हैं जो हमारे शास्त्रों में बताये गये है। इनमे काल और स्थिति पर ध्यान रखकर कुछ बातें जोड़ दी गई है। इन व्रतों की व्याख्या महात्माजी ने स्वयं 'मंगल प्रभात' नामक पुस्तिका में की है। इनकी व्याख्या शाब्दिक और तार्किक नहीं, अनुभूति-जन्य है, उनके सारे जीवन के संग्राम का निचोड़ है, मानवमात्र के लिए मार्ग-दर्शन है। यदि व्यक्ति इन व्रतों के माननेवाले हों तो उनका समूह भी, जिसे समाज कहते है, इन्हीं सिद्धान्तों पर अवलम्बित रहेगा।

मनुष्य को बिना इन सिद्धान्तों के कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता। जिस हद तक हम अपने को और समाज को इनके अनुकूल बना सकते हैं, उसी हद तक हम सुखी हो सकते हैं, समाज सुखी हो सकता है। पर आज वैज्ञानिक साधनों के चमत्कारों ने हमें चकाचौंध में डाल दिया है। हम ऐसा मानने लगे हैं कि मनुष्य जैसे सर्वशक्तिमान है—उसे प्रकृति से केवल मुकाबला ही नही करना है, बल्कि प्रकृति पर विजय भी पाना है और वह पा सकता है। हम भूल जाते है कि जिसे हम प्रकृति पर विजय समझते हैं वह प्रकृति के नियमों को जान-मान कर उनके अनुसार चलना ही मात्र है, अथवा प्रकृति के अनुसार अपने को बनाना मात्र—उसपर विजय नहीं।

हमें दुःख इस बात का है कि जिन सिद्धांतों के आधार पर गांधीजी ने अपना सारा जीवन ढाला और भारतवर्ष को भी ढालने का प्रयत्न किया तथा सारे संसार को ढालने की अभिलाषा और कामना करते रहे, उन सिद्धांतों को या तो हम समझ नहीं पाये हैं या समझकर उनको अपनाने की शक्ति ही नहीं रखते हैं या जानबूझकर उन्हें छोड़ रहे हैं। आज के हम भारतवासी गांधीजी के सिद्धांतों पर, जो हमारे देश के ही अत्यंत प्राचीन सिद्धांत हैं और सार्वभौम सिद्धांत हैं, नहीं चल रहे हैं। हम भी औरों की नकल करने में लग गये हैं। संयम और नियंत्रण को, जो इन सिद्धांतों के मूल में है, हम छोड़ते जा रहे हैं और मृगतृष्णा में पड़कर निःसार वस्तुओं की ओर भागते जा रहे हैं! पर मेरा विश्वास है कि परिस्थिति मजबूर करके हमको फिर उस रास्ते पर लायेगी।

भारत स्वतंत्र हो गया। वह अपने को जैसा चाहे बना सकता है, बिगाड़ भी सकता है। हमारी आँखों के सामने दूसरे देश हैं—विशेष करके योरप और अमेरिका। हम मानते हैं कि वहाँ के लोग बहुत सुखी हैं; क्योंकि उनकी आमदनी हमारे देश के लोगों की आमदनी से बहुत अधिक है। उनके पास सुखमय जीवन के वाह्य साधन बहुत हैं। ऐसे साधनों के जुटाने की शक्ति वे प्रतिदिन बढ़ाते जा रहे हैं। हम उन चीजों को देखकर इस मोह में पड़ जाते हैं कि हम भी अपने देश को किस तरह इस योग्य बना दें कि यह भी उसके मुकाबले में आ जाय। यही हमारी कोशिश है। यह सच है कि 'भूखे भगति न होय भुआलू'। महात्माजी कहा करते थे कि जिसके पास खाने को रोटी भी नहीं है उसे बड़े-बड़े सिद्धांत नहीं बताये जा सकते हैं; भूखे के लिए ईश्वर रोटी के रूप में ही आ सकता है। अतः शारीरिक जीवन के लिए कुछ साधन आवश्यक हैं। पर उसकी एक मर्यादा है। जब हम उस मार्यादा को छोड़ देते हैं और आवश्यकता से अधिक साधनों की खोज में लग जाते हैं, तभी हम उद्देश्य को छोड़ साधन के गुलाम बन जाते हैं। इसलिए हमारे समाज का गठन ऐसा होना चाहिए जिसमें भोग तो रहे, पर हम उस भोग के गुलाम न बनें। भोग करते हुए भी हम भोग का त्याग ही करते रहें—जैसा ईशोपनिषद् के पहले ही मंत्र में कहा गया है कि त्याग में ही भोग समझें अथवा त्याग की भावना को लेकर ही भोग करे।

आज संसार का समाज-गठन इस भावना से दूर हटकर भोग को ही श्रेय मानकर बना है। हम भी उसी ओर खिचते जा रहे हैं। गांधीजी ने अपने व्रतों द्वारा इस सच्ची भावना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया था। पर हम अब इस चिन्ता में दिन-रात लगे हैं कि और देशों के लोगों-जैसा हमें भी सुखी जीवन के वाह्य साधनों पर अधिकार मिलना चाहिए। चाहे हम मजदूरी करते हुए अपनी व्यक्तिगत मजदूरी बढ़ाने का प्रयत्न करते हों चाहे भारत को अन्य देशों की बराबरी में लाने के प्रयत्न में हों, दोनों में सिद्धान्ततः एक ही भावना काम कर रही है, और वह है वाह्य साधनों पर भरोसा—उनके द्वारा ही सुख-प्राप्ति की आशा और उनके अभाव से ही दुख का अनुभव। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख-साधन के संग्रह में लगा हुआ है। ऐसा करने में वह इस बात की परवा नहीं रखता कि उसके प्रयत्न का फल दूसरों पर क्या होता है। एक व्यक्ति अथवा कोई समाज, कोई देश अथवा कोई राष्ट्र, अपने सुख के लिए दूसरों के सुख-दुख की परवा न

करके, चाहे जिस तरह से हो, अपना साधन जुटाता ही है—वह चाहे घूसखोरी से हो, चोरबाजारी से हो, या दूसरों को सताकर या दूसरों का शोषण करके हो, चाहे सीधे लूट और चोरी से हो। कही जबरदस्त आदमी कमजोर को दबा रहा है, तो कहीं जबरदस्त देश कमजोर देश पर अधिकार जमाने की ताक में है। हमें अपना रुख बदलना होगा और सुख के लिए वाह्य साधनों पर निर्भर न रहकर सुख को अपने अन्दर से ही ढूँढ़ निकालना होगा। इसका अर्थ—वाह्य पदार्थों का तिरस्कार नही, उनपर अधिकार; और वह अधिकार एक वाह्य पदार्थ पर दूसरे वाह्य पदार्थ के द्वारा नहीं, प्रत्युत अपने संयम और नियम द्वारा।

हम धार्मिक ग्रंथों मे और प्राचीन पुस्तकों में ऋषि, मुनि, फरिश्ता, देवता और अवतारों के गुणगान करते है। उनसे अपने जीवन के लिए बहुत-कुछ पाते और सीखते है। जो कोई उनके बताये संयमों और क्रियाओं को जितना अधिक अपने जीवन में उतार सकता है, उसका जीवन उतना ही उन्नत और उज्ज्वल होता है। उस तरह की विभूतियाँ संसार में विरल देखी जाती है। इसलिए उनको उन लिखी हुई और सुनी हुई बातों पर ही भरोसा करके अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करना पड़ता है। पर यदि किसी ऐसी विभूति से हमारा सम्पर्क हो जाय तो इससे बढ़कर दूसरा सौभाग्य मनुष्य के लिए नही हो सकता है। महात्मा गांधी ऐसी ही विभूतियों में से थे, जिनके दर्शन और सदेह सम्पर्क का सौभाग्य भारतवर्ष के करोड़ों आदमियों को प्राप्त हुआ था। पिछले तीस-बत्तीस वर्षों में उन्होंने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और कोहाट से लेकर कामक्षा तक कई बार भ्रमण किया; असंख्य लोगों को अपने दर्शनों का लाभ पहुँचाया। उनकी यात्राएँ उद्देश्य-पूर्ति के लिए ही हुआ करती थीं, केवल मन-बहलाव या देश देखने के लिए नही। वह उद्देश्य था इस पराजित पराधीन देश को जगाने का, यहाँ के मृतक शरीरों में प्राण फूंकने का, हताश हृदयों में नया उत्साह और नये हौसले जगाने का, लोगों के चरित्र को पुष्ट और दृढ़ बनाने का। उन्होंने देखा, यह काम तभी हो सकता है जब देश-वासियों की आँखें खुल जायेंगी, वे जाग्रत होकर निर्भीक हो जायँगे, अपने को पहचान लेंगे। अतः उन्होंने उनको जगाया, निर्भीक बनाया, अपनी शक्ति को पहचानना सिखाया।

वह दक्षिण अफ्रिका से लौटकर हिन्दुस्तान आये। वहाँ उन्होंने प्रवासी भारत-वासियों के दुखों और अपमानों को दूर करने के लिए सत्याग्रह के अपने अमोघ शस्त्र का आविष्कार किया था। इस देश की दुर्दशा, पराधीनता और अकर्मण्यता को दूर करने के लिए उन्होंने उसी शस्त्र का प्रयोग बहुत बड़े पैमाने पर लोगों को सिखाया। वह सत्याग्रह क्या है? सत्याग्रह का अर्थ है—सत्य के प्रति आग्रह रखना—अर्थात् सत्य का मन से, वचन से और कर्म से पालन करना। यदि कोई मनुष्य स्वयं उसका पालन करने के प्रयत्न में दूसरे को दबाकर, डराकर या बलपूर्वक उसके सत्य पालने में वाधक होता है, तो क्या वह सत्य का पालन कहा जा सकता है? कदापि नहीं। सत्य के पालन का अर्थ सत्य-आचरण तभी हो सकता है जब एक मनुष्य केवल अपने ही जीवन में सत्य को न पालकर दूसरे को भी उसके पालन में सहायता दे—अर्थात् उसके सत्य-पालन में वाधक न हो। यह

तभी हो सकता है जब मनुष्य सत्य-आचरण का स्वयं पालन करे और दूसरे भी इसका पालन करें। इसलिए सत्य के पालन में दूसरे पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जा सकता है। यदि हमको किसी बात से कष्ट होता है तो हमको मानना ही पड़ेगा कि दूसरों के साथ भी यदि वही बर्त्ताव किया जाय तो वे भी उसी कष्ट का अनुभव करेंगे। इसलिए कोई ऐसा काम, जिससे हमको मानसिक या शारीरिक कष्ट पहुँचता है, हम दूसरों के लिए भी न करें। यह मानना ही पड़ेगा। अहिंसा का मूलतत्त्व यही है। हम कोई ऐसा काम न करें जिससे दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचे। सत्य का पालन इस तरह बिना अहिंसा के असम्भव है। इसलिए महात्माजी ने सत्य और अहिंसा दोनों को अपने जीवन का सिद्धान्त बनाया था—केवल मुँह से ही नही, अपनी सारी जिन्दगी के हरएक काम से इसका पाठ भारतवासियों को और मनुष्य-मात्र को सिखाया। यदि सत्य-आचरण अहिंसा के बिना असम्भव है तो दोनों का सम्बन्ध अटूट हो जाता है। इसलिए गांधीजी ने तो दोनों को एक बताया और अहिंसा को सत्य में निहित पाया। ईश्वर सत्य है, इसको तो सभी मानते और कहते आये है। पर गांधीजी ने ईश्वर को जानने और पहचानने का केवल एक ही रास्ता बताया—सत्य का रास्ता। वह हमेशा कहा करते थे कि साधन और साध्य में अन्तर नही होता है। इसलिए उन्होंने केवल ईश्वर को सत्य ही नहीं बताया, बल्कि सत्य को ही ईश्वर कह दिया।

महापुरुष बड़े-बड़े सिद्धान्तों को बहुत सहज बनाकर जन-साधारण के लिए सुलभ बना देते है। महात्माजी ने इस एक चीज को लेकर हमारे सारे जीवन के स्रोत को बदल देने का प्रयत्न किया। सत्य और अहिंसा के पालन के लिए मनुष्य को सब प्रकार की स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि वह किसी प्रकार के दबाव और बन्धन म है तो वह इनका पालन नहीं कर सकता। वे बन्धन कई प्रकार के हो सकते है। कुछ तो ऐसे है जिनको मनुष्य खुद पैदा करता है। और, यदि वह चाहे तो अपने प्रयत्न द्वारा उनसे छुटकारा पा सकता है। कुछ लोग ऐसे होते है जो स्वयं इनका पालन न करके दूसरों को भी इनकी अवज्ञा के लिए वाध्य करते है। अथवा, परिस्थिति ही कहीं-कही ऐसी हो जाती है—चाहे वह मनुष्य के करने से हो अथवा किसी दूसरे प्रकार से—कि मनुष्य को स्वतंत्र नहीं रहने देती। इन सब बन्धनों से छुटकारा पाना मनुष्य के लिए आवश्यक है। जहाँ तक वह इनसे छुटकारा पाता है वहाँ तक वह सत्य-धर्म का पालन कर सकता है। जो मनुष्य अपनी जरूरतों को बेहद बढ़ाता जाता है वह अपने ऊपर बन्धनों की कड़ियाँ और मजबूत कसता जाता है। इसलिए, सच्ची स्वतंत्रता के लिए अपनी जरूरतों को कम करना चाहिए।

जितना झगड़ा संसार मे व्यक्तियों मे अथवा जनसमूह के बीच आज तक हुआ है और होता है वह इसीलिए होता है कि एक मनुष्य की जरूरते दूसरे मनुष्य की जरूरतों से टकराती है। दोनों के लिए वह चीज काफी मुहैया नहीं की जा सकती। इसलिए एक को दूसरे के साथ बलप्रयोग करना पड़ता है जिससे वह उस चीज को पा सके, चाहे दूसरा उससे महरूम क्यों न हो जाय। इस प्रकार सत्य के पालन के लिए अपरिग्रह आवश्यक हो जाता है। यदि मनुष्य समझ ले कि हमारी जरूरतें हमारे लिए उतनी ही

आवश्यक है जितनी दूसरों की दूसरों के लिए, तो वह अपने को भी स्वतंत्र बना सकता है और दूसरों को भी स्वतंत्र छोड़ सकता है। इस तरह जितने हमारे मौलिक धर्म समझे जाते हैं, सबका समावेश—विचार करके देखा जाय तो—इस सत्य के पालन में ही हो जाता है। क्या एक मनुष्य दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण करके स्वयं स्वतंत्र रह सकता है ? क्या वह जिसको स्वयं धर्म समझता है उसको दूसरों पर जबरदस्ती लादकर स्वयं धार्मिक रह सकता है ? क्या वह असत्य का जीवन बिताते हुए दूसरों में सत्याचरण ला सकता है ? अथवा, यदि सचमुच वह स्वयं सत्याचरण करता है तो क्या वह दूसरों को असत्य के आचरण पर कभी मजबूर कर सकता है ? नहीं। क्या वह बिना निर्भीकता के सत्याचरण का पालन कर सकता है ? नहीं। गांधीजी ने हमें इन्हीं बातों को, जिन्हें सभी धर्मों ने हमको सिखाया है, फिर से क्रियात्मक रूप में बताया है।

उन्होंने हमें व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता दिलाने का प्रयत्न किया। हमको सिखाया कि व्यक्तिगत जीवन में और सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जो कुछ व्यक्ति के लिए अहितकर है अथवा निषिद्ध है, वह समाज और राष्ट्र के लिए भी। यदि हम व्यक्तिगत जीवन में और व्यक्तिगत लाभ के लिए असत्य का व्यवहार बुरा मानते है, तो समाज और राष्ट्र का भी असत्य द्वारा भला नही हो सकता। इसलिए, जैसे हमारे व्यक्तिगत जीवन में 'एक कहना, दूसरा करना' बुरा माना जाता है वैसे ही वह राष्ट्र के लिए भी बुरा है। कूटनीति राष्ट्रीय जीवन मे उतना ही हानिकारक साबित होगी जितना व्यक्तिगत जीवन में होती है। इसीलिए उन्होंने कहा—सत्य और अहिंसा को छोड़कर यदि हमको स्वराज्य मिले भी तो वह हमारे लिए बेकार होगा।

इसलिए, स्वराज्य-प्राप्ति में भी सत्य और अहिंसा को ही आधार मानकर प्रयत्न करना लाभदायक है। यदि हमारा साधन ठीक नहीं है तो हमारा साध्य भी ठीक नहीं उतरेगा। यह हम अक्सर सुन लेते हैं कि हमारा उद्देश्य अच्छा है तो उसकी सिद्धि के लिए हम चाहे जो कुछ भी कर सकते हैं और यदि उसमें कुछ अनुचित भी करना पड़े तो ध्येय के विचार से वह भले वांछनीय नहीं है, मार्जनीय जरूर है। गांधीजी ने अनुचित व्यवहार को हमेशा गलत बतलाया था; क्योंकि उससे एक तो कभी सच्ची कार्य-सिद्धि हो नही सकती और दूसरे यदि कार्य-सिद्धि-जैसी कोई चीज दीखे भी तो वह उस ध्येय की सिद्धि नही हो सकती; क्योंकि साधन के कारण वह ध्येय ही बदल जाता है। इसलिए उन्होने सत्य और अहिंसा का पालन हर हालत में हर मौके के लिए आवश्यक और अनिवार्य बतलाया।

हम अपने को स्वतन्त्र नहीं बना सकते जबतक हम दूसरों को भी स्वतन्त्र रहने के लिए छोड़ न दें। इसलिए ऐसे देश में—जहाँ भिन्न-भिन्न धर्मवाले, भिन्न-भिन्न भाषा वाले, भिन्न-भिन्न जातिवाले बसते हैं—प्रत्येक का कर्तव्य हो जाता है कि दूसरों को भी वह अपना ही धर्म और विचार तथा अपनी ही जाति और भाषा स्वीकार करने पर वाध्य न करे; अर्थात् सभी एक दूसरे के साथ ऐसा बर्ताव करें जिसमें सभी अपनी इच्छा और

मर्जी के मुताबिक अपने धर्म, अपनी भाषा इत्यादि का पालन कर सकें। सांप्रदायिक झगड़े, व्यक्तिगत झगड़े के समान ही, दबाव डालने के कारण हुआ करते हैं। उन्होंने सब धर्म वालों से एक दूसरे के साथ समान बर्ताव का, यहाँ तक कि मनुष्य-मात्र के साथ समान बर्ताव का, प्रबल आग्रह किया। अन्त में उनको इसीके लिए शरीर भी त्यागना पड़ा।

उनकी पुण्यतिथि पर हम सब उनके बताये हुए इस सिद्धान्त का पालन करने के लिए अपने हृदय को टटोलें—अपने दिल से पूछें—हम दूसरे के प्रति प्रेमभाव रखते हैं अथवा द्वेष ? क्या हम जो कुछ कर रहे हैं वह संकुचित विचार से केवल अपने लिए कर रहे हैं अथवा कम-से-कम उससे दूसरों को भी नुकसान पहुँचा रहे हैं या नहीं ? क्या हमारा काम ऐसा है जिसको हम खुलेआम कर सकते है ? अथवा, उसमें कोई ऐसी बात भी है जिसको लोक-लज्जा के कारण अथवा भय के कारण हमारे लिए छिपाव करना जरूरी है ? क्या हमारे सामने देशहित है अथवा केवल व्यक्तिगत स्वार्थ ? क्या हम अपने जीवन को सुधार रहे है अथवा बिगाड़ रहे हैं ? गांधीजी की तराजू पर हम अपने को तौलवाने के लिए तैयार हैं या नहीं ? क्या दूसरे धर्मवालों को हम उनके धर्म पर चलने देने के लिए तैयार है ? अथवा परोक्ष या खुल्लमखुल्ला उनके साथ जोर-जबरदस्ती करके उनको अपनी इच्छा के अनुसार चलाना चाहते हैं ? क्या हम सचमुच सत्य और अहिंसा का पालन कर रहे हैं ?

आज हम अपने जीवन को तभी सार्थक बना सकते है जब हम अपने हृदय के हर कोने को टटोलकर देख लें कि उसमें कहीं गांधीजी की शिक्षा के विरुद्ध कोई छिपी हुई कुवृत्ति तो नही काम कर रही है।